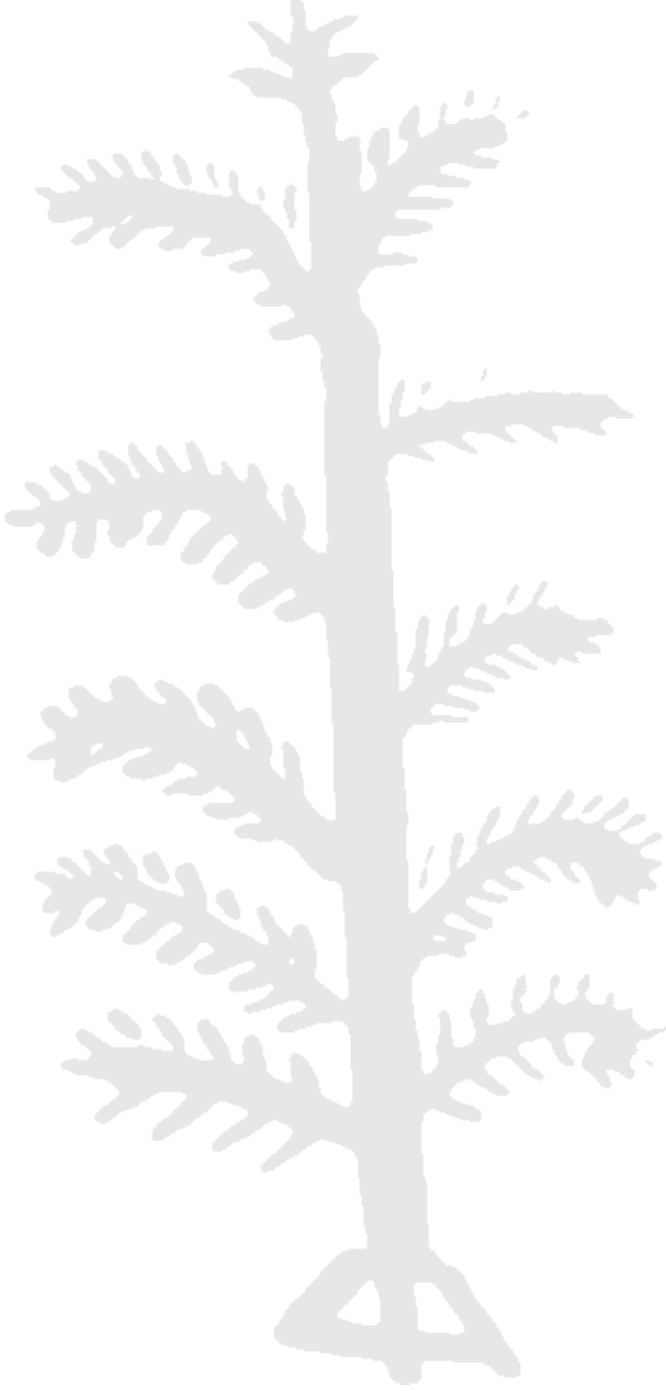


चौमासा

वर्ष-30 अंक-92
जुलाई-अक्टूबर, 2013

प्रधान सम्पादक
श्रीराम तिवारी

सम्पादक
अशोक मिश्र



आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल का प्रकाशन

ISSN 2249-5479

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित

सम्पर्क

आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी

मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

मध्यप्रदेश जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स

भोपाल-462002

फोन/ फैक्स : 0755-2661948, 2661640

E-mail : mplokkala@rediffmail.com,
mptribalmuseum@gmail.com

web. : www.mptribalmuseum.com



मूल्य

एक प्रति बीस रुपये

वार्षिक सदस्यता - पचास रुपये

आजीवन सदस्यता - पन्द्रह सौ रुपये

चौमासा का वार्षिक शुल्क अनुषंग पुस्तिका के साथ सौ रुपये

प्रचार/प्रसार

प्रवीण गावण्डे - (मो. 9827351093)

शब्दांकन

आदिवासी लोक कला एवं बोली विकास अकादमी

मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

मुद्रण

मध्यप्रदेश माध्यम, भोपाल

- चौमासा में प्रकाशित सामग्री लेखकों के अपने कार्य और विचार हैं। आवश्यक नहीं कि अकादमी उससे सहमत हो।
- पत्रिका और प्रकाशन से संबंधित समस्त विवादों का न्यायालयीन कार्यक्षेत्र भोपाल रहेगा।

निदेशक, आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्- भोपाल मुद्रक, प्रकाशक द्वारा मध्यप्रदेश माध्यम, अरेरा हिल्स - भोपाल से मुद्रित कराकर आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स- भोपाल से प्रकाशित।

सम्पादक-अशोक मिश्र



इस अंक में

- कोटिक भूप वारौ संतनि पर जिनके हाथ बिकानी/ आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी / 5
- लोक रमता राम / डॉ. पूरन सहगल / 12
- संत रामानंद की शिष्य परम्परा / अर्चना शुक्ला / 24
- रंग-संगीत के कुछ पहलू / अभिषेक त्रिपाठी / 27
- लोक गीतों के रचना विधान / डॉ. मालती शर्मा / 31
- कठपुतलियाँ और तोलाराम / डॉ. महेन्द्र भानावत / 47
- लोक साहित्य की सम्बेदना भूमि / डॉ. अमित शुक्ल / 50
- भारतीय संस्कृति में कुंभ और शंख / डॉ. महेशचन्द्र शांडिल्य / 52
- बुन्देली कवि ईसुरी / सुधा तैलंग / 58
- बुन्देली के बिलवारी गीत / डॉ. कुंजीलाल पटेल 'मनोहर' / 62
- बुन्देली के पर्याय : डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त / डॉ. बहादुर सिंह परमार / 72
- महाकाव्य आल्हा का सांस्कृतिक विश्लेषण / डॉ. (श्रीमती) गायत्री वाजपेयी / 79
- ब्रज की झाँझी / सर्वोत्तम त्रिवेदी 'लघु' / 86
- छत्तीसगढ़ के बाल गीत / डॉ. विनय कुमार पाठक / 91
- छत्तीसगढ़ी गीतों के नारी भाव / उर्मिला शुक्ल / 99
- सरगुजा की जनजातियाँ / डॉ. उषा वैरागकर आठले / 110
- मालवी काव्य में प्रकृति / डॉ. कमलकिशोर वर्मा / 115
- मालवा का लोक पर्व - संजा / प्रकाश कड़ोतिया / 118
- भीली मिथकथाएँ / डॉ. अशोक डी. पाटिल / 127
- निमाड़ी और भुआणी संत परम्परा / डॉ. अनिता हाड़ा / 134
- परम्परा में निहित विश्वास / डॉ. मोनिका सिंह / 142
- संकीर्तन : गाती-नाचती प्रार्थनाएँ / विनय उपाध्याय / 147



कोटिक भूप वारौ संतनि पर जिनके हाथ बिकानी

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

मीरा की भक्ति माधुर्य भाव की भक्ति है, कारण वे कहती हैं-

मीरा गिरिधर प्रेम बावरी, साँवलिया वर पाया।

ऐसी अनेक रचनाएँ उक्त भाव की सारती भरती हैं। संत कबीर प्रभृति भी कहते हैं-

दुलहनी गावहुं मंगलाचार।

हम घर आए हो राजा राम भरतार।

तन रत करि मैं मन रत करिहूँ पंचतत बराती।

× × × ×

कहैं कबीर हम व्याहि चले हैं पुरिस एक अविनासी।

कबीर आदि संतों में अन्यविध भाव भी उललब्ध हैं। कबीर कहते हैं-

कबीर कूता राम का मुतिया मेरो नावें।

गले राम कौ जेवड़ी, जित खींचे तित जावें।

इसमें दास्य भाव की झलक है। भक्ति मार्ग में राम की प्रतिष्ठा होने पर ही भक्ति अंकुरित होती है और आराध्य की महत्ता तथा सापेक्ष आत्मगत लघुता का एक बार बोध होने पर जो दास्य का रंग उभरता है- वह सदावन्त रहता है- सरल, वात्सल्य एवं माधुर्य- चाहे जो भाववाद में प्रतिष्ठा रूप में उभरे- वह सदा स्थिर रहता है। दास्य की चेतना चरण से और माधुर्य की रूप से जुड़ी रहती है। संत मीरा बाई में भी चरणानुराग के उद्गार स्पष्ट होते हैं-

1. मन थें परसहरि रे चरण
2. भज मन चरण कँवल अविणासी।

साथ ही- म्हां मोहन रे रूप लुभासी।

नंद-यशोदा की तरह वात्सल्य अथवा गोप-ग्वालों की तरह सख्य का भाव इन दोनों में कहीं नहीं मिलता।

नाम साधना दोनों में समान रूप से मिलती है। कबीर कहते हैं-

रामनाम के पटेतहै देवे को कछु नाहिं।
क्या लै गुरु संतोसिये ठौरा रटै मन माहिं।

मीरा भी कहती हैं-

म्हारो मन सांवरो नाम रटै री
साँवरो नाम जपै जग प्राणी कोट्याँ पाप कटै री

आचार्यों ने बताया है कि नाम साधना के रूप हैं- नाद पर्यवसायी और लीलारस पर्यवसायी। संतजनों की नाम साधना नाद पर्यवसायी है और भक्तजनों का लीलारस पर्यवसायी। पर्यवसान चाहे जिस वर्ग का जहाँ भी हो- पर मार्ग नाम साधना का ही है, जो आचार्य या सद्गुरु से प्राप्त होता है। सद्गुरु से प्राप्त नाम दीप्त होता है- अन्यस्रोत से प्राप्त नाम निष्प्राण होता है। भक्त तुलसीदास भी कहते हैं-

कृत जुग त्रेता द्वारहिं, पूजा मरब अरू जोग।
जो गति होहिं सो कलि हीं हरि नाम ते पावहिं लोग।।

तथा - ब्रह्म राम से नाम बड़ - इत्यादि।

साथ ही यह कि -

गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई।
जो विरंचि संकर सम होई।।

क्या मीरा इस नियम का अपवाद हैं? अध्यात्म के क्षेत्र में जहाँ तक मुझे ज्ञात हैं- बौद्ध प्रस्थान में एक अवान्तर प्रस्थान है- प्रत्येक बुद्धमान। बौद्ध मुमुक्षुओं में तीन आदर्श प्रधान रूप से प्रचलित है- श्रावक, प्रत्येक बुद्ध और सम्यक् संबुद्ध। प्रत्येक बुद्ध का साधन जीवन वैयक्तिक स्वार्थ से ही प्रेरित है, फिर भी इनका आधार अधिक शुद्ध है। आधार शुद्धि के कारण इन्हें स्वदुःख की निवृत्ति के लिए, उपाय या ज्ञान के लिए दूसरे से उपदेश प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती। वे लोग पूर्व श्रुतादि अभिसंस्कारों के द्वारा स्वयम् ही बोधिलाभ करते थे। बोधिलाभ का फल बुद्धत्व प्राप्ति है। पातञ्जल योग शास्त्र जिसे अनौपदेशिक या प्रातिभ ज्ञान कहता है, उससे प्रत्येक बुद्धों का ज्ञान प्रायः समान है। किसी अंश में यह विवेकोत्थ प्रतिभा ज्ञान का ही एक रूप है। यह लौकिक शब्द ज्ञान नहीं है। प्रत्येक बुद्ध अपने बुद्धत्व के लिए प्रार्थी होते हैं, उसे प्राप्त भी करते हैं, किन्तु सर्व के बुद्धत्व के लिए उसकी प्रार्थना नहीं है। मीरा का भक्ति प्रस्थान कम से कम ऐसा तो नहीं है और जब ऐसा नहीं है, तो उन्हें उपदेश की अपेक्षा होगी ही। यह उपदेश कौन है?

कहा जा सकता है कि गुरु तीन प्रकार के हैं- दिव्यौध, सिद्धौध और मानवौध। दिव्य सत्ताएँ भी उपदेश दे जाती हैं। शुकदेव ने चरणदास को दीक्षा दी थी और मीरा को भी सपने में दीनानाथ ने परिणीता बनाया था- परिणीता बनाना, दीनानाथ उपदेशा द्वारा उपदेश देकर आत्मीय बनाना था- स्वामी हरिदास को जैसे ललिता का अवतार माना जाता है, उसी प्रकार मीरा स्वयम् को राधिका का अवतार कहती हैं, इसलिए भी उन्हें औपदेशिक ज्ञान अन्यो की तरह अपेक्षित नहीं है। परन्तु इन साक्ष्यों के आधार पर यदि यह मान लिया जाय कि राधिकावतार मीरा को दिव्यौध द्वारा ही दीक्षा मिल गई थी- तब उन्हें साधु संग बैठ-बैठ कर लोकलाज खोने की आवश्यकता क्या पड़ गई? साथ ही दूसरा प्रश्न यह कि तब -

‘कोटिक भूप वारौ संतनि पर जिनके हाथ बिकानी’

मीरा पद माला, पृ. 108

इस ‘संतों हाथ बिकानी’ की सार्थकता क्या होगी? यह भी अन्वेषण का विषय है कि-

गोविंदा सँ प्रीतकरत तब न कोई हटकी
अब तो बात फैल गई, जैसे वरध बटकी।

मीरा पद माला, पृ. 105

कोई घटना समाजानुमोदित होती है और कोई समाजानुमोदित। जो घटना समाज से अनुमोदित नहीं होती, वह गोपनीय होती है और उसके फैलने का भय होता है- पर जो समाज द्वारा पहले से ही मान्यता प्राप्त है- वह तो पहले से ही समाज स्वीकृत है- उसमें फैली ही है- उससे भय क्या? क्या वह गोविन्दा का परिणय असामाजिक, समाज गर्हित वस्तु है? एक बात और ध्यान देने की है। ऊपर कहा गया है-

गोविन्दा सँ प्रीत करत तब न कोई हटकी

‘तब’ शब्द काल विशेष का परामर्शक है- ऐसे काल विशेष का जिसमें परिणीता और परिणेतता का सम्बन्ध सबके समक्ष काल विशेष में हुआ था। उसी समय इस सम्बन्ध को, यदि समाज की दृष्टि से अन्यथा या अनुचित था। इससे स्पष्ट है कि यह सम्बन्ध सबके समक्ष किसी उपदेश से हुआ था। ये सब संदर्भ प्रश्न पैदा करते हैं कि उनका सम्बन्ध समाज की दृष्टि से उचित नहीं था- पर गोविन्द से सम्बन्ध समाज में कभी अनुचित नहीं माना गया- फिर रहस्य क्या है? इस सम्बन्ध में भला- बुरा कहने की कोई बात ही नहीं है, पर मीरा कहती हैं-

‘भलो कहै कोई कहो बुरो री
सब ल्यां सीस चढ़ाय’- इतनी चिन्ता क्यों?

पूरी पदमाला में वियोग की व्यंजना 70-80 प्रतिशत है। कहीं-कहीं मिलन या मिलन की सम्भावना का उल्लास भी व्यक्त है, जैसे-

साजण म्हारे घर आया हो
जुगां जुगां री वाट जोवती विरहण पिव पाया हो।

वही. पृ. 279

है कोई सामाजिक दृष्टि से अनुचित जोगी आलंबन, जिससे सम्बन्ध तोड़ने के लिए दबाव दिया जा रहा है- तभी तो मीरा कहती हैं-

नातो सांवरा रो म्हासूं ना तोड़यो जाय

वही. पृ. 76

वे यह भी कहती हैं -

साधां संगता हरि सुख पास्यूं
जग सँ दूर रह्या

वहीं. पृ. 59

पता नहीं, समाज क्यों कहता है -

मीरा गिरिधर हाथ विकानी
लोग कहें बिगड़ी।

वही. पृ. 17

किसी योगी को आलंबन बनाने में सबसे बड़ी बाधा है- बार-बार श्याम, गिरिधारी, ब्रजवारी का उल्लेख, जिसे परम्परा मानती है कि आलंबन ब्रजवारो साँवरिया है- न कि कोई सामाजिक दृष्टि से अनुचित जोगी। सारी वाणी साँवरो कृष्ण के रंग से रंगी है।

ये सब बातें सब कुछ तय होने के बाद कुछ और सोचने को बाध्य करती हैं। इस संदर्भ में चरणदासी सम्प्रदाय की सहजोबाई स्मृति में उभर आती हैं। उनमें भी नाम साधना का मार्ग बताया है। उन्होंने कहा है-

ममा रहा दो अंक कूँ राखो हिरदे माहिं।
धर्मराय जाँचै नहीं लेखा माँगै नाहिं।।
लेखा माँगै नाहिं जाय नहिं जमपुर बंधा।
ऐसे निर्मल नाम को जो विसरैं सो अंधा।

एक तरफ वे कहती हैं-

मुकट लटक अटकी मन माहीं
नृत तन नटवर मदन मनोहर,
कुंडल झलक अलक विथुदाई।
नाक बुलाक हलत मुक्ताहल, होठ मटक गति भौंह चलाई।
टुमुक टुमक पग धरति धरनि पर, बांह उठाइ करत चतुराई।
झुनुक झुनुक नूपुर झनकारत, तथतिइ थैइ रीझ रिझाई।
चरनदास सहजो हिय अंतर, भवन करौ जित रहै सदाई।

इस पद में मीरा बोल रही हैं। और एक दूसरा पद लें-

बाबा काया नगर वसावों
ज्ञान दृष्टि सूँ घट में देखों, सुरति निरति लौ लावों

× × × ×

भया हरि रस पी मतवारा
आठ पहर झूमत ही वीतै, डार दिया सब भारा
इड़ा पिंगला ऊपर पहुँचे, सुखमन पाट उघारा।
पीवन लगे सुधारस जवही, दुर्जन पड़ी विडारा।
गंगजमुन विच आसन भरयों, चमक-चमक चमकारा
भँवर गुफा में दृढ़ हवै बैटे, देखौ अधिक उजारा।

इनमें कबीर आदि संत बोल रहे हैं - इस प्रकृति के अनेक छंद हैं-

आसन संजम साधकरि, साधै प्रान अयान।
सहजो मुद्रा जो सधै, तौ जोगी परवान।।
तीनों बंध लगाय के, अनहद सुनै टकोर।
सहजो सुन्न समाधि में, नहीं साँझ नहि भोर।।

जहाँ तक प्रेम, संयोग और विरह के साथ भक्ति और ध्यान की बात है- सहजोबाई स्पष्ट कहती हैं-

सुरत नहीं व्योहार में, जगत रीत सूँ पीठ।
सनमुख हैं गुरु भक्ति में, सहजो हरि के ईठ।
चरनदास सतगुरु दियौ, प्रेम पियाला छान।
सहजो मतवारो भये, लुरिया तत गलतान।
प्रेम लटक दुर्लभ महा, पावै गुरु के ध्यान।
अनया सुमिरन कहत हूँ, उपजे केवल ज्ञान।।

संयोग और वियोग की तरंगों और लहरों इनकी रचनाओं में विद्यमान है। एक तरफ वे कहती हैं-

में तो खेलूँ प्रभु के संग, होरी रंग भरी

और दूसरी ओर- देखें-

झुरि झुरि के पिंजर भए, रोय गँवाए नैन।
मरे गए सो ना मिलै, सहजो सुनै न वैन।।

वे गुरु भक्ति में इतनी तन्मय हैं कि कहती हैं-

राम तजूँ पै गुरू न बिसारूँ
गुरु के सम हरि न निहारूँ,

कारण, हरि ने चौरासी में घुमाया- पर गुरु ने उससे मुक्त कराया- इसलिए 'गुरु न तजूँ हरि कूँ तजि डारूँ। वे 'दर्शन' के स्तर पर मानती हैं कि निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है- फलतः अद्वयवादी हैं। गुरु के रूप में वहाँ अवतीर्ण होता है।

इस प्रकार निर्गुनिँ तो गुरु को हरि की तुलना में बड़ा मानते ही हैं, सगुनिँ भी इससे सहमत हैं। सूर ने तो कहा ही कि हरि का लीलागान गुरु का ही लीला गान है। दाता तो गुरु है- हरि तो दान में मिले हैं। स्पष्ट है कि दान और दाता में कौन बड़ा। इस सब मंथन से स्पष्ट है कि मीरा का भी पथ प्रदर्शक कोई जोगी गुरु था- वे जिस किसी रूप में उसी दाता या उनके दान के गान में रमती रहती हैं। सहजो बाई भी साखी भरती हैं कि सद्गुरु ने आँख खोल दी है- सभी प्रकार के भेद समाप्त हैं। स्व रस की वासना को तृप्त करने के लिए तादात्म्य बोध के बाद भी कल्पित द्वैत की भूमि पर प्रेम लीला चलती रहती है- उपासक भँवरगुहा से गुरुराज्य में पहुँच जाता है। मीरा की रचनाओं में भी भेद देखना निरर्थक है। लोकलाज तोड़ती भी हैं और लोकलाज में हरि का आवरण भी डाल देती हैं- वे भेद कहीं नहीं देखती। इस रास्ते सोचने पर सभी विरोधाभास समाप्त हो जाते हैं। सद्गुरु की शरण रहे बिना अध्याम राज्य में यात्रा असम्भव है। मीरा भी इसी रास्ते गई होंगी।

संतमत में भक्ति

वर्ष 35 अंक 1 के 'संकल्प' में प्रो. महावीर सरन जैन का 'मध्ययुगीन संतों का निर्गुण भक्ति काव्य: कुछ प्रश्न' शीर्षक लेख पढ़ा। म.म. पं. गोपीनाथ कविराज के निर्देश पर मेरा शोध विषय था- 'आगमिक आलोक में निर्गुण साहित्य का पुनराख्यान' जो अब 'तंत्र और संत' नाम से प्रयाग के 'साहित्य भवन' से प्रकाशित हो चुका है। डॉ. रामनिरंजन पाण्डेय और पं. परशुराम चतुर्वेदी परीक्षक थे। वेद की अपेक्षा आगमों की पक्षधरता डॉ. पाण्डेय को थोड़ी अखरी भी। प्रो. जैन के सारे प्रश्नों का सविस्तार समाधान उस पुस्तक में विद्यमान है। उनके प्रश्न बिलकुल संगत हैं।

मोटे तौर पर संत कबीर निर्गुणमत के व्यवस्थित रूप से प्रवर्तक माने जाते हैं और उनमें संतमत की सभी प्रतिनिधि मान्यताएँ मिल जाती हैं। डॉ. पी.द. बड़वाल ने संतों में अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत की दार्शनिक धाराएँ देखी हैं- मैं उनसे असहमत हूँ। संत हो या भक्त सभी की साधना नाम साधना है, परन्तु सगुणियों की लीलारस पर्यवसायी है और निर्गुणियों की नाद पर्यवसायी।

साधो सबद साधना कीजै।

जेहि सबद से सब उपजे हैं ताहि गहि लीजै।।

संत 'सबद' के साक्षात्कार को सिद्धि मानते हैं और सद्गुरु को 'शरीरी सबद' मानते हैं और कहते हैं- 'संतों, भक्ति सतोगुरु आनी'। जिस प्रकार अन्यत्र आग तक जाने के लिए व्यक्त आग का अवलंब अनिवार्य है, उसी प्रकार अशरीरी सबद तक पहुँचने के लिए 'शरीरी सबद- सद्गुरु का अवलंबन करना अनिवार्य है। चाहे उपासक सगुण हों या निर्गुण-उभयत्र 'दाता' के रूप में प्रतिष्ठा उन्हीं की है- सिद्धि 'दान' के रूप में मिलती है। अतः उभयत्र दीक्षा दान सद्गुरु ही करता है- राम और कृष्ण ने शिष्य नहीं बनाया, अपितु उन लोगों ने भी 'गुरु' की ही आराधना की। कहा जाता है-

राम कृष्ण से को बड़ा उनहूँ तो गुरु कीन्ह।

तीन लोक के वे धनी गुरु आज्ञा आधीन।।

कबीर आदि संत वैष्णव हैं- ये भक्ति मार्गी हैं और भक्ति ही पंचम पुरुषार्थ के रूप में उनका साध्य और अंगी है। इनकी दृष्टि में परात्मसत्ता निर्विशेष या निर्गुण नहीं है- सविशेष है। शक्ति और शक्तिमान् का समरस रूप है। आगमों में परात्पर सत्ता का यही रूप निरूपित है। तुलसी परात्पर सत्ता को सियाराम मय मानते हैं। सीता यदि प्रमा हैं तो राम 'ऋतु' एक शक्ति है और दूसरा शक्तिमान्। इस वैष्णवी धारा में शक्ति और शक्तिमान का अभेद माना जाता है।

प्रमा जाइ किमि भानु विहाई - मानस

कबीर भी वैष्णव हैं - ज्ञानमार्गी भाष्यकार शंकर से उन्हें क्या लेना-देना? वैष्णव आचार्यों की द्वयात्मकता तक अद्वैत स्वरूप है। प्रत्येक वैष्णव आचार्य परात्पर सत्ता को शक्ति समवेत मानता है। उसमें ज्ञान और क्रिया का सामरस्य है। कबीर में वही

शक्ति और शक्तिमान 'सुरत और सबद' नाम से कहा गया है। उनकी साधना पद्धति का नाम ही है- 'सुरत शब्द योग'। संतजन की साधना विहंगम योग के नाम से भी जानी जाती है। इनका आरम्भ नेत्रों में स्थित अष्टदल कमल को भेदकर सुरत निरवलंब माया राज्य को पार कर ब्रह्माण्ड में यात्रा करती है। तदन्तर सुन्न, महासुन्न को पार करती वंकनाल से अमृतरस पान करती सत्यराज्य के द्वार भँवरगुहा पहुँचती है- इसी अनाहतनाद को पकड़कर सत्यराज्य में प्रवेश करती है।

गुणातीत और रागात्मक सम्बन्ध

'रहस्यवादः अध्यात्म और विज्ञान, आधुनिक दृष्टि'- शीर्षक लेख में प्रो. लोढ़ा ने अपनी धारणा व्यक्त करते हुए कुछ सूत्रात्मक बातें कही हैं- जिनपर भाष्य की आवश्यकता है। उन्होंने कहा है-

- निर्गुण भक्ति भी सार्थक और सटीक नहीं है।
- अनेक आधुनिक विचारकों और विद्वानों ने सगुण भक्ति में भी रहस्यवाद पाया है।
- ज्ञान और भक्ति- दोनों में रहस्यात्मक साधक संत मिलते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति की दो धाराएँ निरूपित की हैं- निर्गुण और सगुण और साथ ही यह कि जहाँ तक भारतीय परम्परा का सम्बंध है- इन दोनों धाराओं में स्पष्टवादिता है -रहस्यवादिता नहीं। रहस्यवादिता विदेशी तत्त्व है। उनकी दृष्टि में 'ज्ञान' ही क्या जहाँ कुछ रहस्य रह जाए। उनकी दृष्टि में अद्वैततत्त्व या अद्वैतवाद ज्ञान के ही क्षेत्र से निकला और उसी में बना रहा। उनकी दृष्टि में भक्ति तो 'राजउगर' सी है, जहाँ 'नेकु सयानय बाँक नहीं।' प्रो. लोढ़ा इन मान्यताओं से सहमत नहीं है। उनका पक्ष है कि 'निर्गुण भक्ति सार्थक और सटीक नहीं है।' मुझे भी उनका पक्ष संगत लगता है। शुक्ल जी भक्ति को कई तरह से समझाते हैं- पर एक मनोविकार के रूप में वे उसे श्रद्धा और प्रेम को समन्वित रूप ही मानते हैं, जो अन्ततः अंतःकरण की एक सात्विक वृत्ति है। बुद्धिवादी होने के कारण वे उस साधन भक्ति (वृत्ति विशेष) की ही बात करते हैं जो 'की' जाती

है, उसकी नहीं जो 'होती' (भाव) है- यानी स्वतः सिद्ध है और प्रगाढ़ होकर 'प्रेम' नाम धारण करती है।

भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते

स्वरूप बोध के अन्तर स्वतः सिद्ध भावात्मिका भक्ति निरावरण होकर अनुभूति बन जाती है और सान्द्र या निविड़ होने पर 'प्रेम' संज्ञा धारण करती है। तुलसी साहित्य में यही भाव भगति और प्रेम भगति विद्यमान है। द्रवशील अन्तःकरण वाले भक्त साध्य भक्ति को चिदाह्लादमयी की 'शक्ति' ही मानते हैं। साधना के धरातल पर भक्ति अन्तःकरण की एक वृत्ति विशेष है- जो निर्विषय नहीं होती है। अन्तःकरण का विषयाकार परिणाम ही तो वृत्ति है और विषय पाँच ही हैं- रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श। अन्तःकरण की साधनात्मिका वृत्ति निर्विषय हो ही नहीं सकती। उसका आलम्बन विषयातीत निर्गुण हो ही नहीं सकता। इसलिए प्रो. लोढ़ा की यह मान्यता ठीक है कि 'निर्गुण भक्ति सार्थक और सटीक नहीं है।' मंद ज्ञानमार्गियों में लिए भक्तार्थ से निष्कार्ष गुण का आरोप करना पड़ता है। ज्ञानमार्गी विद्यारण्य स्वामी ने पंचदशी में कहा है-

ये मन्दास्तेऽनुकम्पान्ते सविशेष निरूपणैः

यही चिन्ता और परेशानी आधुनिक रहस्यवादी महादेवी के समक्ष भी प्रस्तुत हुई है। आचार्य शुक्ल एकमात्र छायावादी कवियित्री महादेवी को ही आद्यन्त रहस्यवादी मानते हैं। महादेवी अपने रहस्यवाद नामक लेख में कहती हैं- 'प्राचीनकाल में पराया ब्रह्मविद्या में इसका (रहस्यवाद का) अंकुर मिलता है, परन्तु इसके रागात्मक रूप के लिए उसमें स्थान कहाँ? सूफीमत के रहस्यवाद में अवश्य ही प्रेमजनित आत्मानुभूति और चिरन्तन प्रियतम का विरह समाविष्ट है' (महादेवी साहित्य, खंड 1 पृ. 238)। शुक्ल जी की तरह महादेवी को भी निर्गुण परक राग की साधना सूफियों में ही दिखाई पड़ती है। जयशंकर प्रसाद उन सूफियों का मूल भारतीय रहस्यवाद में ही बताते हैं। पारम्परिक इस्लाम में अद्वैत भावना कुप्र है। प्रसाद जी इसकी उत्पत्ति के लिए आगमों की ओर मुड़ते हैं और ज्ञानोत्तर कल्पित द्वैत की भूमि पर अद्वैती (अद्वैतादपि सुन्दरम्) भक्ति की बात करते हैं। भक्ति द्वैत की भूमि पर ही सम्भव है। अद्वैती एतदर्थ द्वैत की भूमि कल्पित कर गुणमय आलम्बन के प्रति संयोग-वियोग की बात करते हैं।

द्वैतं मोहाय, बोधत् प्राक् जति बोधे मनीसया।

आत्रर्थ कत्चित्तं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

महादेवी मानती हैं कि आधुनिक रहस्यवादी धर्म के ब्रह्म की अपेक्षा दर्शन के ब्रह्म के ऋणी हैं। उपनिषदों का ब्रह्म ही उनका ध्येय है। इसीलिए महादेवी भी मानती हैं- 'इसी से इस (प्रकृतिगत) अनेकरूपता के कारण पर एक मुधरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर निवेदन कर देना- (छायावादी) काव्य का दूसरा सोपान बना-जिसके रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया' (वही, पृ. 236)। अद्वैती भक्ति का स्वर निगम की अपेक्षा आगमों में मुखर हुआ। इस प्रकार स्पष्ट है कि निर्गुण पर गुण का आरोप किए बिना रागात्मक सम्बंध बनाया ही नहीं जा सकता। फलतः प्रो. लोढ़ा द्वारा यह निष्कर्ष ठीक है कि निर्गुण भक्ति संज्ञा सार्थक या ठीक नहीं है। निर्गुण चिन्तन का विषय हो सकता है, पर राग का आलम्बन नहीं बन सकता। पाचदशोकार अवश्य कहता है-

निर्गुण ब्रह्मतत्त्वस्य नह्यु पास्तेर संभवः।

अर्थात् निर्गुण ब्रह्मतत्त्व की उपासना असम्भव नहीं है- पर उसका अर्थ चिन्तात्मक (अहंब्रह्मास्मि- इत्याकारक अथवा भावाड.मनोगोचरात्मक इत्याकारक) उपासना है न कि रागात्मक- जैसाकि आचार्य हजारी प्रसाद जी ने कबीर में समझा है।

प्रो. लोढ़ा आचार्य शुक्ल के द्वारा प्रतिष्ठापित निर्गुण भक्ति के सम्बंध में ही नहीं, उनकी इससे जुड़ी और भी मान्यताओं से असहमति व्यक्त करते हैं। उनका यह कहना संगत है कि भारतीय परम्परा में न केवल ज्ञान के क्षेत्र में बल्कि भक्ति के क्षेत्र में भी रहस्यवादिता है। ज्ञान के क्षेत्र में उपनिषद साफ कहते हैं-

यस्यामनं मतं तस्य मतंयस्य न वेद सः।

जो यह कहता है कि वे मेरे मनन का विषय है- वह भ्रान्त है। कारण, वह परात्पर गुणातीत सत्ता किसी का विषय है ही नहीं। गोस्वामी जी भी कहते हैं- 'जिन जाना तिन जाना नाहीं'। जो बुद्धि में न आए, वह रहस्य ही तो है और वह सत्ता 'बुद्धेस्तु पदतः' है। इसलिए ज्ञान के क्षेत्र में तो रहस्यवादिता है ही, भक्ति के क्षेत्र में भी इसलिए रहस्यवादिता है कि स्वयम् पंचम पुरुषार्थ

स्वरूपा साध्य भक्ति चिदाह्लामयी शक्ति है, जो शक्तिमान से उसी तरह अभिन्न है- जैसे सूर्य से उसकी प्रभा। अतः वह भी बुद्धि से परे होने के कारण रहस्यमय ही है। भक्त अपने भाव के अनुरूप उसका अनुभव करता है और कल्पित द्वैत की भूमि पर आस्वाद ग्रहण करता है।

भक्ति साधना के धरातल पर सगुण की होती है- निर्गुण की नहीं। शक्ति या वैष्णव भक्त कबीर भी हैं और सूर तथा तुलसी भी दोनों वर्ग नामसाधना का मार्ग अपनाते हैं- पर कबीर

की नाम साधना 'नाद पर्यवसायी' है- वे अपने उपास्य को 'सबद' कहते हैं और साधना के धरातल पर शरीरी सबद रूप भी सद्गुरु की उपासना करते हैं। पर व्यक्त ज्योति अव्यक्त ज्योति के साक्षात्कार में माध्यम बन जाती है। तुलसी -सूर की साधना लीला रस पर्यवसायी है- फलतः वे दोनों चरितगान या लीलागान करते रहते हैं। इस प्रकार भक्ति में धाराएँ तो दो हैं, परन्तु साधन के स्तर पर दोनों की रागात्मिकावृत्ति का आलम्बन सगुण ही है। इसलिए प्रो. लोढ़ा का यह निष्कर्ष भी संगत है कि ज्ञान और भक्ति उभयुक्त रहस्यात्मक साधक संत मिलते हैं।

लोक रमता राम

डॉ. पूरन सहगल

मान्यता यह है कि सागर सबसे विशाल और गहन तथा विस्तीर्ण होता है। सागर से भी गहन, विशाल और विस्तीर्ण लोक होता है। सागर तो लोक का एक भाग मात्र है। इस विशाल सागर में वेद, पुराण और महाकाव्य समाहित हैं। इतिहास की भी सीमा होती है। लोक असीम और अनंत है। जब इतिहास मौन हो जाता है, तब लोक मुखर होकर उसे वाक्शक्ति प्रदान करता है। कई बार लोक का प्रवक्ता, लोक साहित्य इतिहास की अंगुली थामकर उसे निर्दिष्ट मार्ग पर चलाने का महत्वपूर्ण कार्य करता है, तो कभी इतिहास भी लोक साहित्य का मार्ग प्रशस्त करता हुआ दिखता है। हमारा लोक साहित्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं है। इसमें संस्कृति के बीज मंत्र निहित हैं। यह संस्कृति का प्रवक्ता, पोषक और संरक्षक है। इसलिए इसे सहेजना, समझना और संकलित करना आवश्यक है। अर्थवादी व्यस्ततम भागम भाग में हमने अपनी इस धरोहर की जितनी उपेक्षा की है, उसके कारण हमारी सांस्कृतिक धरोहर का बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया है। बिसर गया है। पारंपरिक लोक गायक एवं लोक कलाकार अपनी पीढ़ियों की परंपरा त्यागकर अन्य व्यवसायों में लग गये हैं। उन्हें जो राजकीय और सामाजिक संरक्षण और प्रोत्साहन दिये गए हैं, वे नगण्य हैं। इस तंगहाली और उपेक्षावृत्ति के फलस्वरूप हमारा लोक साहित्य जितना बचा है, वह भी नष्ट होने के कगार पर पहुँच गया। लोक साहित्य को तलाशना अब रेत में से बाजरा बिनने जैसा दुष्कर कार्य बन गया है। बावजूद इसके हम निराश होकर कैसे और क्यों बैठे रह जाएँ? हमें सक्रिय होकर गाँवों, ढाणियों, कुटीरों, डेरों, पड़ावों पर जाकर उसे तलाशना होगा। श्रेष्ठता का अहंकार त्याग कर लोकमय हो जाना होगा। आज भी हमारी साठोत्तरी पीढ़ी के पास हम अपनी इस धरोहर को तलाश सकते हैं। विशेषकर आदिवासी समुदायों में उनकी संस्कृति आज भी जीवित है। उनका बखान आज भी

मुखर है। यद्यपि आदिवासी संस्कृति अवतार परंपरा पर आस्था नहीं रखती। उनके अपने लोक देवी-देवता होते हैं। तथापि राम उनकी इस परम्परा को सेतुबंध की तरह स्वीकार्य हैं।

दशावतारों में दो अवतार राम और कृष्ण लोक में सर्वाधिक चर्चित हुए हैं। कृष्ण मायावतार के रूप में तथा राम मर्यादा अवतार के रूप में लोक मानस में आस्था और विश्वास के केन्द्र स्वरूप स्थापित हो गए। लीलाधारी कृष्ण भगवान की अनेकानेक लीला कथाएँ ग्रंथ रूप में तथा लोक कंटों पर आज भी लोक चर्चित हैं।

राम मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में लोक में पूज्य हैं। वाल्मीकिजी ने उनपर सबसे पहले महाकाव्य लिखा। वह ग्रंथ भारतीय वाङ्मय का प्रथम महाकाव्य माना गया। महाकवि वाल्मीकिजी राम के समकालीन थे तथा सीता के द्वितीय वनवास काल के साक्षी भी थे। लवकुश का जन्म, शिक्षण-प्रशिक्षण उन्हीं के आश्रम में हुआ था। उन्हीं के समक्ष धरती की बेटी सीता पुनः धरती की गोद में समा गई थी।

महाकवि बन जाने से पूर्व वाल्मीकि एक सामान्यजन थे। एक 'मार्ग लुटेरे'। फिर सनकादि ऋषियों की प्रेरणा से वे राम नाम जाप के कारण ज्ञानवान बने और क्रौंच वध की घटना ने उन्हें कवि बना दिया। इस 'मा निषाद' वाले श्लोक के आधार पर मालवी में एक लम्बा गीत उपलब्ध है।

'एक चड़ी एक चड़ा सुभागो।'

इस चिड़ी-चिड़ा युगल को एक भील ने बाण द्वारा निशाना बनाया। फलस्वरूप चिड़िया मर गई और चिड़े ने शोक विलाप करते हुए चिड़ा तत्काल बेसुध हो गया और प्राण त्याग दिए।

*वार नी लागी होयो बेसुधो
सत का राखा राम।*

इस गीत में वह शिकारी भील और कोई नहीं वाल्मीकि का पूर्व वाल्मीकि रूप वाला निर्दयी ही है। क्योंकि गीत अंत में कहता है।

*राम नाम का उड़या फीकड़ा
उड़ चाल्या जीवड़ा आगासाँ पार।
राम राखे राम मारे, वेवे राम की आण।*

*देख सिकारी भीलड़ो रोवे, मेवे आखाँ नीर।
धनस बाण तो परे फेंक्या, हिरदे उपजी पीर।
अछतावे पछतावे सिकारी, अपनी करनी जाण।
सद्गुरु जाणू रे थने चरकला, लग्यो कारजे बाण।
रे म्हारे लाग्यो सबद को बाण।।*

चिड़ी और चिड़े को राम नाम के पंख लग गए। दोनों के प्राण ऊँचे आकाश में उड़ गए। रक्षक भी राम है और प्राण लेने वाला भी राम हैं। सब नष्ट हो जाता है। राम की आन रह जाती है।

शिकारी भील जार-जार रो उठा। उसकी आँखों से नीर बहने लगा। उसके हृदय में पीड़ा का संचार हो उठा। उसी पीड़ा ने उस शिकारी भील को कवि बना दिया।

*वियोगी होगा पहला कवि
आह से निकला होगा गान।
आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अजान।*

ये काव्य पंक्तियाँ महादेवी वर्मा ने इसी आशय से कही होंगी।

उस भील के मन में पीर और आँखों से जब नीर बह उठा, तब उसने कहा-

*सद्गुरु जाणू रे थने चरकला।
लग्यो कारजे बाण।।*

महाकवि वाल्मीकि की उस भावुक श्लोक का अनुवाद नहीं है यह लोकगीत। न ही यह गीत उसका अनसुरण करता है। लोक की अपनी स्थापना और भावना है। वह अद्भुत और अनूठी है।

वाल्मीकिजी के रामकथा और उनके रामायण महाकाव्य के पश्चात् अनेक भाषाओं में महाकाव्यों की रचना हुई।

तुलसी मध्यकाल के कवि थे। उनका उद्देश्य केवल रामकथा लिखना नहीं था। वे तो तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक त्रासदियों से विखण्डित हो रही भारतीय समाज की, सांस्कृतिक आधार पर पुनर्स्थापना करना चाहते थे। अपने उद्देश्य

की सफलता के लिए उन्होंने रामकथा को अपना लक्ष्य बनाकर एक मर्यादित, न्यायसंगत, निर्भय एवं धर्मपरायण समाज की रूपरेखा निर्धारित की। पारिवारिक सम्बन्धों का विखण्डन तथा अनेक आडम्बर समाज को अस्त-व्यस्त कर रहे थे। राम को एक मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रस्तुत कर तुलसीदासजी ने वाल्मीकि के राजा राम को मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम बनाकर जन-जन की आस्था का केन्द्र बना दिया।

तुलसी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। वे चाहते तो अपना महाकाव्य संस्कृत भाषा में लिख सकते थे, किन्तु वे वाल्मीकिजी के रामायण महाकाव्य का परिणाम देख चुके थे। रामायण केवल कुछ विद्वानों तक ही सीमित रह गया था। तुलसी के लक्ष्य में विद्वद्जन नहीं, सामान्यजन थे। लोक था। इसी कारण उन्होंने सारे विरोधों का सामना करते हुए लोकभाषा में ही अपने महाकाव्य की रचना की। अवधी लोकभाषा का यह प्रथम महाकाव्य लोक रचना का अद्भुत महाकाव्य सिद्ध हो गया।

यह लोकभाषा का कमाल था कि रामचरित मानस, लोकमानस सिद्ध हो गया। आज भी लोक वाल्मीकि को नहीं जानता, वह तो तुलसीदास को जानता है। वाल्मीकि विद्वानों के कवि हैं, जबकि तुलसी सामान्यजन के कवि हैं।

राम का चरित्र मानस के माध्यम से ही लोक चर्चित हुआ। भले ही तुलसीदासजी ने कहा हो-

*स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा-
भाषा निबंध मति मञ्जुल मातनोति ॥*

किन्तु उन्होंने स्वान्तः सुखाय नहीं, अपितु लोक हिताय इस महाकाव्य का सृजन किया। वे तो राम-सीता और लक्ष्मण को अपने हृदय में बसा चुके थे। उनका नाम 'तुलसी' तु- राम, ल- लक्ष्मण तथा सी-सीता का समुच्चय था। वे तो अपने आराध्य के दास थे।

उन्होंने 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' की जानकारी होने के उपरान्त भी अपना लक्ष्य खंडित नहीं होने दिया। विश्व को एक लोक महाकाव्य देकर समाज को एक आस्था का अवलम्बन देने में सफल हो गए।

लोक में रामकथा गीतों को लोक कंटों से संकलित करना भले ही कठिन था, किन्तु था आनन्दमय। मैंने लोक कंटों से 50 गीतों का संग्रह कर उन्हें रामकथा क्रम में संयोजित किया। इस प्रकार एक 'लोकगीत रामकथा' का निर्धारण हो गया। यह लोकगीत कथा मालवी लोकाभाषा और साहित्य की अमूल्य थाती है।

इन लोक कथा गीतों का अध्ययन करने पर अनेक नये प्रसंग स्पष्ट होते दिखते हैं, जिन्हें किसी भी महाकाव्य में इस अनूठे एवं अद्भुत रूप से उल्लेखित नहीं किया गया। यह लोक की अपनी स्थापना है। लोकगीतों की रचना किसी एक कवि द्वारा नहीं होती। उसके रचयिता लोककंट होते हैं। समूहगत इस परम्परा का निर्वाह होता चला जाता है। समय-समय पर उसमें जुड़ाव-घटाव होता रहता है।

मालवी भाषा-बोली के लोकांचल के इन रामकथा गीतों की अपनी मौज है। अपनी स्थापना है। अपनी कथनी है और मस्ती है।

जब हम रामकथा का प्रणयन करते हैं, तब एक बात यह भी निखरकर आती है कि भले ही यह कथा (श्रीराम) पुरुष की है, किन्तु इस कथा को गति स्त्री पात्र प्रदान करते हैं। इन गीतों में यह बात विशेष रूप से निखरकर सामने आती है।

हम राम के एवं उनके भाइयों के वशिष्ठ आश्रम से विद्या प्राप्त कर पुनः अयोध्या महलों में लौट आने तक की कथा पर ध्यान न भी दें, तब भी हमारे समक्ष विश्वामित्र प्रसंग आता है। ताड़का के आतंक से मुक्ति की समस्या का समाधान जुटाने का प्रसंग आता है।

एक ऋषि समूह को पूर्वयोजित योजना के अन्तर्गत विश्वामित्र जी ताड़का को माध्यम बनाकर राम का शक्ति परीक्षण करना चाहते थे। विश्वामित्र यह जानना चाहते थे कि गुरु वशिष्ठ से शस्त्र एवं शास्त्र विद्या प्राप्त कर राम कितने प्रवीण एवं सक्षम हुए हैं। यह उनकी प्रथम परीक्षा थी। उस परीक्षा में वे उत्तीर्ण भी हो गए।

ताड़कावध के पश्चात् विश्वामित्र राम को वनगमन हेतु ले गए। उन्होंने उन्हें तत्काल अयोध्या नहीं पहुँचाया। पुरुष वर्ग के आतंकी अनुशासन से जड़ हुई अहिल्या का उद्धार अर्थात् उसकी

कुण्ठा समाप्त कर उसे पुनः जीने का संदेश देकर एक महत्त कार्य राम के माध्यम से विश्वामित्र जी ने करवाया। पुरुष समाज द्वारा स्त्री जाति के प्रति होने वाले अनाचारों से राम को अवगत करवाना और उन्हें वन की कठिनाइयों से अवगत करवाना भी विश्वामित्र का उद्देश्य था। उनके समक्ष राम के भावी जीवन का लक्ष्य निर्धारित हो चुका था। सीता स्वयंवर में राम को विश्व के समस्त राजाओं के समक्ष श्रेष्ठतम सिद्ध कर राम के यश को स्थापित कर कथा को गतिमान किया।

सीता स्वयंवर से भी पहले एक घटना और घट गई थी। उसपर ध्यान देना आवश्यक है। वह घटना थी 'सीता प्रकटोत्सव' का शुभ दिवस। भगवान राम जब प्रकट हुए, तब तो तुलसी बाबा ने कह दिया- 'भये प्रकट कृपाला दीन दयाला, कौशल्य हितकारी।' किन्तु जब सीताजी प्रकट हुईं, तब ऐसा भाव किसी कवि ने व्यक्त नहीं किया।

लोक ने उस अवसर का जैसा बखान किया है, वह अद्भुत है। यह तो सर्वत्र कहा गया है कि सीता मईया उन ऋषियों के तापस रक्त का संघटक थीं, जिसे रावणीय आतंकियों ने एक कलश में एकत्र कर रावण को भेंट किया था तथा रावण ने उसे सीरध्वज जनक के राज्य में गाड़कर जनक से प्रतिशोध लेने की योजना बनाई थी। उस ऋषि रक्त कलश के दुष्प्रभाव से जनक राज्य में अकाल पड़ गया। प्रजा त्राहि-त्राहि कर उठी और पलायन करने लगी। लोकगीत कहता है -

सीता मइया लियो जी अवतार.

जब रावण ने यह ऋषि रक्तकलश जनक राज्य में गाड़ने का प्रयास किया, तब लोकगायक कहता है-

*सुण ले रावण गुण ले रावण, कर ले खूब विचार।
थारे हाथों में धर्यो हे, थारे बंस दो कार।*

अरे रावण! अच्छी तरह सुन-समझ ले, तेरे हाथों में यह कलश तेरा काल ही है।

काल देवता की यह आकाशवाणी सुनकर रावण व्याकुल हो उठा। उसी व्याकुलता में उसने वह रक्तकलश जनक के राज्य में गाड़ दिया। कालान्तर में- जैसे ही जनक ने मैनाजी के साथ मिलकर हल चलाया। वह कलश फूट गया। धरती में से अमृत

धारा फूट पड़ी। मैनाजी के स्तनों से दूध की बत्तीस धाराएँ फूट पड़ी। बादल गरजने लगे, बिजली चमकने लगी। वर्षा होने लगी और अकाल समाप्त हो गया, सुकाल प्रारम्भ हो गया।

*बत्तीस धारां चोली भीजी होयो जनम सतधार।
धन्न-धन्न देवत गण बोल्या, हो रई जै-जैकार।।
घन घुमड़या नाड़ी घण गरजी, जल बरस्यो झमकार।
सीता मइयो लियो जी अवतार.....
जनकपुरी में सीताजी परगट्य, अवधपुरी में राम।।*

जनकपुरी में सीताजी प्रकट हुईं। अयोध्या में राम प्रकट हुए। कथा आगे बढ़ी। लोक में एक नहीं अनेक गीत सीता माता के प्रकट होने की घोषणा करते हैं-

सीतामाता परगटया, परजा वई खुसाल।।

सीता माता के प्रकट होते ही स्वाभाविक रूप से अयोध्या में उत्सव होने लगा। राम मुस्करा उठे, दशरथजी आनंदित हो उठे। ऋषिगणों का मन शीतल हो उठा।

लंकापुर गढ़ के कोट कंगूरे टूटकर धरती पर गिर पड़े। रावण का मुकुट शीश से धरती पर आ गिरा, पूजा का दीपक बुझ गया, मंदोदरी के बाल एकाएक बिखर गए। रावण को डरावना सपना आया मानो उसके दसों सिर कटकर गिर पड़े हों। कालदेवता पैताने खड़े ठहाके लगा रहे हैं। उसकी भुजाएँ कटकर गिर गई हैं। लोथ धरती पर पड़ी तड़प रही है। युद्ध भूमि में घोड़ों की रास टूट गई है और धनुष की प्रत्यंचा भी टूट गई है।

सीताजी के प्रगट होते ही ऐसे सुमंगल और अमंगल होने लगे।

*सीताजी के प्रगटतां, अद्भुत उपज्या भाव।
जैसी जण की भावना, वैसी वण की छाव।*

सीताजी के प्रकट होने पर ऐसे अद्भुत लक्षण होने लगे। जैसी जिसकी भावना थी, वैसा उसे आभास होने लगा।

रामकथा का अंकुरण हम सीता प्रकटोत्सव और राम प्रकटोत्सव से मान सकते हैं, किन्तु कथा को गति ताड़का वध के बाद ही प्राप्त होती है। इससे पहले राम-सीता कथा का संयोजन एवं पूर्वपीठिका तैयार होती है।

सीता स्वयंवर के पश्चात् जब दशरथजी राम को युवराज घोषित कर उनके राजतिलक की घोषणा कर देते हैं, तब राज्य में तो खुशियाँ मनाई जाने लगती हैं, किन्तु कैकेयी गहन विचारों में डूब जाती है।

सभी ग्रंथों में कवियों-महाकवियों ने कैकेयी के चरित्र को एक खलनायिका की तरह प्रकट किया है, किन्तु लोकगीत कैकेयी को एक महान एवं दूरदर्शिनी राज महिषी के रूप में प्रकट करता है। कैकेयी को ऋषियों द्वारा आयोजित एक महत्त योजना का सूत्रधार स्थापित कर देता है।

प्रथम दृष्टया ऐसा आभास होता है कि कैकेयी इतने गहरे विचारों में क्यों डूब गई। क्या वह कोई षड्यंत्र रचना चाहती है?

कैकेयी गेहरो करे विचार।

लोकगीत कहता है- आर्यावर्त पर राक्षस रावण का प्रभाव बढ़ने लगा था। वह अपने क्षेत्रप सीमाओं पर स्थापित करता जा रहा था। महाराज दशरथ भी उसे रोक नहीं पाये थे। अपितु परास्त हो गए थे। बाली रावण का मित्र था। आश्चर्य यह कि महाराज दशरथ बाली के तथा दोनों की सामूहिक शक्ति के समक्ष असहाय सिद्ध हो चुके थे। अपने पति के अपमान का प्रतिशोध और अनार्यशक्तियों को आर्यावर्त पर अधिकार करने की योजना को रोकने के लिए कैकेयी चिंतित थी। ऋषिगणों अगस्तादि ने राम को उन अनार्य शक्तियों से युद्ध कर सीमाओं को सुरक्षित करने की योजना प्रायोजित की। वशिष्ठजी ने राम को प्रशिक्षित किया। विश्वामित्र ने ताड़का वध में उनकी परीक्षा लेकर उन्हें अनेक शस्त्रास्त्रों से सुसम्पन्न किया। फिर उन्हें वनगमन का अनुभव दिया। अपने अपमान से जड़ बनी अहिल्या को कुण्ठा और आत्मग्लानि से मुक्त करवाकर तथा तपस्यारत रहने की प्रेरणा दिलवाकर राम के प्रभाव को वन प्रान्त एवं ऋषिगणों में यशस्वी सिद्ध किया। सीता स्वयंवर में भी विश्वामित्र ने राम को सर्वशक्तिमान सिद्ध कर दिया। परशुराम जैसे महापराक्रमी सहस्रबाहु एवं रावण जैसे शक्तिमान युग योद्धाओं को भी राम का प्रभावशाली व्यक्तित्व मन ही मन स्वीकारना पड़ा। परशुराम शस्त्र त्यागकर हिमालय पर तपस्या करने चले गए और रावण एवं सहस्रबाहु पलायन कर गए।

कैकेयी ने राम के पराक्रम को जान लिया था। वह आश्चस्त थी कि केवल राम ही वह शक्तिमान युवा हैं, जो अपने पिता के अपमान का प्रतिशोध बाली से व रावण से ले सकता है। यदि राम अयोध्या की राजगद्दी पर बैठ गया, तब आर्यावर्त की रक्षा में बाधा पड़ेगी। युवा पीढ़ी के प्रति अटूट विश्वास का यह प्रेरणास्पद उदाहरण है।

कैकेयी चाहती थी और ऋषियों की भी योजना थी कि आतताइयों से युद्ध आर्यावर्त की भूमि पर न होकर शत्रु की भूमि पर हो, जिससे आर्यावर्त युद्ध की विभीषिका से मुक्त बना रहे।

उसी आयोजन के लिए कैकेयी गहरे विचारों में खोई हुई थी। उसने मंथरा को माध्यम बन जाने दिया। मंथरा का उकसाना एक संयोग था। कैकेयी ने उस संयोग का लाभ उठाया और सारा खेल रच डाला।

इसमें एक प्रश्न और उठता है। कैकेयी ने राम का वनवास चौदह वर्ष ही क्यों निर्धारित किया। कम या अधिक क्यों नहीं? कैकेयी अपने युग की युद्ध निपुण, राजनीति निपुण तो थी ही, वह ज्योतिष विद्या की भी मर्मज्ञ थी।

उसे राम के राजतिलक के योग का भी ज्ञान था। इसीलिए उसने भरत को अयोध्या से बाहर ननिहाल भेज दिया। यदि भरत अयोध्या में उपस्थित रहते, तब कैकेयी की यह योजना सफल नहीं होने पाती।

कैकेयी ने लोकगीत में कहा है -

*रावण घणो जबरो बलधारी, बेट्यो समदर पार।
महाराज दसरथ भी जणने नी पाया था मार।।
अयोध्यापति रावण ती हार्या, गया बालि ती हार।
बालि की बी उमर खूट गई, रावण की दसचार।।*

कैकेयी ने अपने ज्योतिष ज्ञान से जान लिया था कि बाली की उम्र भी समाप्त होने को आई है तथा रावण की उम्र भी 'दस+चार' वर्ष = चौदह वर्ष ही शेष बची है।

*राम लला जे पाट बैठ गया, कूण करे टंकार।
भरत लखन अर शत्रुघन ता नी उतरेगा पार।।*

इसलिए-

रिसि मुनियां ने जुगत जुड़ाई, आसरम हे आधार।
अस्तर-सस्तर खूब बणाया, करे गजब की मार।।
विश्व मित्र ने करी परीक्षा, ताड़क वन आधार।
चौदह बरस राम वन भोगे, मेटे अत्याचार।
बाली मार रावण संघारे, जब आवे मन ठार।
अबजो चूकूँ क्षमा न पाऊँ, नी होवे निस्तार।
हे ललाट में जो भी लिख्यो, भल बुर जस-उपजस आखार।

गीत बहुत बड़ा है। उसके आवश्यक अंश यहाँ दिए हैं।
कैकेई ने राजधर्म का निर्वाह करने, अपने पति महाराज दशरथ के
युद्ध में पराभव का प्रतिशोध लेने तथा आर्यावर्त की सीमाओं की
अनार्यों के आतंक से रक्षा करने के लिए राम को वनवास भिजवाया।
इसके लिए उसने अपयश भी स्वीकार कर लिया।

कैकेयी ने जान लिया था कि बाली की उम्र समाप्त होने
को है तथा रावण 'दस+चार' वर्ष = चौदह वर्ष ही और जी सकेगा।
इस कारण उसने राम को केवल चौदह वर्ष के लिए वन भिजवाया।
इसीलिए गीत अंत में कहता है-

चौदह बरस राम वन भोगे, मेटे अत्याचार।
बाली मार रावण संघारे, जद आवे मन ठार।।
राम लला तो देव स्वरूप हे, लजपत राखण हार।।

तथा

जद संवरे रिसियाँ को कारज, जगत करे जैकार।
पाट वराजे राम-राम को, हे पूरो अधकार।।
जतरे धरती सूर-चन्द्रमो, राम राज जगधार।
केकई गोहरो करे विचार।।

यह था राम का चौदह वर्ष हेतु वनगमन का प्रयोजन। लोक
गीत ने कैकेयी को अपने युग की श्रेष्ठतम राजनैतिक सूत्रधार के
रूप में स्थापित कर दिया। कैकेयी ने यहाँ से राम कथा को और
आगे बढ़ाया।

पंचवटी में शूर्पणखा का पराभव, शूर्पणखा द्वारा रावण को
उत्तेजित करना और रावण को सीता हरण की प्रेरणा देकर शूर्पणखा
ने कथा को फिर गतिमान कर दिया। अन्यथा एक वर्ष उपरान्त

वनवास अवधि पूर्ण कर राम वापस अयोध्या लौट जाते। ऋषियों
का आयोजन और कैकेयी का लक्ष्य अपूर्ण रह जाता।

पंचवटी में ही सीता ने पहले राम को स्वर्णमृग पकड़ने भेज
दिया। फिर लक्ष्मण को भाई की रक्षा के लिए खाना कर दिया,
तभी रावण अवसर देखकर सीताजी का हरण कर ले गया। सीता
हरण, जटायुमरण तक कथा पहुँचकर फिर सीताजी के माध्यम से
गतिमान होती है। भले ही यह लीला थी, किन्तु -

राम की लीला रामजी जाणे, कै जाणे कोई दासो।

लोकगायक इतना कहकर बात सम्हाल लेता है। सीताहरण
के पश्चात् विरही राम अपने वीर भ्राता लक्ष्मण जी के साथ जब
शबरी आश्रम पहुँचते हैं, तब एक नया अध्याय रामकथा का आरम्भ
होता है। मालवी लोकरंग में तीन गीत 'शबरी राम ही राम रटे'
'सबरी मान करे' तथा 'काल पधारेगा राम में'। शबरी प्रसंग ने राम
के यश को पूरे अंचल में विस्तारित कर दिया था। शबरी का
विश्वास 'कल राम मेरे आश्रम में पधारेगे।' राम के प्रति अटल
आस्था तो प्रकट करता ही है, उसकी दिव्य दृष्टि का प्रमाण भी
देता है। शबरी ने पूरे वनप्रान्त में तथा अपनी कुटिया में राम-राम
लिखकर नामी से भी पूर्व नाम को स्थापित कर दिया था। पूरे वन
प्रान्त में तथा मतंग ऋषि आश्रम में राम का परिचय शबरी ने करवा
दिया। पूरा वन प्रान्त राम-राम मय हो उठा था।

शबरी की दिव्य दृष्टि इस लोकगीत से भी प्रकट हो जाती
है-

राम ती बड़ो राम को नाम, सबरी राम इ राम रटे।
कुटिया की भीताँ पे सबरी, नत करे मंडावण।।
राम पभु की लीलाँ हगरी, करे रोज चित्रावण।।
अगम-पछम को ध्यान लगावे, गुरु को ध्यान धरे।।

शबरी ने राम रघुवीर की समस्त अवतारी लीलाओं की
चित्रावली अपनी कुटिया की भीतों-दीवारों पर मोड़ रखी थी। उसे
भूत-भविष्य का ज्ञान था। यह दिव्य ज्ञान उसे उसके गुरु मतंग ने
दिया था। उस दिव्य दृष्टि सम्पन्न शबरी ने राम को कुटिया के
भीतर ले जाकर उनकी तब तक की लीलाओं और भविष्य में होने
वाली लीलाओं के दृश्य अपनी दीवारों पर चित्रांकित दिखाकर
आश्चर्य चकित कर दिया था।

राम को उनकी समग्र अवतारी लीलाओं का भान करवाने के उपरान्त शबरी ने निवेदन किया कि प्रभु मैं तो आपके पधारने की प्रतीक्षा कर रही थी। आज आपका पधारना निश्चित था। इस कारण मैंने आपकी प्रतीक्षा की। आज ही मेरे इस संसार से प्रयाण का योग भी है। आप पधार गए, मेरा जीवन धन्य हो गया। आप इसी कुटिया में मेरा दाह संस्कार लक्ष्मण से करवा दीजिए। मेरे साथ-साथ आपकी लीलाओं के दृश्य भी समाप्त हो जाएँ। इन्हें समय पूर्व कोई न जान सके। सीता जी का हरण रावण ने किया है। आप रिष्यमूक पर्वत पधारें, हनुमान से भेंट कर सुग्रीव से मित्रता करें। वहीं रहकर सीता जी को मुक्त करवाने की योजना बनाएँ।

ऐसा कहकर शबरी ने राम-राम के उच्चारण के साथ देह त्याग दी। लक्ष्मण ने उसी कुटिया में शबरी का अंतिम संस्कार कर दिया। शबरी की देह भस्मी पम्पासर में प्रवाहित कर तथा लक्ष्मण सहित उसमें स्नान कर शापित सरोवर को श्रापमुक्त किया। मान्यता थी कि उस सरोवर में शबरी के नित्य प्रति स्नान करने से वह सरोवर अपवित्र हो गया था। उस भ्रामक धारणा का खण्डन कर सरोवर को पावन कर दिया।

शबरी ने रामकथा को गति देकर राम को रिष्यमूक पर्वत की ओर भेज दिया। कथा आगे बढ़ती है।

लोक गीतों की बलिहारी! हनुमान से मिलन होता है। राम-हनुमान मिलन के बाद कथा में एक महत्त्वपूर्ण पात्र जुड़ जाता है। रिष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव से भेंट, फिर मित्रता। समान समस्या। दोनों की पत्नियाँ शत्रुओं के कब्जे में।

यह 'समान शील व्यसने तु सख्यं' से भी आगे की बात थी। राम ने आश्वस्त किया कि मैं बाली से तुम्हारी पत्नी वापिस दिलवाऊँगा। सुग्रीव ने वचन दिया- मैं आपकी पत्नी की खोज करवाकर तथा अपहरणकर्ता से युद्ध में सहयोग करके सीता आपको वापस लाने में सहायता करूँगा। दोनों वचनबद्ध हो गए। हनुमान की मध्यस्थता थी।

यहाँ से शुरू होता है हनुमान प्रसंग। पूरी राम कथा अब हनुमान के भरोसे हो जाती है। लोक गीत कहता है- 'रामजी को कारज हनुमत सारे।' सीता की खोज, लंका दहन कर सीताजी की खोज खबर लाने तथा सीता जी को आश्वस्त करके पुनः रिष्यमूक

पर्वत तक लौट आने के अलावा भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य हनुमानजी कर आए थे। वह था विभीषण के मन में राम के प्रति अनुराग। वही अनुराग बाद में पुष्ट होकर लंका से निष्कासित होने पर विभीषण द्वारा राम शरण में आने का माध्यम बना।

लोक गीत में हनुमान के पराक्रम तथा राम-हनुमान मिलन के बाद के हनुमान प्रसंगों को सहज रूप से कहा गया है। लंका से सीता की खोज के अतिरिक्त राम की सेना के एक वानर द्वारा पूरी लंका को तहस-नहस कर लंकावासियों और सेना पर राम की शक्ति का प्रभाव स्थापित कर देना भी महत्त्वपूर्ण कार्य था। राम-लक्ष्मण को लगी नागशक्ति से रक्षा, अहिरावण द्वारा अपहरण के अहिरावण का वध कर राम-लक्ष्मण की रक्षा, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर संजीवनी बूटी लाकर लक्ष्मण की प्राण रक्षा कर राम की सम्भावित पराजय को विजय में परिवर्तित कर देने तक हनुमान कथा के मुख्य पात्र सिद्ध होते हैं। लोक गीतों में हनुमान के इन प्रसंगों को सहजता के साथ बखाना गया है।

रिष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव मैत्री के पश्चात् बाली वध कर राम ने कैकेयी के संकल्प का एक भाग पूरा कर दिया। अब तो केवल 'रावण' वध ही शेष बचा था।

समुद्र पर सेतुबंधन का तथा समुद्र के प्रकट होने का जैसा मनोहारी दृश्य मालवी लोक गीतों में बखाना गया है, वह अद्भुत है। ऐसा विशद वर्णन किसी भी रामकथा महाकाव्य में नहीं बखाना गया।

'बंधि गयो अद्भुत सेतुबंध' उन पच्चास दोहों का लोकाख्यान है। राम सागर के इस ओर खड़े हैं। मार्ग मांगते हैं। उसे बंधुवर कहकर सम्बोधित करते हैं। समुद्र के प्रकट नहीं होने पर अग्निबाण का संधान करते हैं। समुद्र प्रकट हो जाता है। यहाँ तक तो पारंपरिक वर्णन है। सभी महाकाव्यों में यह प्रसंग ऐसा ही वर्णित है। किन्तु समुद्र का स्वरूप जैसा इस लोकगीत में वर्णित है, वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं है। लोकगीत कहता है-

चलक-चलक भलको करे, सागर अजब सरूप।

जाणे उदयाचल उग्यो, हूरज भलको खूप।।

समुद्र का स्वरूप ऐसा लगता था मानों उदयाचल में सूर्य उदय हो गया हो। उसका भाल रक्तमणि की तरह सुशोभित था।

ऐसा लगता था मानो विद्युत् और नीलम मणियाँ एक साथ चमक उठी हों।

पूरा गीत समुद्र के रूप सौंदर्य, उनके आसपास समुद्र की मत्स्य कन्याएँ, चतुर्दिक भाँति-भाँति के रंग-बिरंगे सुन्दर कच्छ-मच्छ। मत्स्यकन्याओं की लुभावनी वेशभूषा, रूप छवियाँ तथा मनमोहक मुस्कराहट अनुपम थी।

यहाँ भी गीत राम के चरित्र को उद्घाटित करता है। राम न तो उन सुन्दर मत्स्यकन्याओं से प्रभावित होते हैं और न बहुमूल्य रत्नमणियों वाली भेंट से। उनके लिए उन सबसे महत्त्वपूर्ण था समुद्र से पार जाने का मार्ग।

समुद्र पराजित हुआ और निवेदित होकर सेतुबंध बनाने का स्थान व समाधान बतला दिया।

*धीरज धर सागर कहयो, हे समरथ रघुवीर।
अरज सुणो निजदास की, धर हिरदा में धीर॥
अगन बाण के छूटतां, होवे सकल विनास।
म्हारो जल सूख्यो पछे, व्हेसी सत्यानाश॥
जो जल सूखे ताप ती, जासी उरग अगास।
विस भर्या धन बरस सी, व्हेसी धरणी नास॥
अतिवृष्टि होसी अवस, जल परलय अगास।
हे जगपालक होव सी प्रभु के हाथां नास॥*

यदि आपने यह अग्निबाण मुझ पर चला दिया, तब मेरा जल सूख जायेगा। सूखने पर शरणागत जीव मर जाएँगे। समस्त जल आकाश में जाकर बादल बनेगा। प्रदूषित जल की महावृष्टि होगी। जल प्रलय हो जाएगी। महारोगों से विश्व ग्रस्त हो जाएगा। यह सब विनाश आपके द्वारा होगा, जो उचित नहीं है।

इसलिए हे नाथ! आप अग्निबाण तो दक्षिण में चला दें। उत्तर-दक्षिण में कुछ दूरी पर चट्टानों की एक लम्बी धार है। आप विश्वकर्मा के शिष्यगण नल-नील के सहयोग से उन डाढ़ों वाली चट्टानों को पत्थरों से पाटकर समतल करवा लें। मैं उस मार्ग से दूर हट जाऊँगा। आप वहाँ सेतुबंध बनाएँ।

रामनाम से पत्थर तैरने का वर्णन यह गीत भी पारंपरिक आख्यान की भाँति ही करता है। किन्तु समुद्र सूखने पर होने वाले

विनाश का वैज्ञानिक कारण भी बताता है। लोक में विज्ञान अथवा लोक विज्ञान का यह अति महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

कथा समुद्र के सेतुबंध से होकर लंका पहुँचती है। युद्ध होता है। 'रावण कुंभकरण मरण' पर कैकेयी का उद्देश्य पूरा हो जाता है। आर्यावर्त की रक्षा एवं सुरक्षा का ऋषियों का आयोजन सफल हो जाता है।

अनार्यों का आतंक समाप्त हो जाता है। लंका पर अनार्य किन्तु राम भक्त विभीषण का राज्य स्थापित हो जाता है। आर्यावर्त की सीमाएँ सुरक्षित हो जाती हैं।

राम-सीता को मुक्त करवाकर तथा अग्नि परीक्षा लेकर पुनः अयोध्या लौट आते हैं। राम का और भरत का मिलाप। राम का राजतिलक/राम राज्य की स्थापना हो जाती है। सब कुछ आनंदमय हो जाता है। सीताजी गर्भवती होती हैं। महलों में सम्भावित खुशियों से सब आनंद विभोर रहते हैं। तभी रामकथा पर लगा गतिरोध टूटता है। एक और प्रसंग सामने आता है।

अयोध्या के एक नागरिक धोबी की पत्नी किन्हीं कारणों से रात को घर नहीं लौटकर अन्यत्र रह जाती है। प्रातः घर लौटने पर धोबी उस कलंकिनी को लांछित करता है। रात भर कहीं और रहने पर कुलच्छिनी कहकर घर में प्रवेश देने से मना कर देता है।

धोबी उससे कहता है- मैं राम नहीं हूँ जो परपुरुष के पास रही अपनी पत्नी को घर में आने दूँ-

*एक बरस परपुरख रे, कब्जे रई लंका रे देस।
जोरो जबरो रावण राकस, दरपे विसन महेस॥
हाथ पकड़ ने घेंच लै गयो, अखर्या वखर्या केस।
अणछूती कसतर रेह पायी, सीता लंका देस ?
बड़ा घरां की मोटी वातां, कारो उजरो वेस।
अगन परीछा की कुण जाणे, कुण जाणी कुण हेस॥
अरे कलंकणी धोबण सु ले, मत समझ राम राजेस।
रात गुजारी जठे लौज जा, मतिकर अठे करेस॥*

धोबी की यह बात राजा राम तक पहुँच गई। राम ने इसे प्रजा की आवाज समझा। राज्य भय से कोई कह नहीं पाता। राम का राजा मन सक्रिय हो उठा। उन्होंने सीता का त्याग कर दिया।

धोबी पत्नी ने कथा को फिर आगे बढ़ाकर वाल्मीकि जी के आश्रम तक पहुँचा दिया। राम के इस निर्णय पर लोक मौन नहीं रह पाता। लोक गायक गा उठता है।

सिया ने दियो वनवास रामजी आच्छी नी करी।

सीता जी को वनवास देकर हे रामजी! आपने ठीक नहीं किया। ऐसा तो बैरी भी नहीं करता। भारी पैर (गर्भवती) सीता को वनवास भेजकर आपने बहुत बुरा किया है।

अंत में लोक गायक कहता है- ऐसी भूल कोई बाप मत करना, जैसी जनक जी ने की थी। निष्कलंक और फिर गर्भवती सीता जी को राम जी ने वनवास में भेज दिया। ऐसे राम से अपनी पुत्री का विवाह रचा दिया।

सीताजी वनवास काल में वाल्मीकि आश्रम में निवासरत रहीं। वहीं उन्होंने लव-कुश को जन्म दिया। अपने पुत्रों को अस्त्र-शस्त्रों की विद्या सिखाई। वाल्मीकिजी ने भी शस्त्र-शास्त्र ज्ञान प्रदान किया।

सारी कथा पारंपरिक रूप से चलती है और अश्वमेघ यज्ञ के प्रसंग में राम सीता का सामुख्य होता है। सीताजी धरती की गोद में समा जाती हैं। श्रीराम जी भी अपना लीलावतार पूर्णकर सरयू नदी में समा जाते हैं। इस प्रकार लोक गीतों के समुच्चय से एक अद्भुत एवं अनोखी रामकथा की पूर्णाहुति होती है।

‘रामजी की लीला राम जाने कै जाने कोई दासा’ के साथ अंतिम गीत इस लोक राम कथा को विराम देता है।

मालवा की कलाएँ और कलाकार

मालवा लोककलाओं में जितना सम्पन्न है। उतना कोई भी दूसरा अंचल नहीं है। ऐसा कहकर मालवा को श्रेष्ठ और अन्य क्षेत्रों को अश्रेष्ठ या कम-अधिक बताना अभीष्ट नहीं है। होना भी नहीं चाहिए।

मालवा की कला सम्पन्नता का कारण है उसकी भौगोलिक और सांस्कृतिक स्थितियाँ। एक तरफ गुजरात, महाराष्ट्र और राजस्थान एक तरफ जोबट, अलीराज झाबुआ का विशुद्ध आदिवासी

लोक जीवन और उधर निमाड़ का सांस्कृतिक आंगन/निमाड़ को तो हम किसी भी तरह से मालवा से भिन्न नहीं मान सकते। हम थोड़ा समुद्र तल से नीचे उतरे तो निमाड़ और निमाड़ से थोड़ा ऊँचा चढ़ें तो मालवा। समुद्र तल से यही लगभग दो हजार फीट का उतार-चढ़ाव। निमाड़, मालवी को दीदी कहता रहा है और मालवा ने निमाड़ी को सदा लड़की-बहन माना है। इन सब अंचलों का प्रभाव मालवा की लोक कलाओं पर, लोक साहित्य पर और समूची लोक संस्कृति पर बनता रहा है। मालवी पर भी सबका स्वाभाविक प्रभाव पहचाना जा सकता है।

मालवा तो ऐसा वट-वृक्ष है, जिस पर चारों दिशाओं के पक्षियों ने अपने-अपने घोंसले बनाए हैं और इसी वट-वृक्ष के जनमे-जाये बनकर रह गये हैं। इसीलिए मालवा को हम लोक संस्कृतियों और लोक कलाओं का पवित्र संगम तीर्थ कह सकते हैं।

ऐसा नहीं कि मालवा में चतुर्दिक से आया ही है। यहाँ की सुगंध और रंगत का आदान-प्रदान भी बराबर होता रहा है। ‘मेहंदी तो वाई मालवे अर रंग गयो गुजरात’ तथा ऐसा ही आदान-प्रदान सब तरफ सभी अंचलों से आया और गया है। मालवा में जन्मी परवान चढ़ी कन्या जब गुजरात की बहू बनी होगी, तब क्या वह अपने साथ मालवी लोक कलाओं और लोक संस्कृति को नहीं ले गई होगी? और जब लौटी होगी वार-त्योहार करने अपने पीहर, तब वहाँ के सांस्कृतिक स्वरूपों से- अलंकारों से और लोक विधाओं से श्रृंगारित होकर नहीं आई होगी? ऐसा सांस्कृतिक आदान-प्रदान अन्य अंचलों से भी हुआ और होता रहा है।

इसका लोक जीवन कला मय है। इसके मंदिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों, गिरजाघरों, राज प्रसादों अथवा ग्राम कुटीरों के अंश-अंश और आंगन-वीथी में कला के सुन्दर और मनोरस दर्शन किये जा सकते हैं। समारोहों, उत्सवों एवं पर्व-त्योहारों पर हम मालवी लोक-कलाओं की जीवंतता और कला वैभव की भरी-पूरी रूपम-रूपम रंगत की अनुभूति कर सकते हैं। उससे रूपायित हो सकते हैं।

समझने की सुविधा के लिए हम कला को मुख्य रूप से दो पक्षों में बाँट सकते हैं। ललित कला और कर्म कला या उपयोगी कला। प्रथम भाव प्रधान होती है, दूसरी कर्म प्रधान

अथवा श्रम प्रधान। चित्रकला, संगीत, नृत्यकला और नाट्य कला को हम भाव प्रधान कलाओं में मान सकते हैं। इसी को हम और सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो भित्ति चित्रांकन, मांडने, रंगोली, मेहंदी एपन, अल्पना, चौक पूरना, गोदना, वस्त्र छापना, पर्व-त्योहारों के चित्रलेखन आदि एक श्रेणी में माने जाते हैं। यह कलाभिव्यक्ति की आंशिक भाव प्रवणता होगी। लोक संगीत, लोक साहित्य को हम वाचिक परम्परा में ले सकेंगे। श्रम प्रधान कला के अन्तर्गत काष्ठ शिल्प, वास्तु शिल्प, मृदा-पोषण, धातु आदि के खिलौने, मूर्ति शिल्प, भवन शिल्प, भवन सज्जा, अलंकार, आभूषण आदि तथा नाट्य और लोक नृत्य को हमें अभिनय या अभिव्यक्ति के अन्तर्गत मानना होगा।

यदि और अधिक स्पष्ट करने का हम प्रयत्न करें, तब हम ललित कलाओं के अन्तर्गत स्वीकृत चित्रकला, शिल्पकला, वास्तुकला, मूर्तिकला को स्थूल कलाओं में रख सकते हैं तथा संगीत कला, नृत्य कला, नाट्य कला को सूक्ष्म कलाओं की श्रेणी में मान सकते हैं।

लोक कला की मूल प्रवृत्ति स्वच्छंद, स्वाभाविक एवं जीवन मूल्यों का सहज चित्रण करना होता है। मानवीय अनुभूतियों की भावाभिव्यक्ति लोक कला और लोक कलाकारों का मूल धर्म और लक्ष्य रहा है। उसके गंगा जमुनी रंगों की सतवन्ती छवि हमें सर्वत्र दिखाई दे जाती है। संस्कारों और सुविचारों की श्रृंखला से आबद्ध इसका यह स्वरूप स्वाभाविक रूप से ही सर्वत्र विकसित हुआ है।

लोक कला बिना किसी आश्रय, प्रलोभन, लाभ या यश लिप्सा के निरन्तर गतिमान होती रही है। इसके प्रशिक्षण के पृथक से स्थापित नहीं किये गये। यह पारंपरिक होती है। इसे संस्कार स्वीकृत माना जाना चाहिए। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक यह विरासत की तरह सौंपी-स्वीकारी जाती है। इसका निर्वाह निष्ठा और आस्था की गरिमा तथा सुभावना के साथ किया जाता है। मालवांचल अपनी लोक कला परम्परा और अपने लोक कलाकारों पर गर्व कर सकता है। यह बात और है कि अब यह 'गर्व' इतिहास की दीर्घा में जा बैठा है। हम अपने स्वर्णिम अतीत पर इतरा तो सकते हैं, किन्तु वर्तमान पर आनंदित नहीं हो सकते।

अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के माध्यमों में चित्रकला का

ही विकास सर्वप्रथम हुआ। गुहा चित्रों से लगाकर आजतक की चित्रशैली में मानव के वह सब कुछ कहने का प्रयास परिलक्षित होता है, जिसे वह इतनी सहजता से अन्य किसी भी माध्यम द्वारा व्यक्त नहीं कर पाता। वाणी की अभिव्यक्ति के उपरान्त भी मानव का मोह भावों के चित्रिकरण में अधिक घना बना रहता है। संभवतः इसलिए भी कि चित्रावण द्वारा वह अपनी भावाभिव्यक्ति को स्थायी बना सकता है। वह बार-बार उसे देख-दिखा सकता है। उसकी यही वृत्ति सहज सौंदर्य का रूपधर गृह सज्जा का अनिवार्य उपकरण बनकर आज सर्वत्र पल्लवित हुई है। बेलबूटे, प्रतीक चिन्ह, आराध्यदेव, प्रेमकथाएँ, लोकनायक अथवा अन्य अनेक चित्राभ चित्रावण या माण्डने हमारे लोक जीवन का अभिन्न अंग बनकर हमारे जीवन क्रम में समाहित हो गये हैं। इनके बिना हमारी जीवन शैली गड़बड़ा जाती है। पर्व-त्योहार, पूजा-अर्चना, यज्ञ आदि सब अधूरे ही रह जाते हैं। सूने दीवार आँगन लोक जीवन में अपशकुन से जोड़े जाते हैं। मालवा की अपनी चित्रावण शैली है। डॉ. पुरू दाधीच इसे 'मालवा शैली' कहते हैं। वे इस शैली को अजंता की परवर्ती अपभ्रंश शैली की एक शाखा के रूप में स्वीकारते हैं। स्वाभाविक रूप से 'मालवा शैली' पर 'किशनगढ़ शैली' 'बूंदी शैली' 'मेवाड़ शैली' और 'राजपूत शैली' का प्रभाव पड़ा है। इन सबका प्रभाव इसे अपना 'रूप श्रृंगार' संवारने में सहायक तो बना, किन्तु बाधक नहीं। डॉ. कृष्ण ने अपनी कृति 'मालव पेंटिंग' में मालव शैली पर विस्तार से चर्चा की है। इसके बावजूद 'मालवा शैली' की अपनी पृथक से यशस्वी पहचान है।

मालवा अपनी लोक चित्रावण में सम्पन्न है। इस चित्रावण को हम दो भागों में बांट सकते हैं। वे पारम्परिक आकृतियाँ जो दीवारों पर गोबर अथवा रंग कूचियों से बनाई जाती हैं, जिसमें संझा, सरवण, नाग, माय माई, दिवासा, भैरव, जिरोती आदि चित्रावण मुख्य हैं। वह चित्रावण जो धरातल पर की जाती है, जिसमें रंगोली की भाँतें प्रमुख मानी जाती हैं। वैवाहिक अवसरों पर भित्तियों पर ऋद्धि-सिद्धि सहित गणेश जी, चँवर दुलाती या फूलहार आदि प्रणाम की मुद्रा में ऋद्धि-सिद्धि, गहनों से लदा हाथी-घोड़े पर सवार दूल्हा, बाजे-गाजे सहित बाराती, ढोल, नक्कारी, शहनाई, मशक बजाते वाद्यक कलाकार, छड़ीदरी-चोबदार, घट्टी पीसते ब्याई जी और चाबुक फटकारती ब्याणजी

तथा अनेक बेलबूटे की श्रृंगार युक्त भीतें तथा देहरी-द्वारों की चित्रावण, शिव पंचायत, राम पंचायत, द्रौपदी चीरहरण, काली मर्दन, हिरण्य कश्यप वध, भैरव भवानी, दुर्गा, हनुमान, गरुड़ आदि मंदिरों की भित्तियों पर चित्रित धार्मिक एकल एवं समूह चित्र तथा कथा-लीला चित्र मालवा के पारम्परिक किन्तु व्यवसायिक चित्रों के सौंदर्य को कौन नहीं जानता? यह बात भिन्न है कि आज ये सभी चित्रांकन धीरे-धीरे हमारे बीच से ओझल होते जा रहे हैं, जो पीढ़ियों से लोक मानस का अभिन्न अंग थीं। वह चित्रावण अब लोक जीवन से कन्नी काटती दिख रही है। हम भले ही इस चित्रावण को नकार दें, किन्तु इसके बिना जो अधूरापन है, उसे नहीं नकार सकते। वह चीणदार घाघरा, मोतियों जड़ी नथड़ी, लाल केसरिया लुगड़ा, कसनियों वाली कसमसाती चोली, हाथों में लाल कसंबल चूड़ला, पांवों की पायजेब, कड़ों की रणक-झणक, बिछियों की रुन-झुन, कमर कंदोरे का ठाठ, माथे पर सुहाना की रखवाली, बोर-रखड़ी और पाग पछेवड़ा, बंडी-धोती, मावली धजदार चीरा तथा मावली साफा, होल्कारी पगड़ी और आलेखन की मृदुल, चटकीली और सजीव-मोहक छवि वाला रंग विधान/मालवा की लोक शैली और चित्राभ की अपनी पृथक पहिचान है।

इस चित्राभ के कलाकारों की स्थिति भी लोक कला के पराभव के साथ-साथ दयनीय होती स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। चित्रावण के वे कलाकार जो जाति परम्परा (पेशे) से जुड़े हुए थे, वे अब इससे विमुख होते जा रहे हैं। अथवा यूँ कहा जाये कि पारम्परिक चित्रावण की कला भी उनके हाथ से लुप्त होती दिख रही है।

इसी चित्रावण कला में हम छपाई-रंगाई और बंधाई की कला को भी लेंगे। ये कलाकार अब अपने-अपने काम से विमुख होते जाकर अन्य व्यवसायों से जुड़ने के लिए विवश हैं। मेलों में अंग-चित्रावण वाले गुदना कलाकारों की पीं-पीं करती मशीनें और अंग गुदवाती तरुणियों की मोहक सिसकारियाँ अब नहीं सुनाई पड़ती। फड़-चित्रावण अथवा कथा चित्र पट के कुशल चितरे अब कहाँ रह गये हैं अथवा फड़ वाचक-लोक गायक भी यजमानों से रूठे-रूठे लगते हैं। उनकी पेट भराई और आवभगत नहीं हो पाती।

संगीत और अभिनय कला के लिए मालवा पूरे भारत में प्रसिद्ध रहा है। गीत-संगीत और नाट्य की त्रिवेणी के पवित्र संगम में दूसरे अंचलों के गुणीजन रस सिंचित होकर स्वयं को आनंदित मानते रहे हैं।

राम दंगल, रामलीलाएँ, नकल, स्वाँग आदि अनेक लोक नाट्य मंच परम्पराएँ मालवा की रसमयता का बखान सर्वत्र करती रही हैं। ढारा-ढारी का खेल भी यहाँ प्रचलित रहा है। यह खेल 'ढारी' जाति के द्वारा प्रस्तुत किया जाता था। ढारी, हिन्दू-मुसलमान दोनों धर्मों को मानने वाली जाति है। पारम्परिक रूप से ये कृष्ण चरित्रों का मंचनकर अपना भरण पोषण करते हैं। ढारी लोग जाटों, सुनारों और छीपों से अपना नेग वसूल करते हैं। यह जाति अब भी मालवा में अनेक अंचलों में पायी जाती है, किन्तु अब लोक मंचन से विमुख होती जा रही है।

भुवाई लोक मंच की भी अपनी लोकप्रियता रही है। यह खेल भी भुवाई जाति के द्वारा ही अभिनीत होता था और रात-रात भर चलता था। अलग-अलग जातियों की अलग-अलग 'भुवाई' होती है। भुवाई भी एक जाति ही है। हर भुवाई अपनी निर्धारित जाति से ही नेग वसूलती है। नेग में कमी पड़ने पर भुवाई लोग रुष्ट होकर यजमान की बुराई उनके सामने तथा अन्य गाँवों में करते हैं, किन्तु वह बुराई भी अभिनय में तथा पद्यमय गीतों-बोलों में की जाती है। यजमान, देवपूजन की तरह अपने शुभ हेतु भुवाई नचाने का मन्त्रत मनौती लेते रहे हैं। इसमें समाज सुधार के प्रसंग अभिनीत होते हैं।

ऐसे ही अनेक कलाकार जो जाति परम्परा से नाट्य-संगीत और गीत संगम से अपना भरण पोषण तो करते ही हैं। साथ ही लोकरंजन भी करते हैं। अब उपेक्षा के कारण अपने को लोकजीवन से पृथक करते जा रहे हैं। भाट, भाण्ड, कनफोड़े जोगी, कालबेलिये, बहुरूपिये, नट, भुवाई, ढारी, मिरासी आदि अनेक जातियाँ जो अपने-अपने कला प्रदर्शन के माध्यम से लोकरंजन करती थीं। अब नहीं करती हैं या नहीं कर पा रही हैं। ये कलाएँ अब धीरे-धीरे उपेक्षित होकर लोकजीवन से विदा हो रही हैं। सारंगी पर भर्तृहरि और चिकारे, तंबूरे पर नायकों की विरूदावली गाने वाले लोकगायक अब कहाँ दिखते हैं।

अब लोक मंचों पर झाड़, कलिंगड़ा, पीलू, जोगिया, सिदू आदि अनेक शगनियाँ रस वर्षा नहीं करती हैं। सारंगी, इकतारा, तबला, ढोलक, मृदंग, मंजीरा, चंग, शहनाई, पुंगी आदि अनेक लोक वाद्य जो लोकनाट्यों व लोकनृत्यों के प्राण होते थे। अब कहीं-कहीं देखने को तो मिल जाते हैं, सुनने और आनंद प्राप्त करने को कदाचित ही मिलते हैं।

चौराहों पर गरबा नृत्य और बाना नृत्य नवरात्रियों में अपनी धजा बिखेरता तो है, किन्तु धीरे-धीरे यह धार्मिक दिखावा मात्र बनता जा रहा है और कहीं-कहीं तो मात्र पारम्परिक निर्वाह मात्र। उसकी वह तल्लीनता अब नहीं दिखती। न वह उत्साह, न वह तल्लीनता और न ही वह बाँकपन अब लोकनृत्यों में रहा है। गरबा के साथ लोक संगीत और गीत की जगह फिल्मी टेपगीत नहीं सुहाते।

मालवा का 'माच' तो अभिनय का अपना अलग ही स्थान रखता है। माच का केन्द्र उज्जैन, इन्दौर, धार, देवास, शाजापुर, मंदसौर, रतलाम तथा और भी अनेक स्थान जो अपने-अपने माच कलाकारों पर गर्व करते नहीं थकते थे। बाँस बल्लियों के ऊँचे-ऊँचे मंच और मंचों पर लोक कलाकारों की अभिनय प्रवीणता, खेलों की प्रस्तुति का मनोरंजन बखाना। 'ढोलक ताल बदल दे' की बीच-बीच में निर्देश तत्परता, सम्वादों की चतुराई भरी सम्प्रेषणीयता और गीतात्मक धजा माच की प्राणाधन होती थी। कम साधनों के होते हुए भी केवल सम्वादों और अभिनय के बलपर रात-भर दर्शकों को बाँधकर रखने की क्षमता होती थी, माच के माचियों में। उस्तादों की उस्तादी और शागिर्दों की शागिर्दी की परीक्षा माच में हो जाती थी। न तुरा कमजोर न कलंगी पुरजोर। काटे की जोड़। काटे की टक्कर और तलवार-बर्छी जैसी तेज-तीखी हम कलामी। लावनी की छटा माच की जान होती है। नगाड़ा, ढोलक, सारंगी, हारमोनियम माच के खास वाद्य हैं।

माच में कालांतर में कई प्रयोग हुए हैं। कई 'खेले' छूटे हैं। कई जुड़े हैं। थोड़ा आधुनिक भी हुआ है माच, किन्तु अब वह केवल कभी-कभार वाला खेल मात्र ही रह गया है।

पाषाण, मिट्टी, काष्ठ, बाँस आदि की सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ, खिलौनों और विविध गृह सज्जा, सामग्री बनाने वाले लोक

कलाकारों, फूल-गजरो के मालवी कलाकारों से मालवा सम्पन्न रहा है। इसकी ख्याति दूर-दूर तक रही है। मालवा के मूर्तिकार, वस्त्र बुनकरों, सन-जूट बुनकरों ने मालवा का यश सौरभ देश के आर-पार तक फैलाया है। इन लोक कलाओं की पेशेवर जातियाँ अपना पैतृक काम छोड़कर अन्य व्यवसायों में लगते जा रहे हैं।

मालवा की ये लोक कलाएँ और कलाकार दोनों संरक्षण और सहयोग के हकदार हैं। लोक चित्रावण हो या लोक नृत्य, लोकाभिनय हो अथवा लोक संगीत-गीत/लोक कथाएँ/गाथाएँ जिन्हें हमारे लोक कलाकार अपनी अद्भुत अभिनय शैली से अभिव्यक्त कर लोकरंजन करते रहे हैं। अब लुप्त हो रही हैं। यदि समय रहते उनका संरक्षण और प्रोत्साहन नहीं किया गया, तब वे नष्ट होते जायेंगी। हम उनका नाम तक भूल जायेंगे।

ऐसा नहीं कि इस दिशा में कुछ काम नहीं किया गया। किया गया है। मालवा के कलाकारों ने मालवा की चित्रकला और चित्रावण पर शोध कार्य किए हैं। इसी प्रकार लोक नृत्यों पर और नाट्यों पर महत्त्वपूर्ण काम किया है। हमें विद्वानों का आभारी होना चाहिए। लेकिन लोकजीवन में काम करने में जब हमारा लक्ष्य पी.एच.डी. प्राप्त करना होता है। तब केवल कुछ विद्वानों तक अपनी बात पहुँचाने से अधिक हमारा संदेश और संकल्प नहीं जा पाता। इसके लिए तो फकीरों और घुमकड़ों का जीवन जीना पड़ता है। डॉ. देवेन्द्र सत्यार्थी की तरह, नागार्जुन की तरह, देवीलाल सामर की तरह, डॉ. श्याम परमार, दादा चिन्तामणि उपाध्याय और दादा रामनारायण उपाध्याय तथा डॉ. महेन्द्र भानावत की तरह समर्पित होना पड़ेगा।

मालवा की चित्रावण तो बिखरी पड़ी है। उसे संग्रहित करना होगा, अनेक संगीतमय लोक गाथाएँ लोक गायकों के कंठ से विदा हो रही हैं। उन्हें सत्कार सहित व प्रस्तुतिकरण की शैली सहित संग्रहित करना होगा। पिछले वर्षों में मैंने सतत् तीन वर्षों की घुमकड़ी करके 'लोकनायक डूंग जी, जवार जी' की मालवी में गेय-गाथा जिसे भोपा नामक लोक गायक 'रणत्ये' पर गा-गाकर सुनाते हैं- संग्रह किया। किसी भी भोपा गायक को पचास से अधिक पंक्तियाँ याद नहीं हैं। घटनाक्रम से तो बिल्कुल नहीं। मैंने 1160 पंक्तियाँ संग्रहित की हैं। मालवा की पारम्परिक गेय लोक गाथा का इतना बड़ा खजाना लुप्त हो रहा था।

संत रामानंद की शिष्य परम्परा

अर्चना शुक्ला

किसी भी राष्ट्र की जनता की चित्तवृत्ति उस राष्ट्र की राष्ट्रियता का द्योतक होती है। इस चित्तवृत्ति को ही चेतना कहा गया है। चेतना अर्थात् चैतन्य, ज्ञान, बुद्धि, मनोवृत्ति आदि। इसी चेतना के उत्थान-पतन के साथ राष्ट्र का उत्थान-पतन होता है। भारत की अंतरात्मा परलोक की साधना में ही इहलोक की सार्थकता मानती है। आत्मा और परमात्मा की एक साधना का निर्देश करने वाली मधुर वाणी का, भारतीयों की भावना, रूचि और आकांक्षा के ऊपर सदा से अधिकार रहा है। भारतीय जीवन में संचार करने वाली आध्यात्मिक प्रवृत्ति की संत परम्परा के उद्गम अत्यंत प्राचीनता के कोहरे में छिपे हुए हैं। युग-युगान्तर को पार करती हुई यह धारा अबाध रूप से बहती चली आ रही है। यह प्रवाह भूमि के अनुरूप कभी सिमटती, कभी फैलती, कभी बालू में विलीन होती और फिर प्रकट होती हुई अनेक रूप धारण करती आई है।

पन्द्रहवीं शताब्दी में इस धारा ने जो रूप धारण किया, वह संत सम्प्रदाय कहलाया। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तकों ने अपने सर्वजन उपयोगी उपदेशों के लिये जनभाषा को अपनाया। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि अनेक कारणों ने मिलकर इस संत सम्प्रदाय को नवीनता और भाव की वह गहनता प्रदान की, जो इसकी विशेषता है। इस संत सम्प्रदाय में संत रामानंद विशेष स्थान रखते हैं। इन्होंने वैष्णव सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया।

संत रामानंद का जन्म सम्वत् 1356 में प्रयाग में हुआ, इनकी माता का नाम सुशीला और पिता का नाम पुण्यसदन था। संत राघवानंदजी इनके गुरु थे, इन्होंने से दीक्षा लेकर काशी के पंचगंगा घाट पर झोपड़ी में रहकर तप आरम्भ किया। रामानंद के अल्प आयु

के योग थे। इनके गुरु ने इन्हें योग साधना सिखाकर इन्हें आसन मृत्यु से बचाया। फिर वे दीर्घायु हुये, संत नाभादास ने एक दोहा लिखा है-

*बहुत काल वपु धार के, प्रनत जनम को पार कियो।
श्री रामानंद रघुनाथ ज्यों, दूतिय सेतु जगतरन कियो।।*

अरबों ने और उसके बाद इस्लाम धर्म में प्रवेश कराने वाली अन्य जातियों ने देश-देशान्तर में विनाश का तांडव उपस्थित कर दिया। मुसलमानों की भारत विजय के बाद उत्तर भारत में राघवानंद, रामानंद और वल्लभाचार्य जी के प्रयत्न से वैष्णव भक्ति का उदय हुआ। रामानंदजी ने सीताराम की भक्ति का प्रतिपादन किया, जिसके अनुसार संसार केवल दुःख का आगार मात्र है। वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रचारित भक्ति की धारा में हिन्दू फिर से उत्सुकता के साथ डुबकी लगाने लगे। इस संत सम्प्रदाय ने जो आंदोलन चलाया, उसका उद्देश्य अज्ञान और अंध परम्परा का निराकरण था। संत रामानंद ने लोगों को जागृत किया। रामानंद के शिष्यों में संत कबीर, पीपा, दादू, नामदेव प्रसिद्ध हैं। इनमें संत कबीर को साहित्य में विशेष स्थान मिला। कहते हैं कि कबीर जाति से मुस्लिम थे, रामानंद पहले मुसलमान को शिष्य बनाने में हिचके, इस पर कबीर ने युक्ति सोची। रामानंदजी पंचगंगा घाट पर रहते थे और सदैव ब्रह्ममुहूर्त में गंगा स्नान करने जाया करते थे। एक दिन जब कबीर ने देख लिया कि रामानंद स्नान करने के लिये चले गये तो सीढ़ी पर लेटकर उनके लौटने की बाट जोहने लगे। रामानंद लौटे तो उनका पाँव शरीर से टकरा गया। यह सोचकर कि हमसे बिना जाने किसी का अपकार हो गया। रामानंद राम-राम कह उठे। कबीर ने प्रसन्न होकर कहा कि किसी तरह आपने दीक्षित कर अपने चरणों में स्थान तो दिया। कबीर के इस अनन्य भास से रामानंदजी इतने प्रभावित हो गये कि उन्होंने कबीर को तत्काल अपना शिष्य बना लिया। कबीर जुलाहा और एकेश्वरवादी थे। अध्यात्म पथ में पथ प्रदर्शक गुरु की खोज करते हुये वे हिन्दू साधुओं और मुसलमान फकीरों के पास गये और अंत में रामानंद के चेले हो गये।

कबीरदास जी ने स्वयं लिखा है कि -

हम काशी में प्रकट भये रामानंद चेताये।

उत्तर भारत में परिस्थितियाँ दूसरे प्रकार की थी, यहाँ वर्ण व्यवस्था में असंतोषजनक स्थिति थी। संत रामानुज, राघवानंद और स्वामी रामानंदजी आदि आचार्यों द्वारा प्रवर्तित वैष्णव धर्म की लहर जब उत्तर भारत में आई तो उस पर परिस्थितियों ने अपना प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया। दक्षिण से आने वाली वैष्णव धर्म की इस नवीन लहर के सबसे पहले दर्शन हमें रामानंद में होते हैं।

स्वामीजी ने उत्तरभारत की परिस्थितियों को बहुत अच्छी तरह से समझा। उन्हें इस बात का अनुभव हुआ कि लोगों में सच्ची लगन पैदा हो गई है, उसे दबा देना अनुचित है। अतः उन्होंने परमात्मा की भक्ति का दरवाजा सबके लिये खोल दिया है। उन्होंने बैरागी सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। भगवत् भक्ति के क्षेत्र में उन्होंने यह भावना उत्पन्न कर दी, जिसके अनुसार- 'जाति-पाति पूँछे नहीं कोई, हरि सो भजे सो हरि का होई।' भक्ति के क्षेत्र में उन्होंने वर्ण विभेद और धार्मिक विद्वेष को स्थान नहीं दिया। राष्ट्रीय चेतना को जागृत करते हुए इन्होंने ऊँच-नीच, हिन्दू-मुस्लिम सबको अपना शिष्य बनाया। भविष्य पुराण से पता चलता है कि राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ संत रामानंदजी ने सामाजिक चेतना भी जगाई। कहते हैं कि फैजाबाद के सूबेदार ने कुछ हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बना दिया था। रामानंदजी ने उन्हें फिर हिन्दू बना लिया, यह लोग संयोगी कहलाये और अयोध्या में रहने लगे। 'भविष्य पुराण के अनुसार रामानंदजी ने इस अवसर पर ऐसा चमत्कार दिखाया कि इन लोगों के गले में तुलसी की माला, जीभ पर रामनाम और माथे पर श्वेत रक्त तिलक अपने आप प्रकट हो गया।' कुछ लोगों का यहाँ तक कहना है कि उन्होंने खान-पान के नियमों को भी शिथिल कर दिया। कहा जाता है कि मूल श्री सम्प्रदाय को स्वामी रामानंदजी की यह उदार प्रवृत्ति अच्छी नहीं लगी, इससे रामानंदजी को अपना अलग सम्प्रदाय चलाने की आवश्यकता का अनुभव हुआ, जिसे चलाने के लिये उन्हें अपने गुरु राघवानंदजी की अनुमति मिल गई। परन्तु रामानंदजी ने भी परम्परागत कट्टर परिस्थितियों में शिक्षा-दीक्षा पाई थी। इसलिये यह आशा नहीं की जा सकती थी कि उन्मेष प्राप्त कुछ लोगों की आकांक्षाओं को वे पूर्ण कर सकें। शास्त्रोक्त मर्यादा के परमभक्त गोस्वामी तुलसीदास जी रामानंद की ही शिष्य परम्परा में थे, इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने

भक्ति के उपदेशों और तत्त्व ज्ञान को बेहिचक अपनी वाणी के द्वारा सब में प्रचारित किया।

सामाजिक क्षेत्र में जाति-पाँति का जो संकोच होता है, उसका निराकरण स्वामी रामानंदजी ने किया और उनके शिष्य कबीर के हिस्से में भी यह आया, जिनके द्वारा नवीन विचारधारा को पूर्ण अभिव्यक्ति मिली। जब समय पाकर धीरे-धीरे विकसित होकर यह आध्यात्मिक आंदोलन निर्गुण सम्प्रदाय के रूप में प्रकट हुआ, तो मालूम हुआ कि केवल एक से सुख-दुःख, हर्ष-विषाद और आशा-आकांक्षाओं के कारण ही हिन्दू-मुसलमान एक नहीं हैं, बल्कि उनके धार्मिक सिद्धांत में भी जो इस समय दोनों जातियों को एक-दूसरे से बिल्कुल अलग किये हुये थे, कुछ समानता थी। दोनों धर्मों के संघर्ष से जो विचारधारा उत्पन्न हुई, उसी ने उस संघर्ष की कटुता को दूर करने का काम भी अपने ऊपर लिया। सम्मिलन की भूमिका का मूल आधार हिन्दुओं के वेदांत और मुसलमानों के सूफी मत ने प्रस्तुत किया है। सूफी मत भी वेदांत का एक रूप है, जिसमें उसने गहरे रंग का भावुक बाना पहन लिया और इस्लाम की भावनाओं पर इस प्रकार व्याप्त हो गया है कि उसमें अजनबीपन जरा भी न रहा और उसे वहाँ भी मूल तत्त्व का रूप प्राप्त हो गया। इस नवीन दृष्टिकोण की पूरी अभिव्यक्ति कबीर में मिली जो मुस्लिम होते हुये भी हिन्दू साधुओं की संगति में बहुत रहे और स्वामी रामानंदजी के चरणों में बैठकर उन्होंने प्रेमपुष्ट वेदांत का ज्ञान किया और शेख नवी के संसर्ग में सूफी मत का। सूफी मत और उपासनापरक वेदांत दोनों ने मिलकर कबीर के मुख से घोषित कराया कि परमात्मा एक और अमूर्त है। मनुष्य का हृदय ही उसका मंदिर है। अतः बाहर न भटककर ईश्वर को हृदय में ही ढूँढना चाहिए। कबीर के साथ-साथ यह भावना रामानंदजी में ही पूर्ण हो गई थी।

स्वामी रामानंदजी ने देश और धर्म का महान कल्याण किया है। उनका दिव्य तेज राष्ट्रीय क्षेत्र में भी उसी प्रकार चमकता था, जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में। आर्य जाति भगवद् धर्म के

अभ्युत्थान के लिये जैसे शक्तिशाली और प्रभावशाली आचार्य की आवश्यकता थी, स्वामी रामानंदजी वैसे ही जगतगुरु थे। ये संसार का कल्याण करने वाले भक्तों का आधार और प्रेम भक्ति के खजाने थे। इन्होंने बहुत काल तक शरीर को धारणकर शरणागत जीवों को संसार सागर से पार किया है। जिस प्रकार श्रीराम जी ने वानरों की सेना को पार करने के लिये समुद्र में पुल बनाया था, उसी प्रकार श्री रामानंदजी ने संसारी जीवों को भवसागर से पार करने के लिये अपनी शिष्य परम्परा से सेतु का निर्माण कराया। रामानंदी सम्प्रदाय में संत रामानंदजी को राम का ही अवतार मान लिया गया है-

श्री रामानंदी रघुनाथ ज्यों, दमतिय सेतु जग-तरन कियो।

संत कबीर ने अपने ग्रंथ बीजक में लिखा है -

रामानंद रामरस्समाते। कहहिं कबीर हम कहि-कहि थाके।।

संत रामानंदजी ने अपने परमधाम गमन के पूर्व अपनी शिष्य मंडली से कहा था कि सब शास्त्रों का सार भगवत स्मरण है, जो सच्चे अर्थ में मानव समाज विशेष रूप से संतों का जीवनाधार है। जाति-पाँति के सब बंधनों के तोड़ देने की प्रवृत्ति, अद्वैतवाद, शांत जीवन, बाह्य कर्मकाण्ड से ऊपर उठने की इच्छा सब उनमें विद्यमान थी।

रामानंदजी का महत्त्व केवल इसी बात में नहीं है कि निर्गुण सम्प्रदाय के किसी अंग विशेष को प्रभावित किया, अपितु उन्होंने निर्गुण सम्प्रदाय को अपना रूप धारण करने की प्रेरणा देने वाले विकास क्रम को ही पूर्णता प्रदान की। इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी में न कि सम्पूर्ण उत्तर भारत बल्कि पूरे भारत के साथ-साथ विश्व में भी रामानंदजी ने राष्ट्रीय चेतना के माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करते हुये भारत को विश्व के समक्ष एक समृद्ध राष्ट्र की छवि के रूप में प्रस्तुत किया, जो कि आज भी अक्षुण्ण है।

संदर्भ

कबीर- कबीर पंथ, कबीर, कबीर ग्रंथावली, पीताम्बर दत्त बड़थवाल-हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा, संत कबीर-बीजक, गीता प्रेस गोरखपुर, कल्याण

रंग-संगीत के कुछ पहलू

अभिषेक त्रिपाठी

रंगकर्मी होना आसान नहीं है। रंगकर्म दीर्घ साधना की माँग करता है। रंगकर्म का महत्वपूर्ण पक्ष है- रंग-संगीत। रंग-संगीत, रंगमंच और रंग-यात्रा का एक दिलचस्प तरीका है। रंग-संगीत, संगीत की कोई विधा नहीं है, बल्कि यह तो थिएटर के लिए बनाया गया हर किस्म का संगीत भी है और वे समूचे ध्वनि प्रभाव भी, जो संगीतमय भी हो सकते हैं और नहीं भी। जैसे-जैसे एक 'प्रोडक्शन' आकार लेता है, वैसे-वैसे ही इसका संगीत भी तैयार होता चला जाता है। जो संगीत तैयार होता है, जरूरी नहीं कि सिर्फ वही उसके लिए योग्य या श्रेष्ठ हो, क्योंकि थिएटर या कोई भी रचनात्मक विधा वैयक्तिक निजता पर बहुत ज्यादा निर्भर रहती है। इसीलिए एक नाटक के लिए अलग-अलग निर्देशकों ने विभिन्न शैलियों में काम किया और सभी की अपनी विशिष्टताएँ उन नाटकों में मौजूद हैं। यही बात रंग-संगीत पर भी शत-प्रतिशत लागू होती है।

रंग-संगीत में गीत-संगीत के अलावा हर प्रकार के ध्वनि प्रभावों का समावेश रहता है, जिसे संगीत निर्देशक, नाट्य निर्देशक के साथ विमर्श करके तैयार करता है। मेरी दृष्टि में रंग-संगीत मुख्यतः दो प्रकार का होता है। एक तो वह जो संगीत और नाटक की परम्परागत धारणाओं के दायरे में रहकर तैयार होता है और दूसरा इन धारणाओं से इतर कुछ प्रयोगात्मक होता है। ये प्रयोग संगीत रचना या ध्वनि प्रभावों दोनों में हो सकते हैं। जैसे मेरे मित्र ने एक नाटक में दो पात्रों के बीच सत्ता संघर्ष से उत्पन्न ईर्ष्या के मनोभाव को व्यक्त करने के लिए एक प्रयोग किया। एक पात्र को न चाहते हुए भी दूसरे पात्र पर तरजीह देकर एक खास राजनैतिक जिम्मेदारी सौंपे जाने पर दूसरा पात्र जल-भुनकर राख हो जाता है। जैसे ही उसे ये खबर सुनाई जाती है; पार्श्व से गर्म किए हुए तवे पर दो चुल्लू पानी डाल

दिया जाता है और वह उत्पन्न ध्वनि प्रभाव दूसरे पात्र के मनोभाव को भलीभाँति इंगित कर देता है। तो यह एक प्रयोग है, जो परम्परागत नहीं है। पर यह भी रंग-संगीत का ही हिस्सा है। प्रयोगधर्मी रंगकर्मी ऐसे अनगिनत प्रयोग करते रहते हैं और रंग-संगीत समुन्नत और प्रभावी होता जाता है।

मैंने अपने एक नाटक 'कहानी ले लो' में एक प्रयोग किया। दो गहरे दोस्तों में एक दृश्य में धन को लेकर भेद पैदा होता है और झूठे दोस्त के मन में लालच आ जाता है, वह जैसे ही अपने दोस्त को धोखा देने के लिए सोचता है, वहीं पर पार्श्व से कोरस में कैंची की आवाज साथ-साथ, जैसे कपड़े को चीरती जाती है, खच-खच-खच... सुनाई देती है और दोस्त के मन का वह दुराव इस आवाज और अनुषंगी अभिनय क्रिया द्वारा इंगित हो जाता है। तो यह भी रंग-संगीत का ही हिस्सा है।

रंग-संगीत में गहरे उतरने पर पता चलता है कि यह तो जीवन का संगीत है, चाहे वह तबे पर पानी गिरने का संगीत हो या कैंची के चलने का संगीत। चाहे वो मन में भावों की लहरें हों या शरीर में उठने वाली तरंगें। जीवन में जन्म से मृत्यु तक हर जगह संगीत है, ध्वनियाँ हैं, भाव हैं और यही सब एकाकार होकर जीवन को रंग देते हैं। कहीं न कहीं इसी जीवन का वृहद् अनुभव रंग-संगीत को विस्तार देता है, नए आयाम देता है तो जितना गहरे आप जीवन के अनुभवों में उतरते जाएँगे, गोते लगाएँगे, आपका रंग-संगीत भी उतना ही- जीवन के नजदीक, सच्चा, सार्थक होता जाएगा और जब डूबने का आनन्द प्राप्त होने लगे, तो लगता है कि वहाँ यह तो बड़ा ही आसान था। इसीलिए जीवन से जुड़ाव, जैसे हर कला माँगती है, रंग-संगीत भी माँगता है। जुड़ने का मतलब ही खो जाना है। दो का अस्तित्व खत्म और एक नया अस्तित्व।

रंग-संगीत की व्यापकता अनन्त है। रंग-संगीत के लिए जो सबसे अनिवार्य कौशल है, वह है- जीवन। यदि आप अपने अन्दर जीवन्त होने का प्रमाण पाते हैं तो आप रंग-संगीत तैयार करने की क्षमता रखते हैं। जीवन्तता जितनी अधिक और सार्थक होगी, आपका रंग-संगीत या कहें कोई भी कला उतनी ही प्रभावोत्पादक होगी। जीवन के विविध आयाम और अनुभव रंग-संगीत को जहाँ समृद्ध करते हैं, वहीं नये प्रतिमान रचने के लिए अनायास ही वे बाध्य भी कर देते हैं। यह जीवन्तता हमारे अन्दर

सम्वेदना पैदा करती है या उसका स्तर बढ़ाती है। जैसे-जैसे सम्वेदना का स्तर बढ़ता जाता है, नये-नये प्रतिमान रचने की बाध्यता बलवती होती जाती है। यह बाध्यता ही आपके रंग-संगीत में आकर उतर जाती है और रचनात्मकता अपने चरम को पाने की दिशा में बढ़ने लगती है।

सूखे आम के फल से रस नहीं निकल सकता। रस के लिए आम का रसीला होना जरूरी है और यह रस एक प्रक्रिया से बनता है। वैसे ही कलाकर्म में किसी भी प्रकार का रस बिना प्रक्रिया पूर्ण हुए प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह प्रक्रिया निश्चित रूप से अलग-अलग स्थितियों में अलग होगी। रंग-संगीत के महत्त्व और रसानुभूति की उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा गया है। नाट्यशास्त्र में गीतों को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। नाट्यशास्त्र के व्याख्याता अभिनवगुप्त तो लिखते हैं कि-

प्राणभूतं तावद् ध्रुवागानं प्रयोगस्य।

-अर्थात् गान नाट्य-प्रयोग का एक सामान्य अंग न होकर उसका प्राण ही है। यह बात ठीक भी प्रतीत होती है। गीत न केवल प्रेक्षकों को आकृष्ट एवं प्रसन्न ही करते हैं, वरन् वे रसानुभूति कराने में भी परमोपयोगी होते हैं।¹

इस कथन का मर्म यह है कि रस मिलना चाहिये। प्रश्न यह है कि रस कैसे मिले? इस रसोत्पत्ति की क्रिया को कैसे पाया जाए? आम को रसीला कैसे बनाएँ? इसके लिए 'रॉ मटेरियल' चाहिए। ये 'रॉ मटेरियल' है- अनुभव। अनुभव हम हर पल, हर घड़ी प्राप्त कर रहे हैं, यह इसलिए क्योंकि हम जी रहे हैं, हम जीवन्त हैं। यह अनुभव हर व्यक्ति को हर जगह अपने-अपने तरीकों से प्राप्त हो रहा है। यह अनुभव हर किस्म का है। अब सवाल उठता है कि जब प्रारम्भिक माल या 'रॉ मटेरियल' मौजूद है तो फिर रसीला आम बनना क्या मुश्किल है। नहीं, इस रॉ मटेरियल को रस में परिवर्तित करने के लिए एक उत्प्रेरक की महती आवश्यकता होती है। यह उत्प्रेरक है- हमारी सम्वेदना। सम्वेदना लगाव से, प्यार से, विश्वास से पैदा होती है। यही हमारी सर्वोच्च वैयक्तिकता का आधार है। किसी चीज को, घटना को देखने का, जानने का, समझने का, अनुभव करने का हमारा नजरिया हमारी सम्वेदनात्मक क्षमता का पैमाना है। हम जितना लगाव महसूस कर सकेंगे, उतना ही अनुभूति के नजदीक पहुँच सकेंगे और हमप्राण

भी हो सकेंगे। यही हमप्राण होना प्यार की निशानी है और विश्वास पनपने का रास्ता भी। तभी हम उस सम्बेद को अपने अन्दर अनुभूत कर पाते हैं। सम्बेद की यह अनुभूति ही सम्बेदना है।

जाहिर है कि सम्बेदना ही सौन्दर्यानुभूति का कारक है। सौन्दर्य के अनुभव के बारे में मान्यता है कि- 'ऐसा प्रतीत होता है कि सौन्दर्य के जो प्रतिमान अस्तित्व में हैं, वे व्यक्ति के निजी अनुभवों पर आधारित हैं। चाक्षुष अनुभूति चाक्षुष स्मृतियों का एक विशाल भण्डार तैयार करती है और फिर ये चाक्षुष अनुभूतियाँ अपने समरूप ही चाक्षुष क्षुधाओं को जन्म देती हैं।'²

जब हम अपनी और दर्शक की इन चाक्षुष क्षुधाओं को अपनी वृहत्तर सम्बेदना के द्वारा पूर्ण करने में सक्षम हो जाते हैं तो सौन्दर्य साकार हो उठता है। इन चाक्षुष क्षुधाओं की गहरी समझ हमारा सौन्दर्यबोध बढ़ाती है और हम इसी सौन्दर्य बोध के द्वारा अपनी रचनात्मक वैयक्तिक निजता प्राप्त करते हैं। चूँकि हर व्यक्ति का सम्बेदनात्मक स्तर अलग होता है, नजरिया अलग होता है। अतः हर व्यक्ति का सौन्दर्यबोध भी भिन्न होता है। यही वैयक्तिक निजता हमारी अपनी विशेषता होती है, जो हमारी रचनात्मकता को सबसे अलग बनाती है। जैसे ही हम इस विशेषता को आत्मसात् करते हैं, वैसे ही हम एक असीमित रचनात्मक दायरे में पदार्पण करते हैं। यह वैयक्तिक निजता हमें परम्परा में चलने या उससे आगे बढ़कर प्रयोगधर्मिता को अपनाने के लिए निर्णयात्मक क्षमता प्रदान करती है। इसी के कारण हम नये-नये विचारों को अपने रचनाकर्म में स्थान देते हैं और यही रचनात्मक विविधता और नवीनता रंग-संगीत को बेहद धारदार और प्रभावशाली बना देती है। यह रस-निष्पत्ति हेतु तैयारी है। यह प्रक्रिया जितनी गहन, सुदृढ़ और सुचारू होगी- एक कलाकार द्वारा उतना ही समर्थ रंग-संगीत रचा जा सकेगा। यह एक विचार प्रक्रिया है, जिसका पूर्ण होना एक कलाकार के लिए निहायत ही जरूरी है और जिसकी पूर्णता के बिना बाकी सांगीतिक कौशल किसी काम का नहीं हो सकता। इस जीवन के कौशल के बाद ही सांगीतिक कौशल या अन्य कौशल अच्छे रंग-संगीत के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

रंग-संगीत की महत्ता पर डॉ. आशीष त्रिपाठी का मानना है- 'संगीत रंगमंच पर सम्प्रेषण का सशक्त माध्यम है। पाठ और अभिनेता को छोड़कर सम्भवतः संगीत ही विश्व की सभी रंग

संस्कृतियों में बहुस्तरीयता, बहुआयामिता के साथ प्रयुक्त होता रहा है। यथार्थवादी नाटकों को छोड़कर संस्कृत, लोक, पारसी, ब्रेख्तिगन, शेक्सपीरियन तथा ग्रीक लगभग सभी तरह के नाटकों में अभिनेता के वाचिक अभिनय के विस्तारित रूप में गीतों की प्रभावी योजना की जाती रही है।'³

रंग-संगीत का महत्त्वपूर्ण योगदान रंगभाषा के निर्माण में होता है। जिस प्रकार नाटक का हर पहलू अपना वैशिष्ट्य रखता है, चाहे वह कथावस्तु हो, अभिनय हो, सेट हो, लाइट्स हो, वैसे ही रंग-संगीत भी महत्त्वपूर्ण होता है और रंग-प्रस्तुति का एक अभिन्न अंग होता है। इन सभी अवयवों की अन्तःक्रिया रंगभाषा का निर्माण करती है। 'रंगभाषा में नाटक का आलेख, अभिनय, रंग-संगीत और विविध आहार्य माध्यम अन्तःक्रिया करते हुए समाहित होते हैं।'⁴

आधुनिक रंग-संगीत का विकास भारत में मुख्य रूप से पारसी थिएटर के मार्फत हुआ, ऐसा माना जा सकता है। क्योंकि रंग-संगीत को आधुनिक समय में विभिन्न संस्कृतियों के मिश्रित संगीत की तरह इस्तेमाल करना सम्भवतः पारसी थिएटर से शुरू हुआ होगा। वैसे तो हर रंग संस्कृति में, चाहे वह संस्कृत नाटक हो, या लोक नाटक या फिर पाश्चात्य नाटक। जिस प्रकार संस्कृत और लोक नाटकों या फिर पाश्चात्य नाटकों में पूर्वरंग के रूप में आकर्षक संगीत के द्वारा दर्शकों को प्रस्तुति देखने हेतु तैयार किया जाता था, ठीक वैसे ही पारसी थिएटर में भी रिच म्यूजिक का उपयोग आधुनिकता के साथ होता था। इस अत्यन्त रोमांचक अनुभूति के बारे में हबीब तनवीर ने लिखा है- 'अजब जादू का सा समा होता था, झिलमिल करते हुए जर्री लिबासों की चकाचौंध।... चूना पोते हुए सफेद, पीले, गुलाबी और नीले चेहरे, आँखों और भँवों की सियाह उभरी हुई लकीरें, गालों और लबों की सुर्खी, चमकते हुए गहने और सुर ताल से गूँजता कोरस। यह सारा एहतिमाम (व्यवस्था) एक अजीब कैफियत सारे हाल में तारी कर देता था।'⁵

पारसी रंगमंच और रंग-संगीत अत्यन्त प्रभावी रूप में प्रस्तुत होता था। इसकी पब्लिसिटी और इफेक्ट इस बात से भी समझा जा सकता है कि नाटक के प्रोड्यूसर्स-डायरेक्टर्स की विशेष नीयत होती थी कि गीतों की संख्या पर्याप्त हो। डॉ. आशीष त्रिपाठी लिखते हैं कि- 'वाद्यवृन्द पूरे नाटक के दौरान मंच पर

बैठा रहता और यथावसर गीतों, पाठ्यछन्दों, गजलों, सम्वादों में सहायक संगीत तथा पूरे नाटक में यथोचित पार्श्व संगीत देता रहता। वाद्यवृन्द की यह सतत् उपस्थिति भारतीय रंगमंच पर एक नई घटना थी। संगीत पारसी नाटकों और रंगभाषा का एक अहम हिस्सा था।⁶

रंग-संगीत कितना प्रभावी हो सकता है, इसका जीवन्त उदाहरण पारसी थिएटर है, जहाँ बना संगीत नाट्याकल्पना सम्भव नहीं थी। हालाँकि व्यावसायिकता के अपने नुकसान भी रहे होंगे। अतिरंजना के कारण ही कालान्तर में पारसी थिएटर कमजोर पड़ गया होगा। पर पारसी थिएटर के रंग-संगीत ने हमारी फिल्म इण्डस्ट्री को जो महान परम्परा दी है, वह है युगल-गीत की परम्परा। देवेन्द्रराज अंकुर मानते हैं कि- 'युगल गीत की उद्भावना यह पारसी नाटकों की अपनी एक ऐसी मौलिक खोज है, जिसका प्रचलन न तो हमारे शास्त्रीय या लोक रंगमंच में ही दिखाई पड़ता है और न ही इसकी किसी प्रकार की परम्परा के संकेत पाश्चात्य रंगमंच के इतिहास में कहीं भी दिखाई पड़ते हैं। अपने अस्तित्व के बाद आविष्कृत फिल्म जैसे माध्यम में इस युक्ति का प्रयोग वास्तव में पारसी नाटक की ही देन है।'⁷ पारसी थिएटर अपनी तरह का स्टाइलाइज्ड थिएटर था। इसने हमारी रंग परम्परा ही नहीं, वरन् कला की अनेक व्यावसायिक शैलियों को भी अपना अवदान दिया है। इस चर्चा से यह बात समझी जा सकती है कि ग्रहणशीलता, कल्पनाशीलता, प्रयोगधर्मिता आदि हर कला की तरह रंग-संगीत के भी महत्वपूर्ण गुण हैं और इन्हीं सबकी बदौलत ही एक कला दूसरी की कला के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है और आपस में विभिन्न किस्म के विनिमय भी करती है।

कहना न होगा कि भारत में रंग-संगीत के अभिनव प्रयोग विचार के स्तर पर भी होते रहे हैं, तकनीक के स्तर पर भी और ग्रहण करने के स्तर पर भी। इसी सुगमता के कारण हमने अनेक नाटकों का बेहतरीन रंग-संगीत सुना है। जिन्होंने भी वरिष्ठ रंगकर्मियों के नाटकों का संगीत सुना है, वह समझ सकते हैं कि हमारी रंग-संगीत की परम्परा कितनी विशाल, ग्रहणशील और प्रयोगधर्मी रही है। कहना होगा कि रंग-संगीत के मामले में हमने ग्लोबलाइजेशन की धारणा को बहुत पहले से ही आत्मसात् किया हुआ है। इसीलिए हम इतने अद्भुत विस्तार वाले रंग-संगीत की परम्परा को हासिल कर सके हैं।

हर कलाकर्म, रचनात्मक कर्म एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के जरिये ही कार्य-व्यापार में आता है, इसीलिए इस प्रक्रिया को सुदृढ़ और गहन बनाने के लिए मनोविज्ञान को सकारात्मक ऊर्जावान, खुला हुआ बनाये जाने की आवश्यकता होती है। इसे अच्छी कलावन्त संगत के माध्यम से नियंत्रित किया जा सकता है। निदा फाजली ने लिखा है कि-

*अच्छी संगत देखकर संगी बदले रूप
जैसे मिलकर आम से मीठी हो गयी धूप*

इससे हमें सकारात्मक ऊर्जा तो मिलती ही है, साथ ही साथ दिशात्मक बोध भी प्राप्त होता है, जो लक्ष्य के साधन में सर्वथा सहायक होता है। सन्तुलित मनोविज्ञान, अच्छी सुदृढ़ प्रक्रिया हमें इतना सामर्थ्य प्रदान करती है कि हम अपने सांगीतिक एवं अन्य कौशल से बेहतरीन रचनात्मक समर्थ रंग-संगीत की परिकल्पना कर सकते हैं और अपनी वैयक्तिक निजता का निर्वहन करते हुए एक सार्वभौमिक संगीत रचना से रंगकर्म को अपना योगदान दे सकते हैं।

सन्दर्भ

1. डॉ. शिवशरण शर्मा, आचार्य भरत, पृ.-183
2. डॉ. रामकीर्ति शुक्ल, सौन्दर्य का तात्पर्य, पृ.-06
3. डॉ. आशीष त्रिपाठी, समकालीन हिन्दी रंगमंच और रंगभाषा, पृ.-06
4. देवेन्द्रराज अंकुर, समकालीन हिन्दी रंगमंच और रंगभाषा,
5. सं. प्रतिभा अग्रवाल, हबीब तनवीर, नटरंग-50, पृ.-93
6. डॉ. आशीष त्रिपाठी, समकालीन हिन्दी रंगमंच और रंगभाषा, पृ.-273
7. देवेन्द्रराज अंकुर, रंग कोलाज, पृ.-92

लोक गीतों के रचना विधान

डॉ. मालती शर्मा

किसी भी कलाकृति के सम्यक् आकलन के लिये यह आवश्यक है कि उसे रचना के पूरे विधान और समग्रता में देखा जाय, जिसमें वह रची गई है। पिछले दो तीन दशकों में विभिन्न जनपदों और अंचलों के लोक साहित्य एवं लोकगीतों पर बहुत अध्ययन और शोध कार्य हुआ है। लेकिन सम्पूर्ण शोध और सारी समीक्षा में विवेचन के पैमाने वही शिष्ट साहित्य के रहे। लोकगीतों को उन्हीं रस, अलंकार, छंद एवं उक्ति वैचित्र्य आदि की दृष्टि से खण्ड-खण्ड कर देखा-परखा गया। यह बात नहीं है कि इस दृष्टि से अध्ययन आवश्यक नहीं है, पर इससे लोकगीतों का अपना रचना शास्त्र उजागर न हो सका। लोकगीतों के वे विशिष्ट पैटर्न, गीत रचना के वे ढाँचे सामने न आ सके, जिन पर सहस्रों की संख्या में गीत बने, जो सामाजिक परिवेशानुरूप परिवर्तित तो होते रहे, पर मिटे नहीं और जो किसी एक बोली, एक प्रांत, एक जनपद की सीमाओं में आबद्ध नहीं है।

संरचना लोकगीतों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्व है। वह लोकगीत की रीढ़ ही है। उसी में लोकगीत की पूरी परिकल्पना उभरती है और किसी भी जनपद के भाषिक, सांस्कृतिक, समाजशास्त्रीय, भौगोलिक एवं आर्थिक पक्ष विशिष्ट छवियों में उभरकर सामने आते हैं। पर इस दृष्टि से लोकगीतों का विश्लेषण आज भी नितान्त अछूता है। इस तरह का अध्ययन अपने आपमें तो महत्व का है ही, यह अनुशीलन 15वीं-16वीं शती के हिन्दी साहित्य के अनेक काव्य रूपों एवं गीत शैलियों के मूल उत्स खोजने में भी एक सहायक एवं निर्णायक पक्ष होगा।¹

बधाई, बारहमासा, चौमासा, स्वयंवर, मंगल, हिंडोला, चाँचर आदि काव्य रूप लोकगीतों का ही दाय है, पर अभी इस दिशा में और खोज अपेक्षित है। पर लोकगीत किन तीलियों के सहारे खड़े होते हैं? उनकी रचना के आधार क्या हैं? लोकगीतों की रचना का एक आधार तो कहानी होती है, जिसके सहारे अनेक छोटे-बड़े कथागीतों की रचना हुई है, पर ऐसे भी तो गीत हैं, जिनमें कहानी नहीं होती और निश्चित रूप में इनकी संख्या भी बहुत बड़ी है। तब इनके रूपायन के कौन से रचना विधान हैं, जिसका आधार ग्रहण कर भाव गीत का रूप पा लेता है?

लेकिन इससे भी पहले का प्रश्न है कि रचना विधान क्या है? साहित्य विवेचन में रचना विधान, रचना शैली काव्य रीति आदि शब्द सुपरिचित हैं। ये शब्द विषय के गठन और प्रतिपादन प्रक्रिया का सामान्य सा बोध तो देते हैं, पर अंग्रेजी शब्द फार्म² के समान रूपात्मक गठन के सभी उपकरणों, विस्तार तथा सीमाओं को दूनी क्षमता के साथ अकेले व्यक्त नहीं कर पाते। हिन्दी का शिल्प शब्द ऐसा है। लोकगीतों के संदर्भ में रचना विधान यहाँ फार्म के व्यापक अर्थ में ही गृहीत है। लोकगीतों की रचना के नियम मात्र नहीं, जैसाकि सामान्यतः विधान शब्द का अर्थ लिया जाता है।

लोकगीतों के रचना विधान से मेरा तात्पर्य गीत सृष्टि के विभिन्न अंगों के सुनियोजन, रूप संगठन के वैशिष्ट्यपूर्ण पैटर्नों से है, कुछ विशिष्ट क्रम युक्त प्रस्तुतिकरणों से है, जो मूलतः अपरिवर्तित रहते हुए भी गीतों की आवश्यकतानुसार उनका गठन करते हैं, तथा इनका आधार कोई भाव गीत के रूप में मूर्त एवं घनीभूत हो सौष्ठवपूर्ण रूप में प्रेषणीय बन सकता है। यह मेरी बात पूर्वी उत्तरप्रदेश की निम्न कजली से अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

2. फार्म की परिभाषा वेस्टर विश्वकोश में इस प्रकार है²

The Shape and structure of anything as distinguished the material of which it is composed. Particular or distinctive disposition or arrangement of matter figure, orderly arrangement as order or method of presenting ideas, manner of coordinating. The elements of an artistic production or course of reasoning style.

मोरी धानी रे चुनरिया अतर गमके
धना बारी रे उमरिया नैहर तरसे ॥ 1 ॥ मोरी ...
सोने की थारी में जेवना बनायउँ
मोरा जेवन वाला बिदेश तरसे ॥ 2 ॥ मोरी....
सोने का गेहुआ गंगाजल पानी
मोरा घूँटन वाला बिदेश तरसे ॥ 3 ॥ मोरी....
लौंग इलायची के बीरा जुरायउँ
मोरा कूँचन वाला बिदेश तरसे ॥ 4 ॥ मोरी...
बारा हजारों का मोटर मंगायउँ
मोरा घूमन वाला बिदेश तरसे ॥ 5 ॥ मोरी ...
कलियाँ चुन चुन सेजियाँ बिछायउँ
मोरा पौड़न वाला बिदेश तरसे ॥ 6 ॥ मोरी...

सावन मास में इत्र की सुगंध से गमकती, धानी चुनरी ओढ़े, पति बियोग में बिसूरती पत्नी की व्यथा ही गीत का मूल भाव है जो पहली दो पंक्तियों में है, शेष गीत में दिनभर की चर्या से उस व्यथा को मूर्त रूप मिलता है। पहली दो पंक्तियों से तो सिर्फ इतना पता लगता है, कि वह तरस रही है, पर कैसे-कैसे तरस रही है, वह तरस दैनिकचर्या पर आधारित प्रस्तुतीकरण के क्रम से हमारे सामने आती है। दैनिकचर्या पर आधारित यह प्रस्तुतीकरण क्रम ही गीत का रचना-विधान हैं। निःसंदेह यह इस गीत के शिल्प का भी अंग है। लेकिन इस गीत के अतिरिक्त यह दूसरे गीतों की भाव लहरियों को भी इसी तरह गठित करता है। जैसे निम्न गीत में -

ऐरी नट नागर नंद किसोर, मुरली बाजि रही मधुबन में
सोने की थारी में भोजन परोसे
ऐरी बो तो खावें खवामें दिल जोरि, मुरली...
सोने कौ लोटा गंगाजल पानी
ऐरी बो तो पीमें पिव्तमें दिल बोरि, मुरली....
पान पचासी के बीड़े लगाये
अरी वो तो चावें चवामें दिलबोरि, मुरली..
चंदाकी चाँदनी में चौपड़ बिछाई
ऐरी बे तो खेलें खिलामें दिल बोरि, मुरली...
फूलों की सेज मोती झालरि के तकिया
ऐरी वे तो पौड़े पौड़ामें दिल जोरि, मुरली...

यहाँ एक और शंका होती है, यदि यह प्रस्तुतीकरण रचना विधान है, तो गीत का वर्ण्य विषय क्या है? उत्तर सीधा है, वर्ण्य विषय एक गीत का हो सकता है, या एक ही प्रकार के गीतों का भी हो सकता है, पर जब उपरोक्त प्रस्तुतिकरण क्रम और एक ही प्रकार के गीतों तक सीमित नहीं है। रूप गठन के ये पैटर्न विविध विषयों के गीतों के रूपायन में और सजृन में सहायक होते हैं, तो इन्हें वर्ण्य विषय मानने में कठिनाई होती है। दूसरी बात भी यहाँ विचारणीय है, यह देखना होगा, कि क्या ये रचना विधान मूल भाव से पृथक कर देने पर अपना अस्तित्व रख पाते हैं? क्या इन्हें उसी तरह किसी दूसरे मूल भाव से जुड़ने की जरूरत नहीं होती, वर्ण्य विषय की स्थिति में और रचना के नियम मात्र होने की दशा में अवश्य ही यह सम्भव था, पर हम देखते हैं, कि उपरोक्त दोनों गीतों में एक विरह वेदना का है, दूसरा आमोद मग्न युगल का, दोनों ही गीतों में दिनचर्या का वर्णन मूल भाव का ही मुँह जोहता है। अतः इस तरह के पैटर्नों को वस्तु का वर्ण्य विषय मानना भूल होगी।

लोकगीतों के आधार पर ये पैटर्न मूलतः किसी एक तत्त्व पर आधारित हैं, जैसे उपरोक्त दोनों गीतों की संरचना में मुख्य बात है, चर्या या रूटीन जो अपने विविध रूपों में विश्व व्यापी है। चर्या पर टिकी इस संरचना में अनेक विषयों के लोकगीत मिलेंगे। पर सब में चर्या का, चाहे वह किसी भी तरह की चर्या हो दिनचर्या हो, कृषिचर्या हो, ऋतुचर्या आदि कोई भी हो, चर्या का भाव अपरिवर्तित रहेगा, गीतों के भाव, विषय और क्षेत्र बदल जायेंगे। लोकगीतों के समस्त रचना विधानों में ऐसी ही कोई न कोई मूल प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। मैंने इसी तत्त्व पर उन्हें नामांकित किया है और इसी तात्त्विक रूप में इन रचना-विधानों का प्रयोग सारे हिन्दी भाषा प्रदेशों के लोकगीतों एवं नगण्य अंतर के साथ हिन्दीतर प्रदेशों के लोकगीतों में देखा जा सकता है।

दूसरी महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय बात लोकगीतों के रचना-विधानों में अथ से इति तक कहने की एक पूरे समय-सारिणी के चक्र को समेटने की है। दिनचर्या विधान का कोई भी गीत लें, वह भोर से रात तक मनुष्य के जिन कार्यों को उसने अपने भीतर समेटा है, उनका वर्णन करके ही समाप्त होगा। नख-शिख विधान चोटी से एड़ी तक आकर ही दम लेगा, यात्रावर्ण्य

विधान गाँव की सीमा उल्लाँघ कर व्यक्ति के चित्र सारी पर पहुँच जाने पर ही पूरा होगा। यह प्रवृत्ति सारे रचना विधानों को एक निश्चित बंधान का रूप देने में बड़ी सहायक हुई है, दूसरी ओर रचना विधानों का आदि अंत से युक्त निश्चित बंधान लोकगीतों की अत्यंत प्रचुर मात्रा में रचना होने से ही निश्चित हो सके। वास्तव में देखा जाय तो लोकगीतों के ये सारे रचना विधान लोकगीतों की प्रचुर मात्रा रचना से अनायास ही जन्में हैं। प्रारम्भिक अवस्था में ये कुछ एक गीतों के वैशिष्ट्य पूर्ण शिल्प रहे होंगे। उत्तर विकास में एक संरचना के अन्तर्गत बहुत प्रकार के लोकगीतों की रचना हुई और जन-सामान्य में रचना की परिपाटियों जैसा रूप ग्रहण कर व्यापक रूप से मान्यता पाई। इस अर्थ में ही गीत-रचना के ये बहुत सारे तरीके रचना विधान हैं, पर ये लोकगीतों के लक्षण या रीति-निरूपित करने वाले नियम नहीं हैं, न इनमें रीतिपूर्ति या लक्षण निरूपण की तटस्थता ही है।

विद्वानों ने अपनी-अपनी तरह से लोकगीतों के सामान्य ओर विशेष अनेक प्रकार से वर्गीकरण किये हैं, जिन्हें सभी दृष्टियों से पूर्ण और व्यापक नहीं कहा जा सकता है। मेरी समझ से गीत गाने का अवसर एक ऐसा आधार है, जो काफी दूर तक सभी लोकगीतों को समेट लेता है। अवसर की दृष्टि से लोकजीवन में किसी भी अवसर पर तीन प्रकार के गीत गाये जाते हैं-

1. किसी भी अवसर के विशेष गीत जिनके प्रायः नाम होते हैं- जैसे जन्ति के गीतों में 'बै', 'कराहुली', 'दामोदरिया' आदि। विवाह गीतों में 'सुख मँदरा', 'बाँटचरा', सीता को मंगल इत्यादि। देवी के गीतों में 'पखवजिया', 'गूगुर', 'सुरही' इत्यादि।

2. किसी भी अवसर के विशेष प्रकार के गीत, जैसे-जन्म के अवसर पर विविध लोकाचार छठी, नामकरण, कुआँ पूजन इत्यादि के वक्त समान रूप से गाये जाते सोहर या सोहिले नामक गीत, विवाह, मुंडन, कन छेदन, उपनयन संस्कारों में गाये जाते रहे हैं, वरना, घोड़ी, भात, सेहरे और टोने नामक गीत साँझी और झाँझी के गीत, देवी जागरण और चैत्र की नवरात्रों में देवी पूजन के गीत 'भैट' एवं लाँगुरिया आदि।

3. ऐसे गीत जो एकाधिक अवसरों पर सामान्य रूप से गाये जाते हैं, जैसे- खेल के गीत, दादरे, ढोला भजन, बधाये इत्यादि गीत। ये सारे गीत प्रकार किसी भी अवसर पर जब दूसरे

प्रकार के गीत गाये जायें तो उन गीतों के पहले या पीछे गाये जाते हैं।

उपरोक्त सभी प्रकार के लोकगीतों की रचना के समान रूप से आधार बने, थोड़े से अत्यंत प्रमुख रचना विधानों का विश्लेषण तथा लोकगीतों में प्राप्त उन विधानों के सामान्य क्रम यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं। वैसे यह एक बड़े शोध प्रबंध का विषय है।

चर्या विधान

लोकगीतों का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचना विधान-चर्या भाव पर आधारित है। इस विधान के मूल में आर्यों की 'ऋत' कल्पना है, साथ ही लोकमानस का अपना विषद अनुभव भी। 'ऋत' शब्द की विद्वानों ने अनेक व्याख्याएँ की हैं, लेकिन इसका मूल अर्थ है विश्व के विधारण में विद्यमान अनादि और शाश्वत नियम क्रम। 'ऋत' विश्व का नियमन करता है, और वरुण ऋत का निर्झर है। यह कल्पना ऋग्वेद में अनेक रूप में आती है।

ऋत के वशीभूत मेघ जल बरसाते हैं, सूर्य प्रकाश विकीर्ण करता है, कृषि चक्र पूर्ण होती है, नदियाँ ऋत से नियमित होकर बहती हैं, 'ऋतं सिन्धवो वरुणस्य यन्ति'। (2-28-5 ऋग्वेद) अतः 'ऋत' ऐसा आधारभूत तत्त्व है, जो विश्व और मानव की गतिविधियों का चक्रिय विधान है, यही चर्या है। क्रमशः बदलती ऋतुओं के बीच, खेत में बीज बोते, काटते, अपने-अपने क्रम से आते, पर्व त्यौहार मनाते, ढरें में ढले सामाजिक जीवन के विविध लोकाचार करते एवं रोज की निश्चित चर्या में जिन्दगी का उषाकाल बसंत और पतझर बिताते, लोक मानस ने 'चर्या' के विविध रूपों, दैनिक चर्या, कृषि चर्या, ऋतु चर्या आदि को अपने हृदय की भावोर्मियों को प्रकट करने का आधार, अगर लोकगीतों में बनाये तो यह सहज स्वाभाविक है। जिन्दगी की चर्या के परिप्रेक्ष्य में सुख-दुःख की मूल-भूत भावनाएँ व्यञ्जित हुई हैं। इस विधान को चर्या विधान कहना ही अधिक समीचीन है, क्योंकि वह चर्या मात्र तक व्यापक है। जब श्रीकृष्ण की दिनचर्या पर अष्टछाप के कवियों की स्वर वीणाएँ झंकृत हुई तो आश्चर्य नहीं कि लोकगीतों का यह चर्या विधान उनके ध्यान में रहा हो।

दैनिक चर्या

चर्या विधान में दैनिक चर्या अन्य चर्याओं की अपेक्षा सबसे अधिक व्यापक रूप में ग्रहण की गई है। दैनिक चर्या में मनुष्य के स्नान करने से लेकर सोने तक के कार्यों का सिलसिला है, जिसका उल्लेख भावों को गीत का रूप देता है। समझ में नहीं आता कि इस चर्या में जीविकोपार्जन का उल्लेख क्यों नहीं शामिल किया गया? क्या उस युग में सचमुच यह उपेक्षणीय बात थी? या मनुष्य की दिनचर्या में शामिल नहीं थी? दैनिकचर्या विधान में स्वरूपगत अंतर नहीं आया, पर बराबर बदलता रहा, सामाजिक परिवेश उपयोग की वस्तुओं के विवरण में प्रतिबिम्बित होता रहा है। आजकल के गीतों में स्नान के लिये साबुन की बट्टी का उल्लेख होना, और पूजा का नदारद होना, इसी के परिचायक हैं। इस तरह लोकगीतों में चर्या विधान के प्रस्तुतीकरण क्रम के प्राचीन और नवीन दो रूप प्राप्त होते हैं-

	प्राचीन	नवीन
स्नान -	तातौ सौ पानी घर्यौ तटैहंडो	तातौ सौ पानी साबुन की बट्टी
पूजा -	तिलक छाप लगाना, पौथी पढ़ना	नयेगीतों में पूजा का उल्लेख नहीं।
भोजन -	'ढाक के दौना मगदके लड्डू' 'ताती जलेबी दूध के लाडू' 'सोने की थारी में जेवना बनाय उँ' सोने की थारी में भोजन परोसे 'उर्द की दारि गेहुन के फुलका'	पूरी बनाई कचौरी बनायी 'मेजें लगाई रकाबी सजाई' 'खाने बनाये, ज्यौनार कराई'
विलोम रूप में	- बासे कूसे टुकसे खटटी महेरी उकड़ा दुअकड़ा तिबासी दार (दाल) पान - झंझन झाड़ी गंगा जल पानी' सोने कौ लोटा गंगा जल पानी सोने सुराही में जल भरि लाई'	'प्लाले भराये' बोतल मँगाई सोडा वाटर मँगाया
	कोरी करसिया सीतल पानी	
विलोम रूप में	- फूट्यो सौ कुल्हड़ तातौसो पानी " " पोरवरि कौ पानी	
मुखशुद्धि -	पक्के बो पान महोबी बिरियाँ लौंग इलाइची के बीरा जुरायउँ इस्सक मोहब्बत के बीड़े लगाये पान पचासी के बीड़े लगाये	पान बनाये लवेंडर लगाया
खेल (मनोरंजन)	चंदा की चाँदनी में चौपड़ ताश मँगाये शतरंज बिछाई बिछाई	

विहार - 'बारै हजारा की मोटर मँगाई रिक्शा मँगाया
टमटम मँगाई, बग्घी मँगाई टैक्सी बुलाई

शयन - फूलों की तेज अतर धरि छिरकी
फूलों की सेज मोती झालरि केतकिया
ढार ढकोले की सौरि भराई आलमसाही
कौ गंडुआ पलंग बिछाया मसहरी लगाई
चुन चुन कलियाँ सेजियाँ बिछाय उँ

उपरोक्त प्रस्तुतीकरण क्रम सभी गीतों में पूरा-पूरा हो, यह जरूरी नहीं है।⁴ नई-नई लड़कियाँ जब गाती हैं, तो वे पूरे विधान से परिचित भी नहीं होती। इसी तरह गीत की जरूरत पर भी निर्भर करता है, कि वह कहाँ तक आये। लेकिन व्यवस्थित रूप से गाने पर पूरे विधान का निर्वाह होता है। दिनचर्चा विधान पर होली, भजन और खेल के गीत अधिकता से रचे गये हैं। ये बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं।

कृषिचर्या

मानव सभ्यता के विकास में कृषि का महत्त्व सार्वभौम है। बीज से अंकुर और नन्हें अंकुर से पुनः बीज, प्रकृति की प्रयोगशाला में प्रतिक्षण होने वाले विराट और विस्मयपूर्ण परिवर्तनों का लोकमानस सबसे बड़ा साक्षी रहा है, और इसी कारण लोकगीतों में कृषिचर्या भी अत्यंत व्यापक रूप से ग्रहण की गई है। कृषिचर्या विधान में खेत जोतने से लेकर वस्तु के उपयोग तक की कृत्य श्रृंखला को गीत रचना का आधार बनाया गया है। इस रचना-विधान में अनाज, फल मेवे, सब्जी,⁵ कपास,⁶ मादक पदार्थ⁷ वे सारी कृषि योग्य वस्तुएँ समाहित हैं। जो भी लोक मानस को किसी कारण से रूचिकर लगी हैं। कृषिचर्या के रचना-विधान में एक फल या अनाज की कृषि चर्या पर भी गीत हैं, और दो अधिक अनाज जैसे- ज्वार-बाजरा, तम्बाकू- भाँग, मेहंदी-भाँग, भाँग-अफीम जैसे मादक पदार्थ या दो फल नीबू-नारंगी इत्यादि की जोड़ी पर भी गीत हैं। कृषिचर्या विधान के प्रस्तुतीकरण क्रम में दो बातें महत्त्व की है, एक कृषिचर्या सामान्य है, किसी अनाज या फल की कृषि चर्या में खास सतर्कता नहीं बरती गई है,⁸ कृषि की सारी क्रियाएँ ही समाहित करना आवश्यक समझा गया है, दूसरे मादक पदार्थों की कृषि पर बने गीतों में बहुलता है। लोक जीवन में नशे के रूप में इनका प्रयोग होना ही शायद इसका कारण हो।

कृषिचर्या विधान का लोकगीतों में प्रस्तुतीकरण क्रम सामान्य रूप से कुछ घटा-बढ़ी के साथ इस रूप में मिलता है-

जोतना
बोना रोपना, लगाना,
उगना, अँकुर फूटना
सींचना
नराना, नींदना (खरपतवार उखाड़ना)
फूलना, बैर आना, मौरना,
लगाना, आना, फलना
पकना, रस भरे होना-झुक आना
रखाना (रखवाली करना)
काटना, तोड़ना, सूँटना (मेहंदी)
उपयोग

उपयोग के पूर्व की क्रियाओं का भी कुछ गीतों में वर्णन होता है। जैसे- मेहंदी, भाँग, धतूरा पीसना-घोटना और छानना। उपयोग में अनाज अधिकतर बेचे, फल चखे, मादक पदार्थ पिये, और मेहंदी रचाई जाती है। कुछ गीतों में कुछ क्रियाएँ छूट भी जाती हैं, जैसे- पीपल नामक निम्न सोहर में नींदने और रखाने की क्रियाओं का वर्णन नहीं है-

अँगना में नीबू बोये, भीतर अनार बोये, भीतर अनार बायेरे,
लाल, खिरकिन दाख छुहारे, दुआरे बोई पीपलियाँ ॥ 1 ॥
अँगना में नीबू ऊगे, भीतर अनार ऊगे, भीतर अनार ऊगे
रे लाल खिरकिन दाख छुहारे तो द्वारे ऊगी पीपलियाँ ॥ 2 ॥
अँगना में नीबू सींचे, भीतर आनार सींचे, भीतर अनार सींचे
रे लाल खिरकिन दाख छुहारे, तो द्वारे ऊगी पीपलियाँ ॥ 3 ॥
अँगना में नीबू फूले, भीतर अनार फूले, भीतर अनार फूले
रे लाल खिरकिन दाख छुहारे, दुआरे फूली पीपलियाँ ॥ 4 ॥
अँगना में नीबू पाके, भीतर अनार झुके, भीतर अनार पाके
रे लाल खिरकिन दाख छुहारे दुहारे पाकी पीपलियाँ ॥ 5 ॥
अँगना के निबू तोड़े, भीतर अनार तोड़े, भीतर अनार तोड़े
रे लाल खिरकिन दाख छुहारे द्वारे की तोड़ी पीपलियाँ ॥ 6 ॥
अँगना में नीबू चाखे, भीतर अनार चखे, भीतर अनार चाखे
रे लाल खिरकिन दाख छुहारे दरवाजे चाखी पीपलियाँ ॥ 7 ॥
अँगना में पीर आई भीतर घुमेर आई भीतर घुमेर आई
रे लाल खिरकिन हुये नंदलाल दुहारे बाजे बाधईयाँ ॥ 8 ॥

इस सोहर के सदृश्य ही सभी गीतों में कुछ न कुछ अंतर मिलते हैं।

ऋतु चर्या

ऋतुचर्या विधान का वह स्वरूप है, जिसके अंतर्गत साल के बारह महीनों के नाम के साथ परिवर्तित ऋतुचर्या जो प्रकृति और लोकजीवन में दृष्टिगत होती है। उन्हीं प्रभावों को व्यक्त करने वाले बारहमासा, चौमासा, छहमासा नामक गीत आते हैं। यह ऋतुचर्या साहित्य एवं लोक साहित्य दोनों में रचना विधानों का समान रूप से आधार रही हैं। हिन्दी की तो सभी बोलियों में ऋतुचर्या विधान पर आधारित, बारहमासा, चौमासा, छहमासा आदि लोकगीतों का प्रिय रूप रहा है, पर ऋतुचर्या विधान केवल पावस गीतों तक ही सीमित नहीं है। त्रिपाठी जी द्वारा दी गई सोहर लोकगीतों के दूसरे प्रकारों में भी इसकी लोकप्रियता सूचित करती है।⁹ यही नहीं साहित्यिक बारहमासा भी लोकगीतों के इस विधान के ऋणी हैं। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय का तो मत है कि 'जायसी' ने अपना बारहमासा अवध प्रदेश के लोकगीतों को सुनकर लिखा था।¹⁰

महाकवि समय सुन्दर जी रचित चौमासा¹¹ और बारहमासा¹² में भी ऋतु के वही तत्त्व हैं, जो लोकगीतों में हैं। ऋतुचर्या विधान में बारह महीनों में घर गृहस्थी की रूटीन पर ऋतुओं का प्रभाव एवं त्योहारों के परिप्रेक्ष्य में मन के सुख-दुःख को कहना ही लक्ष्य रहता है, पर इस विधान में बदलती ऋतुओं की रस-गंध की पकड़ और उनकी छवि अंकित करना, किसी भी गीत में प्रमुखता नहीं पाता। विशेष ऋतु परिवर्तन सूचित करने वाले मास सावन, भादौ, पूस, माह और जेठ को छोड़कर शेष महीनों का अपना कोई वैशिष्ट्य चित्रित नहीं हुआ, या कुछ एक गीतों में कथ्य इतना प्रमुख हो गया है, कि ऋतु चर्या बस महीनों के नाम लेने में ही समाप्त हो गई है।¹³ चौमासे और छहमासा आषाढ़ से शुरू हुए हैं, बारहमासा किसी भी महीनों से शुरू हो गया है। राम और भरत की बारहमासी चैत्र से¹⁴ कृष्ण की आषाढ़ से¹⁵ और बेनी-माधव की कार्तिक से शुरू होती है।¹⁶

ऋतुचर्या विधान के बारह महीनों का लोकगीतों में सामान्य प्रस्तुतीकरण निम्नांकित है-

आषाढ़ - बादल घुमड़ना, धान बुआना, बँगला छवाना, चंदन

लगाना, मोर कुहुकना। बादलों की गरज से डर लगना। मेंढक टराना।

- सावन** - झूले पड़ना झर लगना, बादलों की गरज, नदी और नाले भरना, साँप घूमना, हरियाली छाना।
- भादो** - गहिर गंभीर मास, घना अंधकार, भयानकता, घनीरात, बिजली चमकना।
- क्वार** - पितरों का श्राद्ध, निर्मल आकाश, शीतल चाँदनी।
- कार्तिक** - दिवाली मनाना, गंगा नहाना, रामलीला देखना, तुलसी पूजा, सखियों की क्रीड़ा।
- अगहन** - गहना गढ़ना, श्रृंगार करना, गौने होना, धान के खेत लहलहाना।
- पूस** - रजाई भरवाना, भयंकर शीत पड़ता, अगर जलाना, कुहरा पड़ना, चकवा-चकवी की क्रीड़ा।
- माह** - मकर नहाना, पाला पड़ना, तीर्थ नहाना, वसंत आना, प्रिय के अभाव में विशेष शीत लगना।
- फागुन** - रंग घोलना, होली खेलना, फगुआ बयार बहना पतझर होना।
- चैत** - टेसू फूलना, चिड़िया-चींटी चुगाना, देवी की पूजा, राम जन्म होना और गौनों की धून।
- वैशाख** - खेती कटाना, रास उठाना, बाँस काटकर बँगला छवाना, राम चर्चा कराना, कोरी करसिया भराना, चींटी चुगाना।
- जेठ** - बरसाइत (वट पूजन) होना पंखा डुलाना, लू चलना, भीषण ज्वाला फँकना, बँगला छवाना।

अधिकांश बारह मासियाँ प्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं,¹⁷ और लोक प्रचलित भी हैं। आजकल झूले पर बारह मासियाँ गाने का प्रचलन कम हो चला है। ब्रजक्षेत्र में राम-भरत और बेनी-माधव की बारह मासियाँ बहुत लोकप्रिय हैं।

चर्या विधान के अपने में ही सीमित तीन रूप होली, भजन एवं विवाहगीत 'मंगल' एवं बन्नी-बन्नों में हैं, जिन्हें क्रमशः होलीचर्या विधान, पूजा चर्या विधान और विवाह चर्चा कहा जा सकता है।

होलीचर्या पर सैंकड़ों होलियाँ मिलती हैं। किसी भाव के साथ या किसी व्यक्ति के उल्लेख के साथ होली चर्या का निम्नांकित

प्रस्तुतीकरण क्रम इन होलियों को पूर्णता देता है -

कोरे कलश में रंग भरना,
केशर रंग से कलश और कमोरी भरना।
चोवा चंदन अरगना और कुमकुम छिड़कना।
कंचन की पिचकारी होना।
अबीर गुलाल की झोरी और गुलाब की छड़ी होना।
ताल, मृदंग, झाँझ, ठप,
मंजीरो की जोड़ी और कृष्ण की बंशी बजना।
रंग में सराबोर चुनरी और तंग चोली।

होलीचर्या विधान के उपरोक्त प्रस्तुतीकरण क्रम से भक्त कवि भी अछूते नहीं रह सके हैं। उदारहरणार्थ हरि जीवन और परमानंद दास के पद देखे जा सकते हैं।¹⁸

पूजाचर्या विधान भजनों की चीज है, इस रचना-विधान का भजन गीतों में निम्न प्रस्तुतीकरण क्रम है-

कलियाँ चुनना,
हार गजेर गूँथना,
चरण पखारना,
चंदन घिसना, तिलक लगाना
धूप दीप देना,
आरती करना, भोग लगाना

उदाहरण स्वरूप चन्द्रसखी? का यह लोक प्रसिद्ध पद है,
'आना आना रे मोहन मेरी गलियाँ'

विवाहचर्या विधान में शादी में होने वाले लोकाचारों की कार्य श्रृंखला का आधार ग्रहण किया गया है। विवाहचर्या विधान का पूर्ण व्यवस्थित रूप मंगल और ब्याहुलों में मिलता है। यह इतना साम्य रखता है, कि 'गंगा जी कौ ब्याहुलौ' धामनकारि (रूक्मिणी मंगल) और 'सीता कौ मंगल' इन ब्याहुलों के उत्तरार्द्ध अंश एक से लगते हैं। मंगल ब्याहुलों के अतिरिक्त दूसरे विवाह गीतों में भी विवाहचर्या विधान-रचना का आधार है। प्रस्तुतीकरण का सामान्य क्रम यह होता है-

द्वार पर बारात आना बाजे बजना, पंचों का शीश झुकाना,
द्वाराचार होना, कुल्हड़ बान चलना।

हरे-हरे गोबर से आँगना लीपना, मोतियों के चौक पुरना,
पान-फूल से मंडप छाना, लौंगों की गूथ (बंद) लगाना, मंडप में
चंदन की पटली रखना।

अमृत भर कलश लाना, चम्पा या आम की डाल से
झकोरना।

एँपन छिड़कना, साठी के आखत (अक्षत) डालना, वर-
वधू का बैठना, ब्राह्मणों का वेद पाठ।

भाँवर पड़ना, सखियों का मंगल गान।

रथ या पालकी पर चढ़कर विदा, अयोध्या नगरी (ससुराल)
में स्वागत।

इस प्रकार लोकगीतों के चर्या विधान की चर्याएँ पूरी होती
हैं, पर वे क्या कभी पूरी हो पाती हैं? पूरी हो-होकर भी सदैव
अधूरी रह जाती हैं। चर्या का अंत तो जीवन का ही अंत है।

यात्रा वर्णन विधान

अनादिकाल से ही मनुष्य जीवन के साथ यात्रा की कल्पना
जुड़ी चली आती है। मनुष्य का जीवन ही एक यात्रा है, और
अपने इस जीवन में मनुष्य अकेले और दुकेले यात्राएँ करता ही
रहता है। कदाचित् यही कारण हो, कि यात्रा वर्णन विधान लोकगीतों
का बड़ा प्रिय और चित्रोपम रचना-विधान है। यात्रा वर्णन विधान
में प्राचीन काल के पदयात्री और बैल घोड़ा के यात्रियों की यात्रा
में पड़ने वाले विराम स्थलों जैसे- सीमा, बाग, तालाब, कुएँ,
सड़क, महल आदि को पूरे परिवेश के साथ यात्रिक व्यक्ति की
भावनाओं में बिद्ध प्रस्तुत किया जाता है, और इस तरह गीत
बंजारों का कारवाँ मंजिल पर पहुँच जाता है। इस रचना-विधान में
प्रमुख तत्त्व तो है, यात्रा फिर चाहे वह एक गाँव से दूसरे गाँव की
हो, या घर के द्वार से, चित्रकारी तक की, या अन्य कहीं की,
यात्रा का अंत ही गीत की समाप्ति होती है। यात्रा वर्णन विधान में
किसी कथा के साथ नामधारी व्यक्ति की यात्रा का भी वर्णन
उपलब्ध होता है, और बिना किसी कहानी के भी, व्यक्ति उपरोक्त
विश्राम स्थलों से गुजरता है, और लोकगीत इन स्थलों के
वर्णनोल्लेख से पूर्ण होते हैं। असल में दूसरे रूप पर ही अधिक
लोकगीत हैं।

यात्रा वर्णन विधान के निर्मकित प्रस्तुतीकरण क्रम प्राप्त होते हैं-

इस रचना विधान के एक रूप में व्यक्ति केवल द्रष्टा होता है, अपनी यात्रा के दौरान कभी-कभी वह दुःखी मन यों ही घूमने भी निकल पड़ता है- बाग, तालाब आदि पर क्या हो रहा है, वह देखता चलता है, पर वहाँ होने वाले कार्यों में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेता, केवल गीत के भावानुसार इन स्थानों और कार्यों से दुःख-सुख या उदासीनता अनुभव करता चलता है। प्रस्तुतिकरण का सामान्य क्रम यह होता है-

सीमा - हरी-हरी दूब होती है, करहा (ऊँट) चरने को झुकने लगते हैं, घोड़े हीन-हीनाने लगते हैं, दुःख की स्थिति में दूब सुख जाती है।

बाग - बागों में फुलवारी फूली होती है, सब रंगों में केवड़ा फूलता है, आम पकते हैं, नीबू रस भरे होते हैं, दुःख की अवस्था में सब सुख जाते हैं।

तालाब - ताल हिलोरे लेते हैं, जाल पड़ते हैं, मछली पकड़ी जाती है, धोबी-धोबिन कपड़े धोते हैं, चकवा-चकवी उड़ जाते हैं।

कुआँ - कुएँ पर पनिहारिन पानी भरती है, आठ भरती हैं, सोलह भरकर चली जाती हैं। भिश्ती (सक्का) मसक छुड़ता है, पर दुःख की दशा में कुएँ से पानी भी नहीं मिलता।

सड़क और गली - गलिन-गलिन गश्ती फिरते हैं, रास्ता बनाते हैं, पर दुःख पूर्ण क्षणों में ये रास्ता भी नहीं बताते।

इयौड़ी - कुत्ते घुर-घुराते, घुँघसाते हैं।

द्वार - भावज राजा, भतीजा या अन्य कोई दुःख में साँकल जड़ लेता है, सुख और सोमनस्थ के क्षणों में खोल देता है।

रसोई - रसोई में देवर, जेठ भोजन करते हैं, ज्यौनार होती है, दुःख में ज्यौनार बिगड़ जाती है, डेढ़ सौ बैंगन बिगड़ जाते हैं, सुख में सब सुधर जाते हैं।

अटानी और सेन- नवरंग पलंग बिछा होता है, पति रूठते मनाते हैं। चौपड़ खेली जाती है।

यात्रा वर्णन विधान के सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों पक्षों का एक ही गीत में समावेश ब्रज के कुआँ पूजन के गीत में हुआ है। बाँझ और पुत्रवती के लिये सम्पूर्ण वातावरण एकदम से बदल जाता है-

डूँडौं सौ महुआ झालरौ जातर री माय ठाड़ीएँ बाँझ ठाड़ीरे
झुलमें कूरख कुँ

बाग तमासे हम गये बागनुनी माय सूखी फुलवारी सब रंग
सूख्यौ के बरौ।

ताल की पारिनु हम गये, सूखे री माय सरवर ताल
चकवी चकवा उड़ि गये

× × × ×

कूरवरिया समनाख भई जाये री माय हीराला
इयौड़िनु अँनद बधायने

बाग बगीचनु हम गये, सरवर री माय लेत हिलोर,
चकवी चकवा रूरि मिले

× × × ×

कूखरिया समनख भई, जिन मेरी माय राखे मान,
रतनकुमर हारिल भये

किन्ही गीतों में केवल अनुकूल पक्ष ही होता है जैसे भात न्यौतने का गीत है- 'जबरे मैनि घरते चली औरू भले भले सगुन बिचारि राजा भातई रे'। सावी यात्रा अनुकूल ही रहती है, क्योंकि अंततः बहन का उद्देश्य सिद्ध होता है। इन गीतों में यात्रा मार्ग उद्दीपन रूप में अंकित है।

यात्रा वर्णन विधान के दूसरे रूप में व्यक्ति इन विराम स्थलों की गतिविधियों में भाग लेता है, तटस्थ दृश्य नहीं रहता। वह इन जगहों के अधिपतियों से सवाल-जवाब करेगा, कली आदि स्वयं चुनेगा या चुनवायेगा और कभी इन पड़ावों के सिंहासन पर स्वयं बैठ भी जायेगा। लोकगीतों में इस प्रस्तुतीकरण का सामान्य क्रम यह है-

बाग - कलियों चुनना-बीनना, हार, गजरे गूँथना या गुँथबाना, अधिपति माली-मालिन।

ताल - जाल डालकर मछली पकड़ना या पकड़वाना, साड़ी धोना या धुलाना, अधिपति धोबी-धोबिन।

कुआँ – गगरी फाँसना, भरना या भराना, अधिपति, ढीमर-ढीमानी।

सड़क – गश्त लगाना या लगवाना, सीटी मारना, अधिपति, गश्ती-सिपाही।

महल – चौपड़ बिछाना या बिछवाना, चौपड़ से खेलना, अधिपति राजा-रानी, भाभी।

रसोई – रसोई तपाना या तपवाना, पूरी सेंकना या सिकवाना, अधिपति बामन-बामनी, देवरानी, बहू, पत्नी।

अटारी – चित्रसाकी – सेज बिछाना, नवरंग पलंग बिछवाना, पति प्रेमी का रूँठना-मनना, अधिपति पति-पत्नी, सपत्नी प्रेमीनायक-नायिका।

उपरोक्त रचना-विधान में ब्रज का अत्यंत प्रसिद्ध भजन है- 'तेरे दरस की प्यासी रे! हरे कृष्णा'। गोपी या मलिन कृष्ण के साथ बाग तालाबों की विहार-यात्रा कर, माली-मालिन आदि का अभिनय कर कृष्ण का सान्निध्य पाना चाहते हैं। इस तरह से इस गीत में सान्निध्य की मूल भावना यात्रा वर्णन विधान का सहारा ले गीत में ढलती है। यात्रा वर्णन विधान के लोकगीतों में मनोरम पृष्ठ-भूमि में अत्यंत सुन्दर, स्थिर और सजीव एवं गतिशील चित्र मिलते हैं-

कोई बागनु ठाडूयौ पूछौ करे

तेरो कहा दूखै राधा प्यारी, तेरो कहा दूखै राधा प्यारी ऐऽ

चित्रोपमता यात्रा वर्णन विधान की विशेषता ही है।

नामावली विधान

लोकगीतों का तीसरा रचना-विधान जीवन और जगत में सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण वस्तु 'नाम' पर टिका नामावली-विधान है। लोकगीतों की रचना में नामों का आधार इतनी व्यापकता और प्रचुरता से ग्रहण किया गया है, कि अगर नामावली रचना-विधान के गीत निकाल दिये जायें, तो लोकगीतों में बहुत बड़ा शून्य बन जायेगा। नामावली विधान में किसी तरह का रचनागत सौन्दर्य नहीं है, इसके पीछे आदिम मस्तिष्क की वह कल्पना है कि नाम और नामी अभिन्न है, और नाम के द्वारा नामी को वशीभूत किया जा सकता है। इसमें आदिम धर्म का मूल टोने का भाव भी छिपा है। सेन्ट्रल आस्ट्रेलिया की आदिम जातियों में

विशेष रूप से गति में मृतक का नाम एक निश्चित अवधि तक मुँह से नहीं निकाला जाता। इससे मृतक के लौट आने का और दुःखी रहने का विश्वास किया जाता है। भारतीय विचारधारा, योग-तंत्र और आध्यात्म में भी नाम और नामी अभिन्न हैं। महात्मा दास तो राम से राम के नाम को बड़ा मानते हैं। गणेश जी द्वारा पृथ्वी की परिक्रमा में राम नाम की परिक्रमा कर लेना, इस तरह की पौराणिक कथाएँ भी नाम की श्रेष्ठता सिद्ध करती हैं। तो मूठ गलती से दूसरे को मार देती है। ग्वालियर के पास गोहद में ऐसी घटना हुई भी है।

सामाजिक दृष्टि से नाम परिगणना एक कबीले एक कुटुम्ब की भावना दर्शाती है। मंगल उत्सव लोकाचार के गीतों में पूरे कुटुम्ब का नामोल्लेख उनकी उपस्थिति ही बन जाता है। गीत की एक कड़ी के साथ निश्चित नामों की पूरे गोतियों की गणना, इतना महत्त्वपूर्ण कार्य है, कि अगर नाम याद न रहे हो भूल गये हो तो 'भूले बिसरे' इस तरह कहकर क्षमा याचना कर ली जाती है। परिवार में उपेक्षित और वक्त-वक्त पर मान-सम्मान न पाने वाली महिलाएँ कभी-कभी कहती सुनी जाती हैं। 'अरे हमारी कहा ऐ? न रोजु में रोवे में न गीत में गाईबे में' नामावलि-विधान पर रचित गीत विभिन्न सम्बन्धी परजे, टहलुये नाई, धोबी, कुम्हार आदि के कार्य स्थितियों' और महत्त्व को दर्शाते हैं, सम्पूर्ण भारतीय समाज व्यवस्था को व्यक्त करते हैं। शायद यह कुटुम्ब के नाम याद रखने की दृष्टि से सामाजिक आवश्यकता भी रही हो।

यों तो नामावलि-विधान के 'तीसेक' प्रस्तुतीकरण क्रम और सैकड़ों गीत हैं, पर मोटे तौर पर इसे दो रूपों में देखा जा सकता है-

क- विशेष या व्यक्तिगत नाम

ख- सामान्य या जातिगत नाम

क- विशेष या व्यक्तिगत नामों पर, खड़े लोकगीतों के अलग-अलग प्रकार के गीतों में, अलग-अलग प्रस्तुतीकरण क्रम हैं, क्योंकि नाम परिगणना इस रचना-विधान का बिन्दु भी है, और विस्तार भी। अतः एक नाम अन्य नामों के साथ मिलकर एक पूरी प्रस्तुतीकरण क्रम बन जाता है।

सांस्कारिक गीतों में

सांस्कारिक गीतों में परिवार का प्रत्येक व्यक्ति जैसे- 'बहू' अपने आप में विधान का एक रूप है, गीत पूरा तब ही हो सकेगा, जब सारी बहुओं के नाम लिये जायेंगे। यही स्थिति सास, ससुर, जेठ, देवर पुत्र-पुत्री की है।

सांस्कारिक गीतों में देवी-देवताओं की नामावलि कुटुम्ब के व्यक्तियों के बाद प्रमुख है। ज्यादातर गीतों में निम्नांकित क्रम रहता है-

धरती, चन्दा, सूरज, चामड़, भूमियाँ, कल्यानी, मसानी, सेढिसीतला, सती सुहागिन, अऊत पित्त।

उदाहरण स्वरूप ब्रज का हर शुभ कार्य के पूर्व गाया जाता 'नौबत' नामक गीत है। टेक है- 'धरती के दरबार नौबत बजा रहे है, बाजि रही ऐ घनघोरि ५५ मारूजरौ मैंहकि रह्यौ ऐ' ये सारे देवता लोक देवियाँ हैं जो विभिन्न संस्कारों के अवसर पर पूजी जाती हैं। इनका लोकमातसीय व्यक्तित्व ही अधिक है, शास्त्र सम्मत नाम मात्र को।

पर्व त्योहारों के गीत

पर्व-त्योहारों के गीतों में अधिकतर बहू-बेटे, बहन-भाई के नाम गृहीत हैं, जैसे- भाई दूज का निम्रगीत है-

मैनि चम्पादे द्वौज उपासी
बिरन हरी चन्द्र तिहारी ओ आस

भाई दूज के अन्य गीतों 'बैरियरा' आदि में भी बहन भाइयों के नाम ही लिये जाते हैं। घरमुली के गीतों में भी बहन-भाई के नाम रहते हैं।

तीर्थ यात्रा के गीत

अनेक पर्व उत्सवों में गोवर्धन, बलदाऊ जी और ब्रज मंडल की परिक्रमा दी जाती है। पर्व काल में तीर्थ स्थानों पर स्नान के लिये भी झुण्ड में स्त्रियाँ जाती है। माघ और कार्तिक स्नान के लिये जलाशय तक जाते समय और चैत्र क्वार की नवरात्रों में जब देवी को 'जात'¹⁹ दी जाती है, तीर्थ यात्रा के गीत गाये जाते हैं। ये सारे गीत तीर्थ स्थानों के नामों को लेकर चलते

हैं- जैसे मथुरा, वृन्दावन, सोरो, राजघाट, गंगा जी, गया, प्रयाग आदि-

गैया जी में करी रे तपस्या रामा
बारू की भरि लाये एक मुठी
जल पै सोई गये मेरे राम
बिना धरती, जल पै सोई गये मेने राम ५५ हरे५५

देवी यात्रा के गीत, देवी मंदिरों के नगरों का उल्लेख कर आगे बढ़ते हैं, जिनमें कुछ प्रमुख ये हैं- हिंगलाज, नरी सेमरी कन्तवास, करौली, नगर कोट, बैलौनि आदि। इस नामोल्लेख में प्रसंग-गर्भता तो है ही, साथ ही साथ भक्ति-भावना भी प्रकट होती है।

बालिकाओं के गीत

बालिकाओं के तो लगभग सारे ही गीत भाई और बहनों के नामों पर खड़े हैं, चाहे वे साँझी, झाँझी और नौरता जैसे खेलों के गीत हों, या सावन और फागुन के गीत हों, उनके गीत नामों के अस्तित्व पर ही टिके हैं। बिना भाई-भावज के बालिका की महफिलें सूनी जो रहती है।

नामावली विधान वस्तुतः बड़ा जटिल है। कुछ गीतों में जैसे बधायों में तो दो या दो पीढ़ियों के नाम साथ-साथ चलते हैं- जैसे इस बधाये में -

चित्त सारी पै राम चंद पौड़िएँ
उनकी चन्द्रबदीन सुख सेज
धनहु नबै कछू साहिबु नवै
रस भीजी (बीधी) सीतलदे चढ़ि गई
लौंगनि कौ बटुआ हाथ
धनहु नबै कछू साहिब नवै

इस क्रम में पहले सास ससुरवाली पीढ़ी, फिर बहू-बेटों वाली पीढ़ी के नाम लिये जाते हैं। ये तो कुछ प्रमुख प्रस्तुतीकरण क्रम हैं, नामावलि विधान के अनेक क्रम मिलते हैं।

ख. सामान्य या जातिगत नाम

भारतीय ग्रामीण जीवन की समाज व्यवस्था परस्पर

अवलम्बित व्यवसायिक वर्गों पर आधारित है। धोबी, कुम्हार, कहार, ग्रामीण समाज व्यवस्था के प्राण हैं, कोई भी लोकाचार हो, इनकी उपस्थिति अनिवार्य होती है। घर के विविध पक्ष वयोवृद्धों और वृद्धिमानों से ही उजागर होते हैं। मंगल-उत्सव परजों और कुटुम्बियों के बिना श्री हीन हैं, अतः सामान्य या जातिगत नामों में घर और ग्राम्य व्यवस्था की ये सभी जाति वाचक संज्ञाएँ बाबा, नाना, नाई, धीमर, कुम्हार आदि सम्मिलित हैं।

परजे लोग गाँव के जीवन की रीढ़ है, अतः उन्हें लोकाचारों के लिये बुलाया भी जाता है। जैसे- निम्न गौनिया (द्विरागमन का गीत) गीत है-

मैं तोड़ बजजा के बोलती
मेवे बरना कूँ कपड़े लै आउ
कुमरू मेरौ गौनियाँ

इसी क्रम से माँ सभी को गौने की आवश्यक वस्तुएँ लेकर बुलाती है। ये लोग शगुन की चीजें लेकर स्वयं भी उपस्थित होते हैं, जैसे- 'तुलसीदास द्वारा रचित 'रामलला नहछू' में मालिन आदि शगुन लेकर आती है।²⁰ व्यक्ति स्वयं भी उनकी दूकानों पर या घर पर चीजें लेने जाता है, जैसे- यह देवी गीत ज्वाला है-

जे धन कैसेरे जीवें इनके लाँगुर पर्यौ पिछार
ज्वाला तो बड़ई के चाली ज्वाला तो बड़ई के चाली
पीढ़ा गढि दै मोइ
पीछे ते लाँगुरिया चाल्यौ गिल्ली गढि दै मोइ

इसी रचना विधान का यह प्रसिद्ध पंजाबी गीत है-

लेदमड़ी ले दमड़ी हलवाई हट्टी जाँदी हाँ।

उपरोक्त चारों ही जातिगत नामों पर आधारित प्रस्तुतीकरण क्रम हैं। परजों के नामों की काफी बड़ी सूची छठी की रात के गीत 'दामोदरिया' में प्राप्त होती है, दूसरे लोकाचारिक एवं अन्य गीतों से मंगल उत्सवों में उनके कार्य भी पता लगते हैं वे यह हैं-

पंडित - मुहूर्त देखना नामकरण, जनेऊ, विवाहादि संस्कार कराना।
कुम्हार - कुल्हड़ सकोरे, चोरी लाना।²¹

कहार-कहारिन - डोली पालकी लाना ले जाना, टहल करना।
बड़ई - पलंग गढ़ना, पालना गढ़ना
धीमर- धीमरनी - पानी भरना
बम्मन-बामनी - रसोई तपाना, पूरी सिंकाना
खटीक-खटीकनी - (खाती) पालना लाना सूप आना चंदन पलिकियाँ गढ़ना।
गड़नी - कंकण लाना
माली-मालिन - सेहरे गजरे और बंदन वार लाना
मनियार-मनिहारिन - चूड़ी पहनाना
तम्बोली-तमोनि - पान लाना, बीड़े लाना
साईस - घोड़ी लाना
धोबी-धोबिन - बागे धोना सोबर²² धोना
गंधी - सुरमा लाना, अतर आना
सुनार - गहना लाना, गहना गढ़ना
दर्जी-दर्जिन - जोड़े बागे आना, तीहल सीना

सह सूची और लम्बी है, पर हर गीत में इन सबका समावेश नहीं होता, आवश्यकतानुसार ही नाम लिये जाते हैं। त्रिपाठी जी का दिया यह जनेऊ गीत मतलब के ही परजे लेता है।²³

सम्बन्धियों और नाते रिश्तेदारों के नामों के भी अलग-अलग गीतों में अलग-अलग प्रस्तुतीकरण क्रम हैं और मिले जुले भी, इन्हें साधारण और विशेष दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है।

साधारण क्रम

साधारण क्रम के एक प्रकार में कोई भी गीत बाबा दादी से शुरू होता है, और नाना-नानी पर खत्म हो जाता है। इस रचना-विधान के गीत बरने और बरनी बहुतायत से मिलते हैं। जनेऊ के भी कुछ गीत त्रिपाठी जी ने दिये हैं।²⁴

साधारण क्रम का दूसरा प्रकार बाबा दादी से प्रारंभ न होकर सास-ससुर के उल्लेख से शुरू होता है और पड़ौसी पड़ौसिन पर खत्म हो जाता है। इस रचना विधान पर सबसे ज्यादा 'बधावा' नामक गीत है।

विशेष प्रस्तुतीकरण क्रम

सम्बन्धियों के नामों का विशेष रूप में प्रस्तुत रचना-विधान एक विशेष प्रकार के गीतों में ही मिलता है, यह उसके सिवाय दूसरी तरह के गीतों में प्राप्त नहीं होता। पुत्र जन्म पर सगुण कार्य करने वाले सम्बन्धियों का एक क्रम है, जो जच्चा या सोभर नामक गीतों की रचना का आधार है। इस रचना-विधान के रूप में पूर्वोल्लेखित कुछ परजे भी शामिल हो जाते हैं-

- दाई - नाल काटना होरिल जनाना, प्रसव कराना
- धोबिन - सोबर धुलाना
- सास - चरूआ चढ़ाना
- ननद - साँतिये रखना, छठी रखना, काजल लगाना
- जिठानी - लड्डू बाँधाना, पीपल पीसना, सोंठ कुटाना
- देवरानी - रसोई तपाना, बिजनी डुलाना, पलंग बिछाना
- देवर - अंचल साधना, तीर साधना, बैसी बिछाना
- नाइन - नगर बुलाना
- पंडित - नाम रखना, राशि गिनना
- बाबा - थैली लुटाना
- सखियाँ - पड़ौसिन - मंगल गीत गाना

सम्बन्धियों के नामों का दूसरा प्रस्तुतीकरण क्रम देवी गीतों में मिलता है-

- पंडित - मुहूर्त देखना, निरमल घड़ी बिचारना
- पिता - खर्च देना
- चाचा - रूपये भुनाना
- भाई - घोड़ी सजाना
- चाची - लड्डू बाँधाना
- बुआ बहन - तिलक सजाना
- भाभी - देवी के छन्द गाना
- पत्नी - पंथ सिराना

देवी यात्रा के अनेकों गीत में यह रचना-विधान मिलता है। सम्बन्धियों के नामों पर आधारित रचना-विधान का तीसरा प्रस्तुतीकरण क्रम बधावे नामक गीतों में है। इस क्रम में भारत के अधिकांश भाग में प्रचलित पितृ प्रधान, कुटुम्ब व्यवस्था के अनुसार घर में स्त्री-पुरुषों के अधिकार स्थिति और कार्यों का निश्चित

रूप में उल्लेख रहता है। कुटुम्बियों की पारिवारिक स्थिति के ये चित्र यथार्थ रूप से कुछ भिन्न हैं। इस क्रम के व्यति क्रम भी प्राप्त होते हैं, पर गीतों में यह रूठ हो गया है। बहुत सम्भव है किसी समय ऐसी ही व्यवस्था रही हो या घर के सदस्यों के बहुत से कर्तव्य और अधिकारों में ही सांकेतिक रूप में कोई एक पक्ष चुन लिया गया हो। जेठ जी भैंस की देखभाल करते हैं, पर उनका मात्र इतना ही काम होगा, यह मानना कठिन होता है। इसी तरह गीत गायिका और केवल ताश चौपड़ ही खेलते रहे तो चल गई गृहस्थी। वस्तुतः यह विधान प्रमुख पक्ष ही प्रस्तुत करता है, जो दूसरे पक्षों की अपेक्षा महत्वपूर्ण है। लोकगीतों में पुरुषों के कार्य और क्रमानुसार निम्नस्थिति है-

- ससुर - अधई बैठते है सभा में बैठते है, गाँव के चौधरी हैं, और हुक्का पीते रहते हैं।
- जेठ - भैंस दुहते हैं, दुहैड़ी लेकर आते हैं, दादा जी हैं।
- देवर - गेंद खेलते है, फूल लेकर आते हैं, लाला जी है।
- नन्देऊ - होली खेलते हैं, परदेसी है, सजन के पूत हैं।
- पति - सार या चौपड़ खेलते हैं, सेज चढ़ते हैं।
- पड़ौसी - सरन बैठते हैं, रार मचाते हैं।

स्त्रियों के कार्य और स्थिति निम्न हैं-

- सास - पलंग और मुढ़िला की रानी है आँगन में बैठती है चक्की पिसवाती हैं, घर की स्वामिनी है।
- जिठानी - दही दूध और मथानी की रानी है, पानी भरवाती है घर में से आधा बाँटाती है, 'बाँटु बटामनि' है।
- देवरानी - रसोई की रानी है, खाना बनाती है, बनवाती है।
- ननद - बिजली है, चुगली करती है।
- सौत - सेज की रानी है, पति पर अधिकार रखती है
- पड़ौसिन - रार मचाती है।

रचना-विधान का यह प्रस्तुतीकरण क्रम कुछ थोड़े से और गीतों में भी मिल जाता है, जैसे- ब्रज का चरूआ रखने का गीत है, बहू विदा करने का गीत है, पर प्रमुखता इसमें रचित बधाये गीतों की ही है। प्रस्तुत रचना-विधान में समाज व्यवस्था का पक्ष अभिव्यक्त हुआ है। कुछ अन्य प्रांतों के लोकगीतों में भी ससुराल

के स्त्री-पुरुषों की ऐसी ही स्थिति हैं²⁵ समय का प्रभाव इस रचना-विधान पर भी पड़ा है। आजकल नाम परिगणन में सीमितता आ चली है। एक ही पिता का कुटुम्ब अब गणित किया है।

नखशिख विधान

नख शिख-विधान लोकगीतों का एक अन्य महत्त्वपूर्ण और व्यापक पैटर्न है। नारी स्वभावतः ही श्रृंगार प्रियता के उपकरण बदलते रहे हैं, पर मूल-प्रवृत्ति किसी भी युग में नहीं बदली, अतः नख-शिख विधान सबसे अधिक रूढ़िबद्ध भी है, और अधुनातम भी। आजकल यह विधान गीत रचना के नये से नये गीतों की रचना का आधार है²⁶ लोकगीतों में नख शिख वर्ण्य विषय के रूप में भी आता है पर कम, लेकिन विविध भावों को विस्तार देने के लिये 'विधान' रूप में प्रचुरता से आता है। नख-शिख विधान के मुख्यतः दो रूप मिलते हैं-

- क. आभूषण रहित नखशिख
- ख. आभूषण सहित या आभूषण नखशिख

आभूषण रहित नखशिख

यह नखशिख तो मानव मात्र का है अतः जच्चा,²⁷ बन्ना, बन्नी, दूल्हा बहू किसी का भी हो सकता है। रचना-विधान के इस रूप में उपमानों द्वारा अंगों का सौन्दर्य निरूपण रहता है। उपमाओं परम्परा और ग्रामीण सूझ-बूझ का मिश्रण है। नखशिख विधान का यह रूप रचना-विधान नहीं है, वर्ण्य विषय है, लेकिन रचना-विधान का मूलाधार होने की वजह से यहाँ विवेच्य है। झाँझी के एक गीत में टेसूराय की बहुरिया का नखरिया ऐसा है-

- माथा - चंदा सौ
- नाम - सुआसाई
- आँख अमुलरा - (आम की फाँके)
- मुख - बटुआ सौ
- दाँत - दरियाई (अनार के दाने) के बीज
- बाँह - बेलन सी
- जाँघ - खम्ब सी

उपमानों में ग्राम्य वातावरण अवश्य है, पर वैविध्य भी प्राप्त होता है। सिर के लिये नारियल का उपमान जीभ कमल

जैसा फूल, कलाई रेशम की लच्छी, पूवी जैसा पतला पेट, कैंची के सदृश्य पसलियाँ इत्यादि में यह बखूबी देखा जा सकता है।

आभूषण सहित नखशिख

आभूषण सहित नखशिख ही सही अर्थों में लोकगीतों की रचना का ढाँचा है। इस रचना-विधान में अंगों का सौंदर्य वर्णन नहीं रहता, सिर्फ अंग और आभूषण का उल्लेख रहता है। एक प्रस्तुतिक्रम में तो अंगों का भी उल्लेख नहीं सिर्फ आभूषणों के उल्लेख से ही गीत पूरा हो जाता है। आभूषण रूप में यह रचना-विधान साहित्य में भी प्रवेश कर गया है। धर्म के विभिन्न लक्षण और सात्विक गुण, वैराग्य परक गीतों की रचना में अंगों के आभूषण बन गये हैं। इस तरह के कुछ गीत समय सुन्दर जी ने लिखे हैं²⁸ प्रस्तुत पंजाबी गीत में आभूषण ही अंगों के पर्याय है-

तुसी नोकर चले, नौकरी चाकरी चले
साडा लई की ले आवे गा सो गात बीबाँ
की लई आ आओगे सो गात
मेरे लई टिक्का लि आना टिक्का झूमर लि आना
मेरी नणद ने लाना राणीहार बीबाँ
की लई आवेगा सोगात

पूरा गीत सिर से पैर तक के आभूषणों में पूरा है, किसी भी अंग का नाम नहीं आता, पर यह अपनी मूल-प्रवृत्ति के कारण नख-शिख रचना-विधान का ही गीत कहा जायेगा।

यद्यपि नख शिख विधान का आधार सभी प्रकार के गीतों में लिया जाता है। कथा गीतों में भी यह रचना-विधान गुम्फित होता है, बुन्देलखंड में 'घीचक वध' नामक गीत अत्यंत प्रसिद्ध है, उस गीत में घीचक को मारने के लिये सजे स्त्री रूप धारी भीम का अत्यंत सुंदर नख शिख वर्णन है, लेकिन अन्य गीतों की अपेक्षा बन्ने-बन्नी की रचना पर इस रचना-विधान का एक छत्र राज्य है। इसके भी दो रूप हैं प्राचीन और नवीन -

	प्राचीन	नवीन
सिर -	'सिर तेरे ककरे जी चीरा'	सेहरा लड़िया, हैट
नैन -	नैन तेरे लाहौरी सुरमा	चश्मा
मुख -	मुख तेरे पानों का बीड़ा	पाउडर

कान - कान तेरे सूरत के मोती	यही
गला - नारि तेरे नौ लर का तोड़ा	कलियों का हार, टाई
हाथ - हाथ तेरे रंग रचनी मेहंदी	घड़ी, रूमाल
कमर - कमर तेरे गुजराती फेंटा	बैल्ट
अंग - अंग तेरे खासे का जोड़ा	
	अंग तेरे केसरिया बागा (जामा) सूट
पैर - पैर तेरे सकलाती जूता	
	पैर तेरे जैपुर का जूता सैंडिल -मोजे, बूट
तल - तल तेरे काबुल का घोड़ा	कार
साथ - संग तेरे भइयों की जोड़ी	
	साथ तेरे साजन की बेटी
	संग तेरे हरियाला डोला

उपरोक्त क्रम के बन्ने त्रिपाठी जी ने अपनी पुस्तक में दिये हैं।^{१९} बिलकुल इसी ढर्रे पर बन्नियों की रचना होती हैं, बस फर्क इतना होता है, कि उस प्रस्तुतीकरण में बन्नी के आभूषण और बन्नी की सज्जा का उल्लेख होता है। होली खेल के गीत, रसिया आदि गीतों में नख-शिख विधान का सामान्य प्रस्तुतीकरण निम्न होता है-

प्राचीन

माथा - माथे वेणि बन्दिनी सो है
नाक - नाक चुनी नक वे सरि सो है
कान - कान कनक फूल झूमका सो है
गला - हार हमेल (हबेल) गुदी रवँगवानी
बाँह - बाँह बरा बाजू बंद सो है
कलाई - दछन चुरी मोतिन के गजरे
उँगली - दस उँगली इस मुँदरी सो है
कमर - कमरि कोंधनी पेटी सोहै
पैर - पांय भरत के मारे मारे बिछुआ
शरीर - सालू सरिस किसब को लँहगा

नवीन

टीका किलफे
नाक के आभूषण का उल्लेख नहीं रहता
इयरिंग, बाले, झाले और टाप्स, मोती
नैकलेस, लॉकेट
कॉलर, चेन, ब्रेसलेट
बैंगिल, घड़ी कंगन
अँगूठी
यही
पायल
साड़ी ब्लाउज

खेल के गीतों में पुरुष का भी साज-सज्जा युक्त नख-शिख वर्णन है, पर ऐसे गीत बड़ी न्यून संख्या में हैं। इन गीतों में

भी आधुनिक सज्जा को प्रभाव नैकटाई इत्यादि के उल्लेख में परिलक्षित होता है।

तुक साम्य, अर्थ विपर्यय विधान

लोकगीतों का यह रचना-विधान शुद्ध रूप में शब्द संयोजन के कौशल पर खड़ा है। यह गीत रचना-विधान पूर्व विवेचित रचना-विधानों के समान व्यापक गीत रचना की साम्य आधार नहीं है, कुछ थोड़े से गीत ही मिलते हैं, लेकिन रचना कौशल की दृष्टि से यह उल्लेखनीय है।

इस रचना-विधान में ऐसे दो शब्दों की जोड़ियाँ रहती हैं, जिनमें उच्चारण और तुक साम्य है, पर एक शब्द एक अर्थ बताता है। दूसरा, दूसरा अर्थ भी विनोदपूर्ण या असंगत स्थिति सूचित करना है-

अपनी गुजर करूँगी राजा कदरि या न जानी
मैंने मँगाई राई वो ले आया है लाई
अबकया फेरे पड़ेगे राजा कर कदर नहीं जानी
मैंने बुलाया जल्दी वो ले आया है हल्दी
अब क्या लाड़ी बनूँगी राजा कदर..

यह रचना-विधान कुछ मराठी गीतों में भी ग्रहण किया गया है। गीत रचना में उसी तरह उच्चारण और तुकसाम्य लिये शब्दों की जोड़ियाँ हैं, जैसे- अंगण-कंगन, फूल-गूळ (गुड़) सेड़ा-पेड़ा आदि।

इस रचना-विधान के दूसरे एक रूप में पहली पंक्ति में प्रयुक्त उसके अन्तिम शब्द की तुक पर दूसरे चरण की तुक मिलाई जाती है, पर दोनों शब्द ऐसे होते हैं, कि पहला तो निरर्थक महज तुक के लिये, लेकिन दूसरा गीत के निश्चित कार्यो सूचक होता है। यहाँ भी तुक साम्य है, पर परिणाम पर बल न होकर सजि कार्य श्रृंखला है जैसे यह घोड़ी गीत है-

मेरे सिर पै गरदिया छाई बना घोड़ी धीरे धीरे हाँको रे
मेरे हाथ में लाई मेरे बन्ने की आई सगाई ।। बना..
मेरे हाथ में रोरी, मेरे बन्ने की सज गई घोड़ी ।। बना..

× × × ×

मेरे हाथ में सोना मेरे बन्ने का हो गया गौना ॥ बना..
मेरे हाथ में छल्ला मेरे बन्ने के हो गया लल्ला ॥ बना..

इसी रचना-विधान के कुछ ऐसे भी गीत हैं, जिनमें एक ही जैसी क्रिया पर भिन्न-भिन्न परिणाम वाले कार्यों का आधार ले, गीत बड़ा है। सावन में ब्रज की लड़कियाँ यह गीत गाती हैं-

भाई नाऊ के रोटी जेंके जड़योरे
भाई बम्मना के पानी पीकें जड़योरे
खदर खदर मेरी हड़िया करे
नाऊ कहै मोकूँ खीर रँधे, मोकूँ खीर रँधे
छुनुन छुनुन मैरौ तयौ करै, नाऊ कहे मौकूँ पूरी सिके
लै मलरा³⁰ में तेल कूँ चली नाऊ कहै मोकूँ घी कूँ चली
लै उलिया³¹ में कूड़े कूँ चली नाऊ कहै मोकूँ बूरे कूँ चली

इस गीत में कल्पित वस्तु के पात्रों और ध्वनियों में साम्य है। भोजन की आशा में द्वार पर बैठा नाई गृहकार्य की सूचक ध्वनियों में लाये, ले जाते पात्रों में अच्छी दावत की तैयारी देखने लगता है, अंत में निराश होता है। प्रस्तुत रचना-विधान के गीतों में हास-परिहास के छिंटे रहते हैं।

शिष्ट सौन्दर्य दृष्टि से अगर लोकगीतों के उपरोक्त रचना-विधानों में सौन्दर्य और कला की खोज की जाये तो निराश होना पड़ेगा। समस्त रचना-विधानों के मूल घटक हैं रूढ़िबद्ध, दुहरावट,

और नाम मात्र के अंतर से एक जैसे, पर वहीं नहीं प्रस्तुतीकरण क्रम, नाम चाहे वह व्यक्ति का हो, वस्तुओं का हो, या आभूषणों का, उनकी गणना करने के प्रति विशेष आग्रह और अपने परिवेश से आधार चयन की सजगता है। दुहरावट और नाम परिगणना में भला कहाँ का सौन्दर्य तत्त्व है? पर लोकगीतों के ये रचना-विधान लोक का अपना रचना-शास्त्र हैं, अपना सौन्दर्य-बोध व्यक्त करते हैं, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इनमें भारतीय समाज व्यवस्था के सामाजिक, आर्थिक, व्यवसायिक, नैतिक और व्यावहारिक जीवन के अत्यंत स्वच्छ रूप प्रतिबिम्बित हुए हैं। समाज शास्त्र के दृष्टिकोण से उपरोक्त रचना-विधानों का अप्रतिम महत्त्व है। अतः भिन्न दृष्टि और भिन्न कोणों से अखिल भारतीय स्तर पर इनका अध्ययन अनुशीलन अपेक्षित है।

आज भी इन परम्परागत रचना-विधानों में गीत-रचना गंगा का प्रवाह अवरूद्ध नहीं हुआ है। आज जीवन और उसका परिवेश पहले से बदल गया है। लोक मानस इस बदलाव के प्रति जागरूक भी है, नये रंग नये ढंग में मोटर साइकिल, जहाज और नये आभूषणों के उल्लेख में यह सजगता दिखाई भी देती है। आज भी वह पुरानी चौखटों में नई से नई तस्वीरे जड़ता जा रहा है, और आवश्यकतानुसार चौखटें बदलता भी जा रहा है, पर वह चौखटें बदल कम ही रहा है।

संदर्भ

1. डॉ. परशुराम चतुर्वेदी का मत है : कबीर साहित्य के कई काव्य प्रकार वस्तुतः प्रचलित लोकगीतों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं.... वसंत चाँचर एवं हिंडोला वाली रचनाएँ किसी ऋतु विषयक भावना की दृष्टि से लिखी गई हैं।' कबीर साहित्य की परख पृ. 207
इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है श्री अगरचन्द नाहरा द्वारा सम्पादित 'समयसुन्दर कृति कुसुमांजलि' इस पूरी कृति में अद्यावधि लोक जीवन में प्रचलित लोकगीत के रूपों पर रचे गीत मिलते हैं।
3. फार्म की परिभाषा वेस्टर विश्वकोष में इस प्रकार है
2. प्रस्तुत विवेचन में उल्लेखित वे सारे गीत जिनका संदर्भ यहाँ नहीं दिया गया है ब्रजक्षेत्र से संग्रहित लेखिका के स्वयं के संग्रह में हैं।
4. पं. राम नरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी ग्रामगीत : पृ 421

5. करेले की उपज पर डॉ. सरोजिनी बाबर की पुस्तक 'जा माइया माहेरा' में तीन मराठी लोकगीत हैं थोड़े थोड़े अंतर के साथ पृ. 404, 407, 408। ब्रज में भी बालिकाओं का सावन का गीत करेले पर है टेक है 'माँ एक करेला में बोयौ'
6. पं. रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी ग्राम गीत पृ. 122, 223 उपनयन के गीतों में कपास उगाने का वर्णन है।
7. ब्रज का रत जगे गीत भाँग तम्बाकू की जोड़ी पर है।
8. जैसे ब्रज का जन्ति गीत 'धतूरा' धतूरे लिये भी खेत जोतने बोनो का उल्लेख करता है जबकि धतूरा जंगल पहाड़ों में स्वयं उगता है।
9. कविता कौमुदी ग्राम गीत पृ. 37
10. पूना विद्यापीठ में दिये भाषण का अंश
- 11-12. समय सुन्दर कृति कुसुमाजलि पृ. 384, 120
- 13.-16. सूर्य पुराण, भरत की बारहमासी पृ. 170, 172, 167-173, 176, 177, 173, 175
17. ग्वालियर की स्वर्गीय द्रौपदी भटनागर के निजी संग्रह से उपलब्ध सूर्य पुराण की खंडित प्रति में अलग अलग लोक कवियों की रची 9 बारह मासियाँ दी हुई हैं, ये लोक प्रचलित भी हैं।
18. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास : प्रभुदयाल मीतल पृ. 236, 237
19. अनुष्ठानिक विधि से देवी पीठों की यात्रा करना जात देना, 'जात कूँ' जाना कहा जाता है।
20. तुलसी ग्रन्थावली पृ. 12 (2) विवाह मण्डप के चारों स्तम्भों के सहारे रखी जाने वाली छोटी मटकियाँ, जो कला पूर्ण होती हैं।
21. प्रसव के कपड़े
- 22-24. कविता कौमुदी ग्रामगीत पृ. 129, 117, 125, 126
25. कविता कौमुदी ग्रामगीत : पृ. 199 तथा 163
कुछ मराठी लोकगीतों में भी यह पैटर्न है देखिये डॉ. सरोजिनी बाबर 'जा माइया माहेरा' पृ. 174, 175 तथा 411
एक नेपाली गीत में भी यह पैटर्न है पृ. 176, 177
26. बिलकुल नया गीत है- 'मुझे रेडियो दिलादो मैं तो रेडियो पै राजी' सर से पैर तक के आभूषण टुकराकर गायिका रेडियो की जिद पर अड़ी रहती है।
27. कविता कौमुदी ग्रामगीत पृ. 435
28. समय सुन्दर कृति कुसुमाजलि : अन्तरंग श्रृंगार गीतम् पृ. 457 तथा नेमि श्रृंगार वैराग्य गीतम् पृ. 130
29. कविता कौमुदी ग्रामगीत पृ. 225, 226
30. हँडिया
28. कतना भी पाठ मिलता है, जिसका अर्थ है छबरिया। डलिया

कठपुतलियाँ और तोलाराम

डॉ. महेन्द्र भानावत

भाग्य सदा ही बलवान होता है किंतु सबका और सब समय एक नहीं होता। छोटी जाति और छोटे लोगों के भाग्य कब खुलते हैं और कब किस मोड़ पर जाकर दस्तक देते हैं, यह स्वयं व्यक्ति को ही भनक नहीं लगती। तोलाराम जाति से मेघवाल होकर नहीं कुछ से बहुत कुछ हो जायेगा, यह उसके लिए भी सबसे बड़ा आश्चर्य है।

सन् 1932 में उदयपुर में जन्मा तोलाराम अपनी माता हूडीबाई और पिता चतुर्भुज के साथ कमठाणे के काम में बचपन से ही लग गया। प्रतिदिन उनके साथ मकान अथवा सड़क निर्माण में काम कर मजदूरी करता, तब ही उसे पेट भर खाना नसीब होता। ऐसा करते एक हवा ऐसी आई जब तोलाराम को तत्कालीन महाराणा भूपालसिंह के फर्राशखाने में काम मिल गया। जहाँ भी महाराणा का पधारना होता, वहाँ तम्बू आदि लगाने का काम करते-करते तोलाराम नाच की ठुमकियाँ लेने लग गया। उसका नाच धीरे-धीरे सामंतों और जागीरदारों की सराहना पाते-पाते महाराणा तक जा पहुँचा।

पहली बार जब महाराणा ने तोलाराम का नाच देखा तो वे बड़े प्रसन्न हुए और कहा- कि यह छोरा बड़ा गुणी लगता है। इसका नाक नक्श भी अच्छा है। यदि यह जनाना नाच करे तो अधिक अच्छा लगेगा और हुआ भी यही। तोलाराम ने फर्राशखाने में 1945 से 1950 तक काम किया। इस बीच कई बार विशिष्ट अवसरों पर उसका नाच रखा गया। कई बार महाराणा के जहाँ-जहाँ भी डेरे लगे, खासकर शिकारों में तब तोलाराम ने जनाना नाच दिखाकर महाराणा का मन बहलाव किया।

एकबार जयपुर के राजा मानसिंह तथा जोधपुर दरबार हनुवंतसिंह के लिए महाराणा भूपालसिंह ने पीछोला स्थित जगमंदिर में नृत्य

का कार्यक्रम रखा। उसके लिए बाहर से छह नचनियाँ बुलाई गईं। सबसे पहले तोलाराम का पणिहारी नृत्य रखा गया। तोलाराम अपने जनाने वेश में बड़ी सजधज के साथ ऐसा नाचा कि कोई उसे पहचान नहीं पाया और हुआ यह कि उस पूरे कार्यक्रम में तोलाराम ही नाचता रहा और नचनियाँ बैठी की बैठी रह गईं। महाराणा भी नहीं जान पाये कि वह तोल्या था। बाद में जब उन्हें पता लगा तो बड़ी शाबासी कहलवाई और कोर किनारी वाला पूरा वेश, रखड़ी, तुलसी, बाजू तथा कुरती के लगाने के सोने के बटन बख्शीस में दिये। ऐसी बख्शीस तोलाराम ने न केवल महाराणा से बल्कि महारानी साहिबा, सामंतों, सरदारों तथा उनकी जनाना सरदारों से भी प्राप्त की।

इसी तरह एकबार महाराणा का चित्तौड़ बिराजना हुआ। स्टेशन के पास भोपाल भवन में तोलाराम का नाच ऐसा छाया कि उदयपुर से चलने वाली रेलगाड़ी के ड्राइवर ने गाड़ी ही रोक दी। उसमें बैठी सभी सवारियाँ वह नाच देखती रहीं। लोग कहने लगे कि राणाजी के ठाठ का क्या कहना। वे जहाँ बिराजते हैं, वहीं उदयपुर बस जाता है। यह घटना सन् 1945 की है।

सन् 1952 में जब भारतीय लोककला मंडल की स्थापना हुई, तब उसके संस्थापक देवीलाल सामर से तोलाराम को कलाकार के रूप में अपने यहाँ रख लिया। यहाँ रह तोलाराम ने लोकनृत्यों, नृत्य नाटिकाओं तथा कठपुतली प्रदर्शनों में मुख्य कलाकार की भूमिका का निर्वाह करते 1996 तक अपनी सेवाएँ दी और न केवल पूरे देश में अपितु विदेशों में भी कई जगह प्रदर्शन देकर बड़ा यश और लोकप्रियता अर्जित की।

तोलाराम ने बताया कि कलामंडल के प्रदर्शन देश के कई बड़े शहरों और गाँवों में तो हुए ही, किंतु राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू तथा भारत सरकार द्वारा आमंत्रित अति विशिष्ट अतिथियों के सम्मुख भी हुए जिनमें रूस के मार्शल बुल्गानिन तथा खुश्चेव, इण्डोनेशिया के प्रधानमंत्री, यूनेस्को सम्मेलन के प्रतिनिधियों, उज्बेकिस्तान के कलाकारों के अलावा समय-समय पर आयोजित अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनों, विश्वास कृषि मेलों में भी हमारे प्रदर्शनों ने धूम मचा दी।

कलामंडल द्वारा भवाई, तेराताल, वनवासी, फागुन, घूमर, घूमरा, कच्छी घोड़ी जैसे लोकनृत्यों ने पूरे देश की परम्परागत

कला और संस्कृति की विरासत को संरक्षित एवं सम्बर्द्धित करने की प्रेरणा दी। इसी प्रकार लोकाधारित रंगतों की आधारशिला पर निर्मित नृत्य नाटिकाओं ने भी बड़ा नाम कमाया। तोलाराम ने इन नृत्य नाटिकाओं में अपनी नामचीन भूमिका में अमिट छाप छोड़ी। रासधारी में लक्ष्मण, मूमल-महेन्द्र में महेन्द्र, पणिहारी में घुड़सवार नायक, म्हाने चाकर राखो जी में मीरा के पति भोजराज, ढोला-मारू में ढोला का अभिनय जिसने भी देखा वह आजतक उसकी याद लिए है। प्रख्यात कवियित्री महादेवी वर्मा ने तो मीरा नाटिका देखने के लिए उदयपुर से चलनेवाली ट्रेन ही छोड़ दी और बाद में उन्हें चित्तौड़ से बिठाने की व्यवस्था करनी पड़ी। उन्होंने कहा कि मीरा पर कई जगहों पर अपने व्याख्यान दिये और बहुत कुछ कहा किंतु यहाँ जो कुछ देखा- समझा वह मेरे मानस पटल पर अंकित हृदय द्रवित करने वाला दृश्य ही है।

कठपुतली नाटिकाओं में तो तोलाराम ने कमाल ही कर दिखाया। नाटिका चाहे रामायण हो या लंगोटी की माया, संगठन में बल हो या वैशाली का अभिषेक, पचफूला हो या सुजाता-तोलाराम ने इनके प्रदर्शन में कठपुतली धागों को अदृश्य बने अपनी अंगुलियों में सँवारते जो अभिनय की बारीक टुमकियाँ दी, वह देश-विदेश के दर्शकों में दौंनों तले अंगुली दबाना सिद्ध हुई। कठपुतली सर्कस जिसने भी देखा, वह असली सर्कस को देखना भूल गया।

यही नहीं, 1965 में रूमानिया की राजधानी बुखारेस्ट में कठपुतली का तीसरा अंतर्राष्ट्रीय समारोह आयोजित किया गया। इसमें बत्तीस राष्ट्रों के एक से बढ़कर एक कठपुतली दलों ने भाग लिया। ऐसे दल भी आये जिनमें सौ-सौ कठपुतलियाँ और उन्हें नचानेवाले पचास तक कलाकार थे। प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने विशेष दिलचस्पी लेकर कलामंडल के कठपुतली दल को इस समारोह में भेजा।

देवीलाल सामर के नेतृत्व में दो ही कलाकार दयाराम तथा तोलाराम इस समारोह में बत्तीस पुतलियों की छोटी सी पिटारी के साथ सम्मिलित हुए और कठपुतली के परम्पराशील खेल अमरसिंह राठौड़ की आधार भूमि लिए मुगल दरबार नामक खेल प्रस्तुत किया। यह प्रस्तुति इतनी लाजवाब रही कि इसके आगे अन्य सारे ही कठपुतली प्रदर्शन निस्तेज हो गए और मुगल दरबार को सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन के लिए सर्वोच्च पुरस्कार से अभिमंडित किया गया।

यह क्षण न केवल भारत के लिए अपितु पूरे विश्व में कठपुतलियों की भारतीय देन के लिए अलौकिक सिद्ध हुआ, जब राजस्थान की धागा पुतलियाँ विश्व के सर्वोच्च कीर्तिमान के रूप में प्रतिष्ठित हो गईं। तोलाराम आज भी उस घटना को याद करते अभिभूत होता है और अफसोस करता है कि अब न सामरजी रहे, न दयाराम। केवल वह अकेला है जैसे किसी अंधेरी कोठरी में एकांतवास करते सिसकियाँ ले रहा है।

तोलाराम ने कलामंडल में रहकर देश का कोई अंचल नहीं छोड़ा, जहाँ लोकधर्मी नृत्यों एवं कठपुतलियों के प्रदर्शन न दिये हों। रूमानियाँ तथा अन्य देशों में दो माह पन्द्रह दिन की यात्रा कर पैतीस प्रदर्शन दिये। ट्यूनीशिया, कुवैत तथा अरब देशों की एक माह ग्यारह दिन की यात्रा में इक्कीस, ईरान एवं इराक की चौदह दिवसीय यात्रा में छब्बीस, डेनमार्क की एक माह तेरह दिन की यात्रा में उन्चालीस, स्पेन तथा अफ्रीका की एक माह सात दिन की यात्रा में छत्तीस, स्वीडन, बेल्जियम तथा हॉलैंड की एक माह दो दिन की यात्रा में बयालीस, वियतनाम, इन्डोनेशिया, मलेशिया की एक माह अठ्ठाईस दिन की यात्रा में आठ, फ्रांस तथा पेरिस की एक माह बारह दिन की यात्रा में सताईस, पेरिस की छब्बीस दिन की यात्रा में आठ, आस्ट्रेलिया की बारह दिन की यात्रा में चार, कुवैत की आठ दिन की यात्रा में चार एवं इंग्लैण्ड की दस दिन की यात्रा में चार प्रदर्शन दिये।

इसके अतिरिक्त सिक्किम के गंगटोक में तीन, भूटान के थीम्पु तथा पारो में छह, नेपाल के काठमाण्डू, पोखरा, पालपा, तानसेन, बुटवाल, भेखा तथा नेपालगंज में इक्कीस प्रदर्शन देकर न केवल अपनी कला-संस्कृति बल्कि उधर की कला-संस्कृति एवं कलाकारों से हेलमेल कर अपना जीवन धन्य किया। ये यादें ही अब तोलाराम की विरासत बनकर उसे जिन्दादिल बनाये हुए हैं। यह सही है कि तोलाराम ने कभी किसी स्कूल की घंटी तक नहीं सुनी, किंतु अपनी रुचि से अक्षर ज्ञान सीख गया और जैसा भी समय आया अपना काम चला लिया।

राजस्थान में कितने ही कलाकार ऐसे हुए, जिन्होंने अपने कौशल द्वारा दूर-सुदूर तक बड़ा नाम कमाया, किंतु वे गुमनाम अंधेरों में ही खो गए। इनमें भवाई का बेजोड़ कलाकार दयाराम, चिड़ावी ख्यालों का सम्राट दूलिया राणा, बहुविज्ञ स्वाँगों का धारक परसराम बहुरूपिया, रासधारी ख्यालों का सरताज गंगाराम वैरागी, तुरा ख्यालों के उस्ताद चैनराम, कलंगी के उस्ताद खाजूखाँ, अनगढ़ अखाड़े के उस्ताद लादूराम स्मृति शेष होकर हमारे देखते-देखते विस्मृत हो गए हैं और वर्तमान में कावड़ निर्माता मांगीलाल मिस्त्री, शहनाई वादक हरिराम नगारची और कलंगी ख्यालों के उस्ताद अकबर बेग जैसे नाम अपनी पहचान की चमक खोते जा रहे हैं।

लोक साहित्य की सम्वेदना भूमि

डॉ. अमित शुक्ल

किसी भी समाज की जातीय मनीषा, सामुदायिक चेतना, जाति बोध, मानवीय मूल्य, जीवन दर्शन और सम्वेदनाओं के विविध पक्षों को जानना हो तो उसके लोक को जानना जरूरी है। जीवन दर्शन और आध्यात्म से लेकर मनुष्य के तमाम राग-विराग हमारे इस लोक में मौजूद हैं। इसीलिए सूफी संतों से लेकर आध्यात्म के सभी सम्वाहक सबसे पहले इसी लोक में जीवन की उन सच्चाईयों को आत्मसात् करने का प्रयास करते हैं, जिनमें जीवन का सार छिपा हुआ है। इसी सार को हमारे संत और आध्यात्मिक गुरु अलग-अलग माध्यमों से अभिव्यक्त और प्रतिपादित करते हैं। यही प्रतिपादन या निरूपण उस समाज का लोक साहित्य कहलाता है। किसी भी देश का लोक साहित्य उस देश की जनता का उद्गार है। वह उनकी हार्दिक भावनाओं का सच्चा प्रतीक है। लोक साहित्य से ही किसी देश की सभ्यता को जाना जा सकता है, क्योंकि वह मानव की भावना से जुड़ा साहित्य है। यह मानव के हृदय में लिपटा रहता है, जो कृत्रिमता से कोसों दूर रहता है। इसमें मानवता की झलक और आत्मीयता को सहज ही देखा जा सकता है। 21वीं सदी के भूमण्डलीकरण के इस युग में लोक साहित्य का महत्त्व और बढ़ गया है, क्योंकि यही दूर होते रिश्तों को जोड़ने का कार्य कर सकता है। लोक साहित्य में लोक गीतों, गाथाओं, कथाओं, कहावतों, नाट्यों में मानवता की झलक स्पष्ट दृष्टिगत होती है, क्योंकि यह लोक का, लोकमानस का और लोक सोच का एवं उसके मन का दर्पण होता है। यह धरती मानव हृदय के लिए अनुभवों और अनुभूतियों की पाठशाला है। मानव ने जब पहली बार इस धरती पर आँख खोली तो उसे पीठ पर हल्की सी थपकी और कानों में लोरी की मिठास का अनुभव हुआ। उसकी

मधुर मुस्कान और किलकारी से माँ निढाल हो गई। इस प्रकार अनुभूतियों के रहस्यमय, सरस एवं रोमांचक वातावरण ने मानव के जीवन को इन्द्रधनुषी रंग दे दिए, इससे लोकमानस कभी गाने लगा, कभी थिरकने लगा और कभी पुलकित होकर अपनी अनुभूतियों को सहज रूप से अभिव्यक्ति देने लगा। उसका मन स्वयं गीतों की गंगोत्री बन गया, उसके उद्गार लोककथाओं की सरिता बन गए। उसकी वाणी में ऐसा आकर्षण और जादू समा गया कि लोक के लिए शब्द कहावतें बन गई, उसकी भाषा में मुहावरे जुड़ गए और लोक साहित्य के लिए ऐसी भावभूमि तैयार हो गई, जहाँ विभिन्न विधाओं के माध्यम से मानव की अनुभूतियाँ अभिव्यक्ति का रूप लेने लगीं।

लोक साहित्य मानव के हृदय में समाये हुए भावों को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति देता है। इसमें क्षेत्र विशेष की आत्मा बोलती है। मानव के संस्कार और जीवन का चिरंतन सत्य बोलता है, यहाँ संस्कृति रूपायित होती है। कहावतों और मुहावरों में भी लोक को वाणी मिलती है, अनुभवों का संसार सामने आता है। मानव के व्यवहार, उसके आचार-विचार, उसके आचरण और जीवन दृष्टि के चित्र साकार होते हैं। लोक के आदर्श उसके जीवन की आधारभूत मान्यताएँ, कहावतों और मुहावरों में संचित होती हैं। ये मानवीय व्यवहार के विभिन्न रूप सम्वेदनाओं का विचित्र संसार, जीवन की हरियाली, मरण की उदासी, संघर्षों से जुड़ा जीवन, देखा हुआ समय, भोगा हुआ यथार्थ, भविष्य की आशा, मन की व्यथा, रिश्तों की मिठास और बदलने या टूटने का दर्द, सब कुछ रूपायित होता है। सत्ता और सेवा के दृश्य, मानव मन, मानवत्तर जगत का तारतम्य, मन की उड़ान, कल्पना की डोर और सबसे बड़ी बात यह है एक अज्ञात रहस्य लोक की अनुभूति। यहीं जन्म मिलता है कहावत को और उपजता है मुहावरा एवं कंठ से फूट पड़ता है जीवन का संगीत।

21 वीं सदी के भू-मण्डलीकरण के इस दौर में मूल्यहीनता, निराशा, हिंसा, आतंक ने जहाँ मानव में एक भय उत्पन्न कर दूरियाँ बढ़ा दी हैं, ऐसे समय में लोकसाहित्य के माध्यम से मानव मूल्यों

और सम्वेदनाओं को समाज में बनाये रखना एक महत्वपूर्ण कड़ी है। क्योंकि लोकसाहित्य में मानवीय सरोकारों के प्रति गहरी आस्था दृष्टिगत होती है, इनमें हृदय के वास्तविक उद्गार प्रस्फुटित होते हैं। ये किसी देश-परदेश अथवा क्षेत्र की सभ्यता, संस्कृति और रीति-रिवाजों का मुँह बोलता साक्ष्य है। इसमें यथार्थ और आदर्श का सुन्दर समन्वय मिलता है, जो साहित्य मानव जीवन के केवल एक पक्ष का वर्णन उपस्थित करता है, वह सच्चा साहित्य नहीं कहा जा सकता है। जिस साहित्य में जन जीवन की आशा-निराशा, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि सभी भावनाओं का चित्रण हो, वही सच्चा अमर और लोकप्रतिनिधि साहित्य है, जिसकी झलक लोकसाहित्य में मिलती है। लोकसाहित्य उस निर्मल दर्पण के समान है, जिसमें मानव का अखिल तथा विराट स्वरूप पूर्णरूपेण प्रतिबिम्बित होता है। लोक साहित्य की निर्मल निर्झरणी में अवगाहन कर केवल शरीर ही पवित्र नहीं होता, प्रत्युत आत्मा भी पावन बन जाती है।

निष्कर्ष यह है कि लोक साहित्य लोक संस्कृति का फोटोग्राफर है, जो उसकी विभिन्न भंगिमाओं को उजागर करता है तथा जिसमें हमें प्रकृति व जन जीवन के समस्त पक्षों की झांकी देखने को मिलती है। पर आज के भूमंडलीकरण के इस दौर के कोलाहल पूर्ण औद्योगिक प्रगति के युग में मानव प्रकृति के सम्पर्क में रहकर भी उसके शाश्वत सौंदर्य के अवलोकन और अनुभूति से वंचित है। मानव की संवेदनशील भावनायें आज अशक्त होती जा रही हैं। देखा जाए तो आज पाश्चात्य सभ्यता और तथाकथित आधुनिकता के मोह में हमारी सोच अभिव्यक्ति और भाषा का सहज स्वरूप प्रदूषित हो गया है। कहावतें, मुहावरे और यहाँ तक कि इस विरासत से जुड़ी सटीक शब्दावली भी लुप्त हो रही है। लोकसाहित्य उपेक्षित हो रहा है। हम अपनी सभ्यता, संस्कृति और धरती के मूल संस्कारों से वंचित हो रहे हैं। अतः अपनी जड़ों और संस्कृति को जोड़े रखने के लिए लोकसाहित्य और उसकी विधाओं के संरक्षण करने की अत्यंत आवश्यकता है, तभी हम लोक साहित्य की सम्वेदना भूमि के अस्तित्व को समाज में कायम रख पायेंगे।

भारतीय संस्कृति में कुंभ और शंख

डॉ. महेशचन्द्र शांडिल्य

भारतीय संस्कृति में कुंभ मानव जीवन में मांगलिक प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त कुंभ की महत्ता सर्वविदित है। भारतीय पौराणिक ग्रन्थों के अनुसार कुंभ या कलश में ब्रह्मा, विष्णु, महेश और मातृगणों आदि का निवास माना गया है। समुद्र मंथन से आयुर्वेद के प्रवर्तक धन्वन्तरी जी हाथ में अमृत भरा कुम्भ लिए प्रकट हुए। कुम्भ में भरा जल मानव जीवन का प्रतीक है। हमारे शास्त्रों में नौ प्रकार की पूजा-अर्चना का विधान है, जिसके तहत कुम्भ स्थापना व पूजा को श्रेष्ठ माना गया है।

प्राचीनकाल से ही भारतीय परम्परानुसार किसी शुभ कार्य, मांगलिक अवसर पर कुंभ स्थापना अवश्य ही की जाती है। आम्र-पल्लवों से आच्छादित जलपूरित कुम्भ, हमारे जीवन का साक्षी होता है। कुम्भ, अनादिकाल से जन-जीवन की धार्मिक परम्पराओं और पूजा-पाठों का अभिन्न अंग बन चुका है। ऋग्वेद में भी कुम्भ (कलश) का उल्लेख इस प्रकार मिलता है-

*आपूर्ण आस्व कलशः स्व सेक्तेव कोशं षिषिचे,
पिब्ध्ये प्रदक्षिणीदधि, सोमास इन्द्रम् ॥*

पवित्र जल से भरा हुआ कलश भगवान इन्द्र को समर्पित है। इसी प्रकार अथर्ववेद में मधु से भरे कलश और दही से भरे कुम्भ की चर्चा की गयी है। ऐसे कुम्भ को स्त्रियाँ यजमान के समक्ष उपस्थित करती थी। इसकी चर्चा स्कन्द पुराण, मत्स्य पुराण और वाजसनेय संहिता में भी मिलती है। पालि साहित्य में भी कलश और पूर्ण घट की चर्चा की गयी है। घट को भी कुम्भ कहा जाता है,

जो सतत् प्रवहमान जीवन का प्रतीक है और उसमें भरा जल प्राण और सम्पन्नता का प्रतीक है। आज भी विवाहोत्सव के अवसर पर कुम्भ की प्रतिस्थापना वरुणदेव के आह्वान के लिए की जाती है।

जल से भरे कुम्भ पर स्वस्तिक चिह्न अंकित किया जाता है। कुम्भ में पैसे-चावल छोड़कर आम्र-पल्लव लगाकर, जटायुक्त नारियल रखकर सुसज्जित किया जाता है। कहीं-कहीं कुम्भ पर माटी का चौमुखी अथवा पंचमुखी दीपक प्रज्वलित किया जाता है। दीपक का प्रकाश मनुष्य की प्रगति तथा खुशियों का पर्याय माना जाता है। भारतीय संस्कृति में दीपक साक्षात् सूर्य व अग्नि का द्योतक माना गया है।

हमारी संस्कृति का मंगल प्रतीक कुम्भ एक जाज्वल्यमान इतिहास का प्रतिनिधि भी है। यह कुम्भ ही है, जिसमें समुद्र मंथन के उपरान्त अमृत की प्राप्ति हुई थी। वैसे कहा भी जाता है कि पूजा-पाठ और मांगलिक कार्यों के अवसर पर कुम्भ के माध्यम से वरुणदेव का आह्वान इसलिए किया जाता है कि यह हमारे लिए समुद्र के समान प्रभूत रत्नराशि की मंजूषा सिद्ध हो, जो हमारे जीवन को वैभवपूर्ण बना सके।

भारतवर्ष के लगभग सभी प्राचीन और ऐतिहासिक महत्त्व के मंदिरों में कमल पुष्प पर विराजमान लक्ष्मी का दो हाथियों द्वारा अपनी-अपनी सूँड़ में कलश द्वारा जल भरकर स्नान कराने का दृश्य मिलता है। साँची, मथुरा, भरहुत आदि स्थानों पर तो पत्तियों, कलियों और कमल पुष्पों सहित पूर्ण कुम्भ चित्रित हैं। ये कुम्भ स्वर्णिम हैं। कुम्भ पर कमल के साथ वरुण, लक्ष्मी और विष्णु के भी चित्र अंकित हैं, जो धन-धान्य की वृद्धि एवं मंगल-कामना के प्रतीक हैं।

राज्याभिषेक, समर प्रयाण, गृह-प्रवेश, यात्रा-आरम्भ एवं विवाह-संस्कारों के अवसर पर स्वस्तिक अंकित कुम्भ की स्थापना करने की परम्परा रही है। मंगल प्रतीक स्वस्तिक के कई अभिप्राय हैं। इसका एक आशय चौराहा भी है, जो संगम बनकर वहाँ के चारों दिशाओं में मार्ग प्रशस्त करने का प्रतीक है। इसी प्रकार स्वस्तिक का एक अर्थ है- सूर्य। सूर्य की किरणें चारों दिशाओं में प्रकाश करते हुए विघ्नरूपी अन्धकार को समाप्त

करती है। चारों दिशाओं में इसका एक-एक प्रतीक होता है, जैसे कुम्भ रूपी रत्नराशि से सूर्य ने चारों दिशाओं में एक-एक इन्द्र को स्थापित कर दिया है। इन चारों के अलग-अलग नाम भी हैं। यथा पूर्व में वृहश्रवा इन्द्र, पश्चिम में विश्वदेवा इन्द्र, उत्तर में अरिष्टदेव इन्द्र और दक्षिण में वृहस्पति इन्द्र। इस प्रकार इन चारों दिशाओं के केन्द्र स्थल में सूर्य है और उनका प्रतीक है- कुम्भ।

इसके दो भागों को देव मण्डल और पितृ मण्डल कहा गया है। देव-मण्डल आयताकार और पितृ-मण्डल वृत्ताकार होता है। इसमें से छः रस्मियाँ निकलती हैं, जिनसे बनी आकृति स्वस्तिक कहलाती है।

मानव शरीर की बनावट भी कुम्भ सदृश्य मान्य है। शरीर कुम्भ प्रकृति की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति है अथर्ववेद की उक्ति है कि मानव शरीर कुम्भ को सूर्यदेव द्वारा दिए गए अमृत-वरदान से वह शत-शत वर्षों से जीवन रसधारा में प्रवाहित हो रहा है। इसीलिए अमृत भरे कुम्भ की उद्भावना की गयी। अतः समस्त मानव जाति को प्रेम और माधुर्य का सम्बन्ध रखना चाहिए। शब्द कल्पद्रुम में स्पष्ट उल्लेख है कि कुम्भ में जल भरते समय मधुर-ध्वनि होती है।

अगर हम कुम्भ को जल से भरा 'घट' भी मानें तो यह जीवन के लिए उस अनिवार्य तत्त्व की और संकेत है जिसके अभाव में समस्त जीव, जीवित नहीं रह सकते। कहीं-कहीं कुम्भ को मंजूषा भी कहते हैं। इसका आशय है कि वह वस्तु जिसमें कोई चीज संचय की जा सके। यही कारण है कि प्रत्येक शुभ अवसर पर कुम्भ स्थापना और पूजा अनिवार्य मानी गयी है।

देवी पुराण में कुम्भ स्थापित करने की विधि पर विस्तृत चर्चा की गयी है। भगवती देवी की पूजा-अर्चना से पूर्व कुम्भ की स्थापना की जाती है। मंत्रोच्चार के साथ उसमें पवित्र-जल भरा जाता है। कुम्भ के बाह्य भाग पर मिट्टी का लेप लगाकर और उसके आसपास भूमि पर मिट्टी डालकर गेहूँ या जौ बीज बोया जाता है। जो एक सप्ताह में हरे-भरे हो जाते हैं। कुम्भ के शीर्ष भाग में आम्र-पल्लव या पान लगाकर मिट्टी का बड़ा दिया प्रज्वलित कर रखा जाता है। कुम्भ स्थापना और दीपक के प्रकाश से माँ जगदम्बा की कृपा से चारों दिशाओं में सभी प्रकार

की शुभ-शांतियों का संचार होता है। माँ जगदम्बा की असीम कृपा पाने के लिए देवी मंदिरों के साथ-साथ भक्त अपने-अपने घरों में भी कुम्भ स्थापना कर जगत् जननी दुर्गा के शक्ति-स्वरूपों की विधिवत् पूजा-अर्चना करते हैं।

कुम्भ को काल का अविचल आधार माना गया है। यह नाना रूपों में अभिव्यक्त है। काल का प्राण श्वास और श्वास का आधार कुम्भक-प्राणायाम है। प्राणायाम से ही शरीर शताधिक वर्षों तक रोग-रहित होकर कर्मरत रहता है। यह शांति सूर्य की नीली रश्मियों के माध्यम से उद्भूत होती है, इसलिए प्राणायाम के माध्यम से सूर्योपासना श्रेष्ठ मानी गयी है।

कुम्भ को गंज कुम्भ की भी संज्ञा दी गयी है। इसका अभिप्राय प्रमोद और मादकता से है। इसीलिए किसी के शुभागमन पर कुम्भ रखे जाते हैं और किसी-किसी अवसर पर जल भरे कुम्भ से अभिसिक्त किया जाता है। लंका विजय के बाद श्रीराम जी के राज्याभिषेक के अवसर पर जल भरे कुम्भों की पंक्तियाँ सजायी गयी थी। श्रीराम विवाह के अवसर पर जनकपुरी की प्रजा ने भी कुम्भ द्वार सजाकर उनका स्वागत किया-

भरे कनक काजर कलस,
सो लियेहिं परिचारक रहै ॥

और विवाह चौक पर भी मंगल -कलश रखे गए। इसका उल्लेख श्री रामचरितमानस में इस प्रकार किया गया है-

जनक बाम दिसि सोह सुनयना,
हिमगिरि संग बनी जिमि मयना
कनक कलस मनि द्वापर रुरे,
सुचि सुगन्ध मंगल जल पूरे ॥

इसी प्रकार चौदह वर्ष के वनवास के बाद जब श्रीराम अयोध्या लौटते हैं, तब उनके स्वागत में नगर-निवासी इस प्रकार तैयारियाँ कर रहे हैं -

कंचन कलस विचित्र संवारे
सवाहि धारे सजि निज द्वारे ॥

इस प्रकार भारतीय संस्कृति में कुम्भ, कलश या घट की

उपादेयता हम सभी के जीवन में सदैव बनी रही है, बनी रहेगी, क्योंकि कुम्भ मानव जीवन के साथ ही साथ मंगल कामना का भी प्रतीक है।

शंख

शंख एक सुषिर और मांगलिक वाद्य है। शंख निधि का प्रतीक है। धार्मिक कार्यों में शंख का उपयोग किया जाता है। पूजा-आराधना, अनुष्ठान-साधना, आरती-महायज्ञ एवं तांत्रिक क्रियाओं के साथ शंख का वैज्ञानिक एवं आयुर्वेदिक महत्त्व भी है। मांगलिक कार्यों में शंख ध्वनि अत्यन्त शुभ मानी जाती है। युद्ध के अवसर पर शंख ध्वनि का विशेष महत्त्व है। पूजा के प्रारम्भ एवं समाप्ति पर शंख ध्वनि करने का विधान वैदिक काल से ही रहा है। शंख ध्वनि के प्रभाव से वातावरण पवित्र हो जाता है और नकारात्मक शक्तियाँ दूर होती हैं। हमारे शास्त्रों में शंख को उच्च स्थान प्राप्त है। शास्त्रों के अनुसार शंख पूजन से सुख, शांति व लक्ष्मी का घर में प्रवेश होता है। शंख ध्वनि सुनकर देवी-देवता प्रसन्न होते हैं और शुभ आशीष देते हैं। देवी के आयुधों में से एक आयुध शंख है।

यजुर्वेद में कहा गया है- 'यस्तु शंख ध्वनिं कुर्यात् पूजाकाले, विशेषतः विमुखतः गर्भ पापेन' अर्थात् पूजा के समय जो व्यक्ति शंख ध्वनि करता है, उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। प्रचलित धार्मिक मान्यताओं के अनुसार शंख ध्वनि सीधे ईश्वर के कानों तक पहुँचती है, और वे शंख बजाने वाले को अपना आशीर्वाद प्रदान करते हैं।

भारतीय धर्मशास्त्रों में शंख का विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। रामायण, महाभारत तथा अनेक पौराणिक ग्रन्थों के प्रसंग इस बात के साक्षी हैं कि भारतीय संस्कृति में आध्यात्म के प्रारम्भिक चरण से ही शंख को पूज्य, पवित्र और शुभ्रता का प्रतीक माना जाता रहा है। सामाजिक जीवन के लगभग सभी अवसरों पर शंख ध्वनि करने की परम्परा रही है। उत्सव, पूजा-अर्चना, युद्धारम्भ, विजय, विवाह, राज्याभिषेक, देव-अर्चन जैसे अवसरों पर शंख की ध्वनि से आसपास का वातावरण गुंजायमान हो उठता है। अतः शंख का प्रयोग सदैव शुभ और मंगलकारी माना गया है। शंख को देवी लक्ष्मी का सहोदर माना जाता है।

शंख को बजाने पर प्रथम नाद ओम् की मधुर ध्वनि उत्पन्न होती है, जो प्रभु का सार्वभौमिक नाम है। मान्यता है कि शंख का प्रादुर्भाव समुद्र मंथन से हुआ था। समुद्र से प्राप्त चौदह रत्नों में से शंख भी एक रत्न है। विष्णु पुराण के अनुसार माता लक्ष्मी समुद्रराज की पुत्री हैं तथा शंख उनका सहोदर भाई है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार 'शंखशब्दों भवेत् यत्र-तत्र लक्ष्मीश्च सुस्थिरा' अर्थात् जहाँ-जहाँ शंख ध्वनि की जाती है, वहाँ-वहाँ लक्ष्मी का सदैव वास होता है। स्वर्गलोक में अष्टसिद्धियों एवं नवनिधियों में शंख का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भगवान विष्णु इसे अपने हाथों में धारण करते हैं।

शंख का दर्शन तथा यात्रा के समय शंख की ध्वनि मंगलसूचक समझी जाती है। शंख ध्वनि से संक्रामक रोगों के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। जहाँ बजता है, वहाँ पर साक्षात् भगवान विष्णु तथा लक्ष्मीजी का निवास रहता है। शंख की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ब्रह्म पुराण में कहा गया है कि देवाधिदेव महादेव का मध्याह्नकाल के सूर्य के समान देदीत्यमान शूल जब दानव वीर शंखचूड़ के ऊपर गिरा तो वह भस्म हो गया। इस पर महादेव बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उसकी हड्डियों को समुद्र में फेंक दिया। उन्हीं सब हड्डियों से नाना प्रकार के शंखों की उत्पत्ति हुई।

सनातन धर्म की उपासना पद्धति में विशेषतः मन्दिरों में, घरों में सत्यानारायण की कथा-हवन आदि के अवसर पर आरती करना, शंख, घण्टा, घड़ियाल की ध्वनि करने का विशिष्ट महत्त्व है। वाराहपुराण के अनुसार बिना शंख ध्वनि किए देव मंदिर का द्वारा नहीं खोलना चाहिए, जो मनुष्य शंखादि कि ध्वनि किए बिना भगवान को जगा देता है, वह जन्म-जन्मान्तर में बहरा होता है। बिना शंख बजाए भगवान को जगाना, विष्णु पूजा के बत्तीस अपराधों में से एक अपराध है। बृहन्नारदीय पुराण में कहा गया है कि देव मंदिर में शंख ध्वनि करने वाला सब पापों से छूट जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है- 'आत्मनः सकाशात् आकाशः सम्भूत, आकाशाद् वायुः वायोरग्निरग्रेरापोच्छभ्य पृथिवी' अर्थात् आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। मंदिरों में पट खुलते ही साधक सर्वप्रथम भगवान को देखता है। इसके पश्चात् आत्मा से

उत्पन्न प्रथम तत्त्व आकाश के प्रतीक शंख से ध्वनि की जाती है। वायु दूसरा तत्त्व है, उसका प्रतीक दुलता हुआ चँवर है। तीसरे तत्त्व अग्नि के प्रतीक स्वरूप धूप से आरती होती है। इसके बाद चौथे तत्त्व जल का प्रदर्शन कुम्भ आरती के रूप में होता है। पृथ्वी पाँचवा और अंतिम तत्त्व है। प्रत्येक अँगुलियों और अँगूठों की विभिन्न मुद्राओं द्वारा इस तत्त्व का प्रदर्शन करता है।

प्राचीनकाल में युद्ध के आरम्भ और समापन अवसर पर शंख ध्वनि अवश्य ही की जाती थी, जिसका महत्त्व आज भी है। आज भी युद्धारम्भ और समापन की सूचना सेनापति द्वारा बिगुल बजाकर दी जाती है। यह परम्परा प्राचीनकाल से आज तक चली आ रही है। श्रीमद्गवद्गीता में उल्लेख है कि महाभारत काल में युद्ध के अवसर पर पितामह भीष्म ने अपना शंख बजाकर सैनिकों को रण की सूचना दी थी। उनके शंख की ध्वनि सिंहनाद के समान प्रतीत हो रही थी, यथा-

तस्य संजयन् हर्ष कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्॥

श्रीमद्गवद्गीता में उल्लेख है कि महाभारत काल में युद्ध के अवसर पर भगवान श्रीकृष्ण और पाण्डवों के पास विभिन्न नाम के शंख थे। जिनका वर्णन संजय ने इस प्रकार किया है-

पाञ्चजन्य हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्र दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः॥
अनन्त विजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोष मणिपुष्पको॥

भगवान हृषीकेश (श्रीकृष्ण) ने पाञ्चजन्य नामक, अर्जुन ने देवदत्त नामक और भीमसेन ने पौण्ड्र नामक शंख बजाया। इसी प्रकार राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक, नकुल ने सुघोष नामक और सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंख बजाया।

भगवान श्रीकृष्ण के पाञ्चजन्य शंख का नाद ऐसा था कि असुर, पिशाच, यमदूत आदि सभी भयभीत हो भाग जाते थे। अर्जुन को देवदत्त शंख इन्द्र ने दिया था। इस शंख का उद्घोष सुनकर ही शत्रुओं की सेना दहल जाती थी। भीम के पौण्ड्र नामक शंख को महाशंख कहा गया है, क्योंकि वह आकार-

प्रकार में काफी बड़ा था, और इसे बजाने के लिए बड़े-बड़े शूरवीर भी काँप जाते थे।

*स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवी चैव तुमलो व्यनुनादयन् ॥*

शंखों की ध्वनि आकाश और पृथ्वी में गूँज रही थी। कई शंखों की समवेत गम्भीर और तीव्र ध्वनि सुनकर कौरवों के हृदय विदीर्ण होने लगे।

विश्व में जितने भी वाद्य हैं, उनमें तीन गुण पाए जाते हैं, यथा- सतो गुण, रजोगुण और तमोगुण। इन तीन गुणों से युक्त वाद्य देखने में समान लगते हैं, किन्तु अवसर विशेष पर बजाए जाने पर इसके स्वरों की ध्वनि, लय, गति और ताल में विविधता होती है। जैसे जब किसी मंदिर में दैवीय शक्तियों की पूजा-अर्चना, कथा आदि अवसर पर शंख बजाकर जो शंख-ध्वनि की जाती है, उसे सतो गुणी शंख-ध्वनि कहा जाता है। क्योंकि देवपूजा के अवसर पर बजायी जाने वाली शंख-ध्वनि भक्तों के मन में श्रद्धा-भाव जागृत करेगी। युद्ध के अवसर पर जब दोनों सेना के सैनिक आमने-सामने रहते हैं, तो युद्ध आरम्भ होने से पहिले शंखनाद द्वारा शत्रु पक्ष पर मनोवैज्ञानिक दबाव बनाया जाता है। अतः युद्ध की शूरवीरता के अनुसार शंखनाद भी शत्रुपक्ष में भय अथवा आतंक पैदा करने वाला होता है। युद्ध के अवसर पर जो शंख-ध्वनि की जाती है, वह तमोगुणी मानी जाती है। यह ध्वनि इतनी तीव्र होती है कि वो सैनिकों में वीरता का संचार करती है, उसे सुनकर कायरों का खून खौलने लगता है, और वे युद्ध के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी प्रकार जब शव-यात्रा के अवसर पर शंख-घड़ियाल बजाते हैं तो सभी का हृदय सम्वेदना प्रकट करता है। इससे यह स्पष्ट है कि विविध अवसरों पर जब शंख ध्वनि की जाती है, तो उसके भाव भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

वाद्यों को अभिमंत्रित कर उनके पूजन का विधान भी शास्त्र सम्मत है। शंख पूजन के अवसर पर भक्त, पुजारी-पंडित भगवान विष्णु की महती कृपा के लिए हाथ से शंख-मुद्रा भी बनाते हैं- दाहिने हाथ की मुट्ठी से बाएँ हाथ के अँगूठे को पकड़कर एवं बाएँ हाथ की अँगुलियों को सटाकर सामने फैलाकर उनके द्वारा दाहिने हाथ के सामने फैले अँगूठे को स्पर्श करने से

शंख-मुद्रा बनती है, जो भगवान विष्णु की उन्तीस मुद्राओं में प्रमुख है।

मंदिरों में पूजा-अर्चना और आरती के समय शंख बजाने से निकलने वाली ध्वनि न केवल मानव में पावनता का संचार करती है, बल्कि वातावरण और वायुमण्डल में शुद्धता और स्वच्छता भी प्रदान करती है। आज औद्योगीकरण, वैज्ञानिक साधनों में वातावरण में बढ़ते प्रदूषण के कारण पैदा होने वाले और कई जीवाणुओं से शंख-ध्वनि के कारण कुछ सीमा तक बचा जा सकता है। क्योंकि यह वैज्ञानिक प्रयोगों से सिद्ध है कि जहाँ शंख ध्वनि की जाती है, वहाँ के आसपास का वातावरण कीटाणुरहित हो जाता है।

वैसे तो मनुष्य ने बहुत पहिले ही शंख को धर्म और जीवन के अन्य क्रियाकलापों में शामिल कर लिया था, किन्तु हिन्दू धर्मावलम्बियों में शंख को पूज्य माना जाता है। हिन्दुओं के त्रिदेवों भगवान विष्णु तो स्वयं शंख, चक्र, गदाधारी हैं। देवियों में माता दुर्गा भी शंख को अपने कर कमलों में धारण किए रहती हैं।

शंख अपने आकार, रंग और भार की दृष्टि से अनेक प्रकार के होते हैं। सभी शंखों का स्वर समान नहीं होता। अतः ध्वनि के आधार पर शंखों के भेद-प्रभेद भी हैं। शंख के दो भेद मुख्य हैं, वामावर्त और दक्षिणावर्त। प्रायः वामावर्त शंख ही मिलते हैं, उनका पेट बायी ओर को खुला रहता है। दक्षिणावर्त शंख का पेट दायीं ओर को खुला रहता है। दक्षिणावर्त शंख विश्व के बहुत ही कम स्थानों पर पाया जाता है। दुर्लभ होने के कारण इसका मूल्य भी अधिक होता है। यह सामान्यतः श्वेतवर्णी तथा आकार में गेहूँ के दाने से लेकर नारियल के बराबर मिलते हैं। यह भारत में दक्षिण समुद्र तट पर रामेश्वरम् और कन्याकुमारी के आसपास मिलता है। शुद्ध श्वेत दूधिया रंग का शंख सर्वोत्तम माना जाता है, किन्तु यह दुर्लभ है। शास्त्रों में यह मान्यता है कि दक्षिणावर्त शंख बहुत ही शुभ समृद्धिदायक और वैभवशाली माने जाते हैं। जो शंख देखने में सुन्दर, सुडौल, चमकदार तथा मधुर और तीव्र ध्वनि वाला हो, उसे सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

शंख का उपयोग केवल भारत वर्ष में ही नहीं आस्ट्रेलिया और पोलिनेशिया द्वीप के निवासी भी 'टिटन टोनिक' नामक

एक प्रकार के घोंघे को काटकर शंख की भाँति बजाते हैं। इसी प्रकार 'बुकसिनम् व्हेल्क' नामक वाद्य शम्बूक बजाने की प्रथा है।

भारत में प्राचीनकाल से ही शंख की उपयोगिता रही है। शंख भस्म का औषधि विज्ञान में काफी महत्त्व है। कई रोगों में इसका उपयोग किया जाता है। शंख ध्वनि के सम्बन्ध में प्रख्यात वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र बसु ने यह सिद्ध कर दिया था, कि शंख फूँकने पर जहाँ तक उसकी ध्वनि जाती है, उससे रोगाणु मूर्च्छित हो जाते हैं, और यह प्रक्रिया निरंतर जारी रखी जाए तो वहाँ का वायुमण्डल भी कीटाणुओं से मुक्त हो जाता है। यही नहीं निरंतर शंख फूँकने वाले व्यक्ति को फेफड़ों का रोग नहीं होता है। शंखस्थ जल द्वारा स्नान और शालिग्राम शिला के चरणामृत का पान करने से प्रसूत बालक कभी मूक नहीं हो सकता।

सन् 1928 में बर्लिन विश्वविद्यालय में शंख ध्वनि पर विस्तार से अनुसंधान किया गया। जिससे यह सिद्ध हुआ कि शंख ध्वनि की लहरों से कीटाणु नष्ट हो जाते हैं, और कई बीमारियों में शंख भस्म औषधि का काम करती है। शंख ध्वनि से वैक्टिरिया के अलावा हैजा, गरदन तोड़ ज्वर, मलेरिया के कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं, और जहाँ तक ध्वनि जाती है, वहाँ तक का क्षेत्र कीटाणु मुक्त हो जाता है। मिरगी, मूर्च्छा, कण्ठमाला और कोढ़ग्रस्त रोगियों के लिए शंख ध्वनि रामबाण है। शिकागो के

डॉ. डी.ब्राइन ने शंख ध्वनि के माध्यम से अबतक तेरह सौ से अधिक बधिर लोगों का रोग ठीक किया है।

शंख समुद्र से उत्पन्न होने वाले शम्बूक प्रजाति (मौलिस्क) के कठोर काय जीव घोंघा के शरीर का खोल होता है। यह बिना रीड़ की हड्डी वाला जीव है, जो जल में पेट के बल रेंगता है। वैज्ञानिकों ने अब तक शम्बूक प्रजाति के छः हजार से अधिक किस्मों का अध्ययन किया है। इस प्रजाति के आकार बढ़ने के साथ ही उनका खोल भी मजबूत होता जाता है। शम्बूक प्रजाति के जीव समुद्र के पानी से चूना प्राप्त कर खोल के रूप में जमा करते जाते हैं, और उनके खोल उनके शरीर से पृथक होकर पानी की सतह पर आ जाते हैं। यही खोल शंख कहलाते हैं।

शम्बूक प्रजाति जीव के खोल अथवा शंख में मुख्यतः तीन परतें होती हैं। बाह्य परत चूनारहित सीप जैसे चिकने पदार्थ की होती है, दूसरी परत चूने की तथा भीतरी परत सीप जैसे पदार्थ और चूने की होती है। शंख कई रंगों के होते हैं। इन पर बहुत से दाग-धब्बे, रंग और धारियाँ होती हैं।

शंख अपने आकार-प्रकार, रंग और भार की दृष्टि से अनेक प्रकार के होते हैं। समुद्र के अलावा बड़ी नदियों में भी इनकी उत्पत्ति होती है, लेकिन आकार में वे छोटे होते हैं। कुछ शंख तो इतने छोटे होते हैं कि उन्हें देखने के लिए लैन्स की आवश्यकता होती है।

बुन्देली कवि ईसुरी

सुधा तैलंग

बुन्देली लोक कवि ईसुरी का नाम लेते ही दृश्य उभरकर आता है। फागुनी बासंती समीर कै झोंके, पनघट पर जल भरती पनिहारिनें, प्रणय निवेदन करती युवतियाँ, ग्राम्य जीवन, सौन्दर्य परिपूर्ण नारी का। लोक रागिनी के समर गायक व जन चेतना के जागरूक कवि ईसुरी अपनी फागों के लिये आज भी अपनी विशिष्ट पहचान लिये हुये हैं। ग्रामीण संस्कृति में पले-बढ़े, सरल-सहज प्रभावी व्यक्तित्व वाले ईसुरी ने बोलचाल की साधारण बुंदेली ब्रज भाषा में अपनी फागों की रचना की।

लोक जीवन और लोक रंग की सहज अनुभूतियों से जुड़े आशु कवि ईसुरी का जन्म झाँसी मंडल के मऊरानीपुर जिले से दस कि.मी. दूर मेड़की ग्राम में सम्वत् 1889 चैत्र शुक्ल दशमी को हुआ। इनके पिता का नाम भोलेनाथ अरजरिया व माँ का नाम गंगा देवी था। माता-पिता की सबसे छोटी संतान ईसुरी का असली नाम 'हरलाल' था और वे उपनाम ईसुरी प्रसाद से काव्य सर्जना करते थे। धीरे-धीरे इनका नाम ईसुरी प्रसिद्ध हो गया।

ईसुरी जब छोटे थे, तब उनके माता-पिता के स्वर्गवास हो जाने पर उन्हें मामा भूधर नायक अपने साथ लुहरगाँव ले आये। मामा-मामी के संतान न होने पर ईसुरी की परवरिश बेहद लाड़-प्यार से होने के कारण वे बेहद शैतान हो गये। शरारती होने की वजह से ज्यादा पढ़-लिख नहीं पाये। उनकी शिक्षा-दीक्षा घरेलू पाठशाला में हुई। उन्होंने वहीं से जीवन अनुभवों से ज्ञान प्राप्त किया।

ईसुरी में जन्मजात कवि गुण थे। ऐसे में वो किसी बात का जवाब कविता की तुकबंदी करके देते थे। सोलह-सत्रह वर्ष की उम्र से कवि हृदय जाग उठा और ईसुरी बढ़-चढ़कर काव्य रचना करने लगे। चौकड़ियाँ फागों के अलावा, प्रचलित छन्दों में रचनाएँ की। ईसुरी ने भक्ति, नीति, श्रृंगार व लोक जीवन के आसपास के वातावरण, सामाजिक समस्याओं से जुड़ी फागों की सरस एवं भावपूर्ण अभिव्यक्ति की। ईसुरी की फागों की मस्ती, रंगों की इन्द्रधनुषी बौछार सहज ही मन को सराबोर कर देती है-

*ब्रज में खेलें फाग कन्हाई, राधे संग सुहाई।
चलत अबीर रंग केसर को, नभ अरूणाई छाई।।*

ईसुरी का विवाह श्यामा नामक युवती से हुआ। ये उनकी फाग से ही पता चलता है-

श्यामा भई दोज का चंदा, डार गरे में फंदा।

ईसुरी के एक बेटे हुए जिसका नाम गुरन बताया जाता है। कुछ लोग उनकी चार बेटियाँ मानते हैं। पर गुरन का जिक्र उन्होंने अपनी फागों में किया है। बेटे की विदा में एक पिता के हृदय से कैसे उद्गार उठते हैं। उसका ईसुरी ने बेहद भावुकता से वर्णन किया। बेटे की विदा का संदेश जब नाई देता है तो पिता की मनोस्थिति का चित्रण जरा देखिये-

*दिन गौने के लग आये, हमने कई ती काये।
सुसेते नई काम के मारे, ऐंगर बैठे न पाये।*

बेटे की विदा के बाद जब एक पिता अपनी जवान बेटे को सुहाग के जोड़े से सफेद वैधव्य के कपड़ों में देखता है तो उसका हृदय काँप उठता है। गुरन के विधवा होने से भी उन्हें बेहद दुःख पहुँचा। ईसुरी की बेटे गुरन के वैधव्य का दर्द उनकी रचनाओं में करुण शब्दों में देखा जा सकता है-

*जिदना गुरन तूमै ओतारो, विध ने अच्छर मारो।
ऐसी नौनी रूप रंग की, नख शिख से सिंगारो।*

सामाजिक जन चेतना का प्रभाव ईसुरी की फागों में साक्षात् देखा जा सकता है। उस दौर में जब भारतीय रेल की शुरुआत के लिये मऊरानीपुर के जंगलों के महुओं के पेड़ों की कटाई हुई, तब ईसुरी का कवि हृदय भला पर्यावरण के साथ, प्रकृति के साथ छेड़छाड़ कैसे सह सकता था?

इनमें लगे कुलरियन घालन भैया।

ये तो मानस पालन भैया।

अर्थात् लोग बेकार ही पेड़ों पर कुल्हाड़ी चलाते हैं। पेड़-पौधे ही तो हमारा लालन-पालन करते हैं। पर्यावरण को शुद्ध बनाते हैं। वहीं ईसुरी ने नीम के पेड़ के महत्त्व को दर्शाते हुये कहा है-

*शीतल आई नीम की छड़ियाँ, घामों व्यापत नईयाँ।।
धरती जे-जे छू-छू जाने। लालौई डरईयाँ।।*

शीतल नीम की छाया के प्रति आत्मीयता ईसुरी के प्रकृति प्रेम को दर्शाता है। वहीं छोटा परिवार, सुखी परिवार की भावना भी ईसुरी की सामाजिक चेतना को अभिव्यक्त करती है।

*पर गई लरकन की रगदाई, बऊ बरसान कहाई।
धोबन देत ज्वाब धोबे खौ, अब नई होत धुआई।*

बुन्देलखण्ड में ज्यादा बच्चे पैदा करने वाली औरतों को बरसान कहा जाता है। ऐसे में ईसुरी ने नारी को सचेत करते हुए कहा कि बरसान बऊ का सौन्दर्य ज्यादा बच्चे पैदा होने से घट जाता है। वहीं उसकी धोबिन भी कपड़े धोने से मना कर देती है। उपरोक्त फागों से ईसुरी की समाज के प्रति जागरूकता, चेतना में गहरी पैठ प्रदर्शित होती है। उस दौर में भी ईसुरी को जनसंख्या वृद्धि की बेहद चिंता थी। वहीं ईसुरी मानवीय सम्बेदनाओं, सम्बेगों के प्रति भी कितने सजग थे, ये देखा जा सकता है। सम्बत् 1990 में अकाल के दौरान आसपास का करुण, दयनीय वातावरण भूखमरी, गरीबी को भी लोक कवि ने बेहद संजीदगी से चित्रित करते हुए विकलांगता पर भी दृष्टि डाली है-

*आसों हौंस सबई के भूले, कईयंक कांवे कूले।
कच्चे बेर बचे हैं नईयाँ, कंगीरन ने रूले।
दो दो दिन के फांके पर गए, परचत नईयाँ चूले।
मरे जात भूखन के मारे, अंदरा कनवा लूले।*

कितना कारुणिक दृश्य उभरकर आता है उस दौर का। ये ईसुरी के भावुक और दयालु हृदय को दर्शाता है। वहीं अंग्रेजों द्वारा मऊरानीपुर में रेलगाड़ी शुरू करने पर मन की अभिव्यक्ति को ईसुरी ने कुछ यूँ दर्शाया है। ईसुरी ने हवा से बातें करती हुई रेलों पर खुश होते हुए कहा-

अपने मुलक बादसा रले, पवन से आगे मेले।
जी टेशन को जौन कायदा, जौन मिनट जा मेले।।

इस फाग में ईसुरी ने उर्दू, हिन्दी तत्सम शब्दों के संग अंग्रेजी के देहात में प्रचलित शब्दों को भी प्रयुक्त किया है। साधारण बोलचाल की भाषा में ये फाग आज भी ग्रामीण अंचलों में बेहद प्रचलित है। ईसुरी देश की माटी से भी बेहद प्यार करते थे-

यारों इतनो जस लै लीजो, चिंता अंत न कीजो।
चलत सिरम को बहत पसीना। समय को अंतस भींजो।

ईसुरी ने लोक जीवन के सभी पक्षों पर अपनी वाणी प्रवाहित की है। अपने मनभावों की सुंदर अभिव्यंजना की है। कवित्त, घनाक्षरी, कुण्डलियों व सैरों की रचना करने वाले ईसुरी का प्रतिनिधि काव्य तो फाग ही था। उन्होंने लगभग 360 फागों की रचना की। वे स्वयं फाग गाते थे। साथ ही उनके परम मित्र धीरे पण्डा भी उनके द्वारा रचित फागों को गाया करते थे। घनानंद की सुजान की तरह ईसुरी की भी मानस प्रेमिका रजऊ के प्रति लगाव, आसक्ति को लौकिक प्रेम के साथ अलौकिक प्रेम (ईश्वरीय भक्ति) माना जाता है। कहा जाता है बगौरा ग्राम की युवती रजऊ के सौन्दर्य से प्रेरित होकर ही ईसुरी ने श्रृंगार रस से पूर्ण फागों की रचना की। श्रृंगार रस की रचनाओं में इन्होंने रजऊ के शारीरिक सौंदर्य का वर्णन किया है। उसमें कहीं-कहीं अश्लीलता भी देखी जा सकती है-

गौर बदन श्यामली सारी, लागे लिपड़ तन प्यारो।
अंडिया जबर मसीली जाँगे, कब जन कोय निहारो।।

ईसुरी ने शारीरिक मांसलता, साड़ी में गौर बदन रजऊ की सुंदरता का वर्णन बेहद सहज होकर किया है, जो दर्शाता है कि ईसुरी नख-शिख वर्णन में भी महारत रखते थे। ये वर्णन विद्यापति की श्रृंगार रचनाओं का स्मरण दिलाता है। वहीं नारी की आँखों की सुंदरता को तलवार, पिस्तौल, बाणों का रूपक देते हुये ईसुरी कहते हैं-

आँखियाँ पिस्तौल की भरकै, मारत जान सगर के।
दाऊ दरस लाज की गोली, गज भर देत नजर से।।

नैनों से तीर चलाती युवती के श्रृंगार रस से युक्त वर्णन में विद्यापति का स्मरण हो जाता है। वहीं नायिका को मुनिया चिड़ियों का रूपक देते हुये ईसुरी ने बेहद सुंदर अभिव्यक्त की है-

मोरे मन की हरन मुनइयाँ, आज दिखानी नईयाँ।
कै कहुँ हुए लाल कै संगे, पकरी पिंजरा मईयाँ।

ईसुरी की फागें आज भी बुंदेलखण्ड अंचल में बसंत रितु के आगमन से फागुन चैत्र तक गायी जाती है। ईसुरी की फागों में अद्भुत सरलता, कोमलता व सहज भावों की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। जल भरने जमुना तट पर जाती गोपिकाओं का चित्रण देखे-

जाती नीर भरन जमना कै, दँके काजर बाँके।
पान पीस पैजनिया पहिरै, तारत जात घुमाकै।

लगभग 18 वर्षों तक किलेदार के यहाँ काम करने के बाद ईसुरी ने ब्रज जाकर राधा-कृष्ण की भक्ति से युक्त फागों की रचना की -

देखो जमना तीर सपरतन, पीरी भई निकरतन।
श्याम भंजनी गार-गार के, सिरी माँग में भरतन।

फाग जीवन की रसमय प्रस्तुति है। पर्वतीय व विंध्यांचलों में फाग पारस्परिक रूप से गायी जाती है। विरही नायक की मनोदशा का मार्मिक चित्रण ईसुरी की फागों में देखें-

जब से भई प्रीत की पीरा, खुशी नई जौ जीरा।
फूंकत जान विरह की आगा, सूकत जान सरीरा।।

श्रृंगार के महाकवि ईसुरी ने गाल पर गुदना गुदवाने की परम्परा की अभिव्यक्ति बेहद सुंदर की है-

गुदना गोरे गाल पै नीको, मनमोहन सब ही को।
बाँके नैन कजरवा आँजो, बलम बिना न साजो।।

रजऊ को लेकर ईसुरी ने हजारों फागों की रचना की-

देखी रजऊ काऊ ने नईयाँ, कौन बरन तन मुइयाँ।
ईसुर हमने रजऊ की फागें, कर दर्ई मुलकन मईयाँ।।

ईसुरी ने अपनी रचनायें स्वान्तः सुखाय के लिये लिखीं,

वो किसी राजा के आश्रित होकर नहीं रहना चाहते थे। छतरपुर नरेश श्री विश्वनाथ जूदेव ने उन्हें अपने दरबार में रखना चाहा, पर ईसुरी को बघोरा ही में रहना स्वीकार था। उम्र बढ़ने पर कबीर की भाँति ईसुरी ने भी आत्मा-परमात्मा के मिलन पर अपनी प्रेमिका को संदेश देते हुए कहा-

लैलो सीताराम हमारी, चलती बेरा प्यारी।
ऐसी निगा राखियों हम पै, नजर न होय दुआरी।

ईसुरी कवि के साथ समाज सुधारक, प्रेरक व चिंतक भी थे। इसी कारण हरपालपुर व आसपास के क्षेत्रों में उन्हें सामाजिक, राजनीतिक व घरेलू समस्याओं को सुलझाने बुलाया जाता था। ईसुरी ने लोगों को कर्म का संदेश देते हुये शरीर को आराम देने की भी सलाह दी-

ऐंगर बैठ लैओ कछु आने, काम जनम भर राने।
सब खौं लागो रात जियत, भर जो वहीं कभऊ बहाने।।

असाधारण प्रतिभावान कवि हृदय ईसुरी की मृत्यु सम्बत् 1966 द्विजलाल रचित फाग के आधार पर मानी जाती है-

ईसुरी तज दये प्रान शरीर, हती न तन में पीरा।
बड़े भोर ते प्यास लगी ती, पियो गरम कर नीरा।।

अगन बदी सातें ती उदना, वार सनीचर सीरा।
उन्तीस सौ छयासठ सम्बत् में, उड़ गऔं मुलक ससीरा।।

श्रृंगार के कवि ईसुरी जीवन के अंतिम दिनों में रहस्यवादी बन गये थे। उनके काव्य में शांत रस का उद्भव देखा जा सकता है-

जो है नदी नाव को भेरो, कऊं हम कऊं तुम खेलो।
मरती बेर धरत धरती पै, दिख न परत दुकैलो।

ईसुरी को आज भी लोक भाषा के सहृदय कवि के रूप में, उनकी फागों के लिये समूचे बुंदेलखण्ड के साथ हिन्दी साहित्य प्रेमियों के बीच याद किया जाता है। बुंदेली लोक कवि ईसुरी की प्रेम विषयक फागें आज भी घर-घर में गायी जाती हैं। ऋतुराज बसंत के मनभावन व रंगीले दिनों के आते ही टेसू व कदम के फूल खिल उठते हैं। आम के वृक्षों पर बौर आ जाते हैं। प्रकृति के मादक रूप का वर्णन ईसुरी की फाग में देखें-

अब दिन आये बसंती नीरे, ललित और रंग भीरे।
टेसू और कदम फूले हैं, कालिन्दे के तीरे।

बुन्देली के बिलवारी गीत

डॉ. कुंजीलाल पटेल 'मनोहर'

बुन्देलखंड की ग्रामीण लोकभावनायें उसके पारम्परिक लोकगीतों में निवास करती हैं। यहाँ के ग्रामीण क्षेत्रों में चाहे तीज-त्योहार हो या खेती-किसानी के कामकाज सभी के अपने-अपने लोकगीत ग्रामीण जनमानस को हमेशा उत्साहित करते हैं। खेतों में जुताई-बुवाई, निदाई-गुड़ाई एवं कटाई-गहाई करते समय यहाँ के किसानों तथा कृषि मजदूरों की मनोमुग्धकारी लोकधुनों से समूचा ग्रामीण वातावरण गूँजने लगता है। किसानों के कुआँ-कछुवारों में कृषि कार्य करते समय गाँव के लुगवा-लुगाई परिश्रम की थकान मिटाने के लिये इन्हीं पारम्परिक लोकगीतों की उत्साहवर्धक संजीवनी से अपने तनमन में ताजगी और नवीन ऊर्जा उत्पन्न करते हैं, इसीलिये कई घण्टों में होने वाले परिश्रमी कार्य मात्र कुछ मिनटों में ही सम्पन्न कर लेते हैं।

कृषि कार्य से जुड़े ग्रामीण परिवार न तो कभी थकान का अनुभव करते हैं और न कभी हार मानते हैं। खेतों में कटाई-बिनाई करते समय थकान को उत्साह में बदलकर कार्य के प्रति अपने आपमें स्फूर्ति उत्तेजित करने के लिये गाये जाने वाले पारम्परिक लोकगीत लोकमानस में बिलवारी कहलाते हैं। थकान बिलमाने के लिये गाये जाने के कारण लोकगीतों के इस रूप को बिलवारी कहना सही और सटीक प्रतीत होता है। सम्भवतः बुन्देलखंड में बिलवार जाति के लोगों द्वारा प्रारम्भ में ये गीत गाये जाते रहे हों और कालान्तर में इनका नाम बिलवारी गीत पड़ गया हो। नामकरण का औचित्यपूर्ण आधार कुछ भी हो, लेकिन कुल मिलाकर किसान और कृषि मजदूरों द्वारा खेत-खलिहानों में सामूहिक लोकधुनों में गाये जाने वाले कृषिपरक बुन्देली लोकगीत ही बिलवारी हैं।

बिलवारी गीतों की विषयवस्तु में ग्रामीण लोकजीवन के समसामयिक यथार्थपरक अनुभवी प्रसंग, संयुक्त परिवारों की सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ एवं महनत-मजदूरी के भावुक उद्गार प्रचुर मात्रा में समाहित रहते हैं। बिलवारी गीतों के सामूहिक लोकस्वरों में

गूँजते हृदयोद्गार वास्तव में समूचे वातावरण को लोकसंगीतमय बना देते हैं। बुन्देली लोकजीवन में बिलवारी को अन्नपूर्णा तथा खेतों की रानी कहा जाता है। प्रस्तुत आलेख का मूलोद्देश्य लोकपरम्परा से हमेशा के लिये विलुप्त हो रहे बिलवारी गीतों को संकलित कर उन्हें संरक्षित करना है, क्योंकि कृषिकार्य के आधुनिक एवं वैज्ञानिक संसाधनों द्वारा खेती होने के कारण पारम्परिक संसाधनों का प्रचलन कहीं दूरदराज तक अब दिखाई नहीं दे रहा है।

बुन्देली के बिलवारी गीतों में क्षेत्रीय भौगोलिकता, प्राकृतिक सौन्दर्य एवं पारिवारिक संस्कृति की स्वच्छंद त्रिवेणी प्रवाहित होती है। हार-पहार में स्थित खेत-खलिहानों में कृषि कार्य करते समय ये गीत प्रचुर मात्रा में गाये और सुने जाते हैं। इन्हें गाने के लिये साज-बाज की कोई आवश्यकता नहीं होती। हृदय से उठी लोकलय की सुरीली तान की रसानुभूति सभी को लोक रस के उत्साह सिंधु में डुबो देती है। सहृदय के हृदय में सरसता का अनवरत झरना झड़ी लगाने लगता है। एक पारम्परिक लोक प्रचलित बिलवारी गीत बतौर बानगी के यहाँ प्रस्तुत है -

पथरीले पिया तोरे देस हमारी,
 अनी तौ मुस्क गई बिछिया की।
 अरी हाँ री धना तोरे,
 कौना बिसा दये जे बिछिया,
 भल्लौ कौना चुका दये दाम तुमारी,
 अनी तौ मुस्क गई बिछिया की।
 अरे हाँ रे पिया मोरे, ससुरा बिसा दये जे बिछिया,
 भल्लौ सासो चुका दये दाम हमारी,
 अनी तौ मुस्क गई बिछिया की।
 अरी हाँ री धना तोरे, कौना सहर के जे बिछिया,
 भल्लौ कौना सहर की रबार तुमारी,
 अनी तौ मुस्क गई बिछिया की।
 अरे हाँ रे पिया मोरे, चरखारी के बने बिछिया,
 भल्लौ पन्ना सहर की रबार हमारी,
 अनी तौ मुस्क गई बिछिया की।
 अरी हाँ री धना तोरे, काहे के जे बने बिछिया,
 भल्लौ काहे की धरी रबार तुमारी
 अनी तौ मुस्क गई बिछिया की।
 अरे हाँ रे पिया जू चांदी के मोरे बने बिछिया,

भल्लौ सोने की धरी रबार हमारी,
 अनी तौ मुस्क गई बिछिया की।
 पथरीले पिया तोरे देस हमारी,
 अनी तौ मुस्क गई बिछिया की।

(श्रीमती भागवती पटेल, विकौर के सौजन्य से)

नायिका कहती है कि हे प्रियतम! तुम्हारा देश इतना पथरीला है कि उसमें चलने मात्र से हमारे बिछियों की नोंकदार अनियाँ मुड़कर टेढ़ी-मेढ़ी हो गई हैं। नायक पूछता है कि तुम्हारी ये बिछिया किसने खरीदी तथा उसकी कीमत किसने चुकाई है। ये बिछिया हमारे ससुर ने खरीदी तथा सास ने उनके दाम चुकाये हैं। तुम्हारी ये बिछिया किस शहर की बनी है तथा किस शहर की उनमें रबार जड़ाई गई है। हमारी ये बिछिया बुन्देलखण्ड के चरखारी शहर की बनी है तथा उन पर पन्ना शहर की रबारें जड़ी हैं। तुम्हारी ये बिछिया किसकी बनी तथा उन पर किसकी रबारें जड़ी हैं। मेरी बिछिया चाँदी की बनी है तथा उन पर सोने की रबारें जड़ी हैं।

बुन्देलखण्ड में चरखारी और पन्ना राज्यों की सांस्कृतिक तथा व्यापारिक संस्कृति को कौन नहीं जानता। चरखारी आभूषणों के लिए तथा पन्ना हीरा व्यापार के लिये समूचे लोकसाहित्य में जाने पहचाने जाते हैं। बुन्देली के एक बिलवारी लोकगीत में चरखारी की सुन्दर आभूषण प्रियता को लोकजीवन में आज भी बड़े चाव से गाया जाता है। चरखारी के स्वर्णकारों की आभूषण कला का यशोगान करने वाली एक बिलवारी जो समूचे बुन्देलखण्ड में आदर के साथ गाई जाती है, वह यहाँ प्रस्तुत है -

चरखारी के सुगर सुनार पैजना,
 अजब बने री चरखारी के।
 अरी हाँ री पैजना कीने तुम्हें जे बनवाये,
 भल्लौ किनने चुकाये दाम पैजना,
 अजब बने री चरखारी के।
 अरे हरै पैजना ससुरा हमारे बनवाये,
 मोरी सासो चुकाये दाम पैजना,
 अजब बने री चरखारी के
 अरी हाँ री पैजना में ककरा को डरवाये,
 भल्लौ कौना धरा दई रबार पँजना,
 अजब बने री चरखारी के।

अरे हाँ रे जेठजू ककरा इनमें डरबाये,
 भल्लँ देवरा धरायी रबार पैजना,
 अजब बने री चरखारी के।
 अरी हाँ री पैजना कबै तुम्हारे जे आये,
 भल्लँ कबै धराई रबार पैजना
 अजब बने री चरखारी के।
 अरे हाँ रे व्याव में हमें पैजना जे आये,
 भल्लँ गौने में धरी रबार पैजना,
 अजब बने री चरखारी के।

(श्रीमती गायत्री पटेल, करी के सौजन्य से)

चरखारी के सुनार अर्थात् सोने-चाँदी के आभूषण बनाने वाले बहुत ही सुघड़ तथा कलाकार होते हैं। उनके द्वारा बनाये गये आभूषण मुख्यतः बहुत ही अजीब ढंग से गढ़े गये होते हैं। तुम्हारे लिये यह पैजना किसने बनवाये तथा इनकी कीमत किसने चुकाई है। हमारे ये पैजना ससुर ने खरीदे तथा सास ने इनकी कीमत चुकाई है। इन पैजनों में बजना ककरा किसने डलवाये तथा उनके ऊपर सुन्दर रबारों किसने जड़वायी हैं। पैजनों में ककरा हमारे जेठ ने डलवाये तथा उन पर रबारों हमारे देवर ने जड़वायी हैं। तुम्हारे ये पैजना कब आये थे तथा उनपर रबारों कब रखी गई थीं। हमारे पैजना विवाह में आये थे तथा गौने के समय उनमें रबारों जड़ाई गयीं थीं। चरखारी के सुनार बड़े सुघड़ हैं, इसीलिये उन्होंने बड़े अजीब ढंग से इन पैजनों को बनाया है।

एक ग्रामीण नायिका शादी के बाद पहली बार अपनी ससुराल जाते ही पतिगृह के सभी लोगों के रंग-ढंग तथा आचार-विचार का अन्दाजा लगा लेती है। गौने की विदा उसके पितृगृह वाले अपने हिसाब से चैत-वैशाख में करना चाहते हैं, क्योंकि फाल्गुन के महीने में विदा का मुहूर्त नहीं है। इसलिए नायिका फाल्गुन के पूर्व ही अगहन के महीने में अपनी विदा के संकेत बुन्देली बिलवारी के माध्यम से मायके वालों को कुछ इस प्रकार से देती है-

फगुनैया में हो नई ना जाय ककाजू,
 अगन बिदा मोरी कर दइयौ।
 अरे हाँ रे पिआ घर ससुर हठीले नई मानें,
 बे तो अपनी ठानत ठान ककाजू

अगन बिदा मोरी कर दइयौ।
 अरे हाँ रे ससुर घर सास लड़कू बारे की,
 बा तौ रोज करत हैरान ककाजू,
 अगन बिदा मोरी कर दइयौ।
 अरे हाँ रे सास घर मोय जिठानी कौ डर है,
 उनके सास भरें नित कान ककाजू,
 अगन बिदा मोरी कर दइयौ।
 अरे हाँ रे जेठ घर ननद हमारी भई स्यानी,
 देवरा कौ ना भओ फलदान ककाजू,
 अगन बिदा मोरी कर दइयौ।
 फगुनैया में हो नई ना जाय ककाजू,
 अगन बिदा मोरी कर दइयौ।

(श्रीमती पुष्पा देवी खरे, बसारी के सौजन्य से)

नायिका बिलवारी लोकगीत के माध्यम से परिवार के मुखिया कक्काजू को संकेत करती है कि फाल्गुन के महीने में गौने की विदा का मुहूर्त न होने के कारण उसके पूर्व अर्थात् अगहन के महीने में ही मेरी विदा कर देना। ऐसा इसलिए कहती है कि उसके ससुर हठीले और जिद्दी स्वभाव के हैं तथा परिवार में अपनी चलाते हैं, किसी की सुनते भी नहीं हैं। ससुराल में मेरी सास झगड़ा लू किस्म की है और आये दिन परेशान करती है। मुझे सबसे ज्यादा जेठानी का डर है, क्योंकि सास हमेशा उनके कान भरती रहती है। ससुराल में मेरी ननद सयानी अर्थात् विवाह के योग्य हो गई है, साथ ही अभी मेरे देवर की शादी का फलदान अर्थात् पक्क्यात होना है, जिसमें मेरा वहाँ रहना जरूरी है, इसलिए फाल्गुन के पूर्व अर्थात् अगहन में मेरी विदा करवा देना।

बुन्देली समाज की प्राचीन कुरीति में कि दूसरी बिरादरी वालों से पानी पीने की गगरी तक नहीं छुवाई जाती, यदि धोखे से ऐसा हो गया तो एक तो वे गगरी बदल दी जाती हैं, दूसरे परिवार में इस बात को लेकर सास-ससुर, जेठ-जेठानी आदि के बीच गृह कलह होता है, इसीलिए दूसरी बिरादरी के लड़के से पनघट पर गगरी छू जाने से भौजाई अपनी ननद से घर में इसकी चर्चा न करने के लिये उसे आड़े हाथों लेती है। एक बिलवारी गीत में इस प्रकार की प्रवृत्ति का वर्णन किया गया है-

अपने घरें न बतईओ ऐसी बात ननद बाई,
 गगरी तिलगुआँ कौ छू गओ तो ।
 ससुर हमारे सठयाने,
 दिन -रात बाय बर्रायें ननद बाई, गगरी तिलगुआँ कौ .. ।
 मोरी सास लरंकु जुल्मकरे,
 वे तो लरबे उतारू रात ननद बाई,
 गगरी तिलगुआँ कौ... ।
 मोरी जिठनी सनकनु बारे की,
 तकरार करत दिन-रात ननद बाई,
 गगरी तिलगुआँ कौ.... ।
 मोरे जेठ लरंका बारे के,
 जब देखो तब खिसयात ननद बाई गगरी तिलगुआँ कौ .. ।
 अपने घरें न बतईओ ऐसी बात ननद बाई,
 गगरी तिलगुआँ कौ छू गओ तो ।

(श्रीमती भुमानी बाई पटेल, बूढ़ा के सौजन्य से)

भौजाई अपनी ननद से कहती है कि घर चलकर किसी को यह नहीं बताना कि कुआँ पर पानी भरते समय हमारी गगरी अर्थात् पानी भरने के घड़ा किसी लड़के ने छू लिये थे। अगर घरवालों को बता दोगी तो बेमतलब की लड़ाई घर में होगी क्योंकि मेरे ससुर सठिया चुके हैं, वे जब देखो तब आँय-बाँय बकते रहते हैं। मेरी सास लड़ाकू और मुझ पर लाँछन मढ़ने वाली है, वह जब देखो तब मुझसे लड़ने के लिये तैयार रहती है। जेठ तो हमेशा मुझसे गुस्साए रहते हैं, वे मुझसे भुकरे अर्थात् रूठे और रूखे से रहते हैं। मेरी जेठानी सनकी स्वभाव की है, वह मुझे छूदा का छिनाला लगाती रहती है। मेरे प्रियतम अपनी माँ अर्थात् मेरी सास के कहने में आ जाते हैं, इसलिए मुझसे रात-दिन झगड़ते ही रहते हैं। इसलिए घर में किसी को नहीं बताना कि पानी भरते समय पनघट पर दूसरे लड़के ने गगरी छू ली है।

बुंदेली बिलवारियों में पारिवारिक सम्बन्धों के खट्टे-मीठे अनुभव प्रचुर मात्रा में देखने को मिलते हैं। पति-पत्नी के बीच किसी वजह से मनमुटाव हो जाने पर बोलचाल न होने के कारण पति का अनबोलापन खत्म करने के लिये पत्नि अपनी ननद को अपनी स्थिति से कैसे अवगत कराती है तथा ननद अपनी भौजाई को क्या सलाह देती है, पूरा कथा प्रसंग इस बिलवारी लोकगीत में देखिये-

बिन बोले रहो न जाय ननद बाई,
 बीरन तुमारे अनबोला हैं ।
 अनबोले रहो न जाय ननद बाई,
 बीरन तुमारे बोलत नईयाँ ।
 अरे हाँ री भुजाई मोरी करन ग्वासली जब जइयौ,
 सब आइयौ लबइया छोर भुजाई मोरी,
 उतई बीरन मोरे मुख बोलें ।
 अरी हाँ री भुजाई मोरी पनियाँ भरन कुंअला जइयौ,
 मई आइयौ गगरियाँ फोर भुजाई मोरी,
 उतई बीरन मोरे मुख बोलें ।
 अरी हाँ री भुजाई मोरी, करकें बहानें परी रइयौ,
 उठियौ न एक दो जोर भुजाई मोरी,
 उतई बीरन मोरे मुख बोलें ।
 बिन बोले रहो न जाये ननद बाई,
 बीरन तुमारे अनबोला हैं ॥

(श्रीमती गोरी बाई पटेल, बसारी के सौजन्य से)

भौजाई अपनी ननद से कहती है कि तुम्हारे भाई अर्थात् मेरे पति मुझसे नाराज हैं। वे बोलते नहीं और बिना बोले-चाले मुझसे रहा नहीं जाता। तुम बता सकती हो कि यह अनबोलापन उनमें किस वजह से आ गया है। इतना सुनकर ननद कहती है कि जब तुम दोहनी करने जाना तब सभी बछड़े ढीलकर आ जाना, जब पानी भरने जाना तो कुआँ पर गगरी फोड़कर आ जाना तथा एक दो दिन तबियत खराब होने का बहाना बनाकर बीमार की तरह पड़ी रहना, एक दो दिन उठना ही नहीं। ऐसा करने पर मेरे भाई और तुम्हारे पति तुमसे हालचाल पूछने के बहाने अवश्य ही बोलेंगे और तब दोनों के बीच का अनबोलापन खत्म हो जायेगा।

बसंत ऋतु के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण महीने फागुन और चैत्र माने जाते हैं। इन महीनों के मौसम में एक नायिका को लिवाने के लिये उसकी ससुराल से अनेक लोग आते हैं, लेकिन वह तो फागुन जैसे मदनमहीप के महीने में भी मायके में इसलिए मचली हुई कि लिवाने के लिये उसका पति क्यों नहीं आया। इसीलिए उसे लिवाने आये अन्य सभी को वह वापस लौटा देती है। बुंदेली बिलवारी इसी भावभूमि को किस प्रकार उद्घाटित करती है-

फगुनैया की अजब बहार चैत में,
गोरी तौ मचल गई मायके में ।
पहले लिबौआ ससुरा आये,
में तो बुढ़रा के संगै न जाँव चैत में, गोरी..... ।
दूजे लिबौआ जेठा आये,
अनबोला के संगै न जाँव चैत में, गोरी..... ।
तीजे लिबौआ देवरा आये,
मसकरया के संगै न जाँव चैत में, गोरी... ।
चौथे लिबौआ ननदेऊ आये,
परदेसी के संगै न जाँव चैत में, गोरी..... ।
पांचे लिबौआ बलम आये,
उन संग हँसत चली जाँव चैत में, गोरी..... ।

(श्री शिवदयाल पटेल, बसारी के सौजन्य से)

फागुन के महीने में बसंत की बहार होने पर भी नायिका चैत्र के महीने में मचलकर मायके में रह गई है। पहले उसे लिवाने के लिये उसके ससुर आये, लेकिन वह बूढ़े के साथ नहीं जायेगी। दूसरे लिबौआ उसके जेठ आये, किन्तु वह अनबोला अर्थात् जिससे बोलना बताना भी संभव नहीं है, ऐसे लिबौआ के साथ नहीं जायेगी। तीसरे लिबौआ उसके देवर आते हैं, किन्तु वह हँसी-मसखरी करने वाले के साथ जाने से इन्कार कर देती है। चौथी बार लिवाने के लिये उसके ननदेऊ आते हैं मगर वह परदेसी के साथ जाना पसंद नहीं करती। पाँचवी और अंतिम बार लिवाने के लिये उसका प्रियतम आता है और उसके साथ वह हँसते-बोलते-बतियाते मायके से ससुराल जाने के लिये तैयार हो जाती है।

ग्रामीण क्षेत्रों में जीवनयापन का मुख्य साधन खेती है, बुवाई से गहाई तक किसान को सपरिवार अपने कुआँ-कछवारों की रखवाली पशु-पक्षियों से करना पड़ती है। जंगली पक्षी फसल को उजाड़ते हैं, इसलिए किसान गुलेल और गुथनों से पक्षियों को उड़ाते हैं। किसानबंधु अपने ससुर के अचूक निशाने से परिचित हैं, इसलिए पक्षियों के साथ बेचारा कबूतर ससुर की अचूक गुलेल की चपेट में ना आ जाये। अतः किसान की पुत्रवधू कबूतर को बचाने के लिये एक बिलवारी के माध्यम से कह उठती है-

मोरे ससुरा की घलत गुलेल परेवा, उड़त बनै तौ उड़ जैये ।
हो जइये पहरिया की ओट परेबा, उड़त बनै तौ उड़ जैये ।

हो जइये बदनियाँ की ओट परेबा, उड़त बनै तौ उड़ जैये,
हो जइये अमनियाँ की ओट परेबा, उड़त बनै तौ उड़ जैये ।
हो जइये मड़इया की ओट परेबा, उड़त बनै तौ उड़ जैये,
हो जइये ननदिया की ओट परेबा, उड़त बनै तौ उड़ जैये ।
हो जइये जिठानी की ओट परेबा, उड़त बनै तौ उड़ जैये,
हो जइये बहुरिया की ओट परेबा, उड़त बनै तौ उड़ जैये ।

(श्रीमती कुसुम पटेल, करी के सौजन्य से)

किसान की पुत्रवधु कहती है कि हे कबूतर! मेरे ससुर की अचूक गुलेल घलने वाली है, अपनी जान बचाने के लिये बचना चाहे तो बच जाना। गुलेल घलने के पहले ही पहाड़ी, बाँधिया, आम, मचान, ननद, जिठानी एवं किसान की पुत्रवधु की आड़ में छिप जाना, क्योंकि ऐसा न करने से मेरे ससुर की अचूक गुलेल के निशाने से बचना मुश्किल है।

फसल उजाड़ने में गलगलियों अर्थात् बुंदेलखंड का एक विशेष पक्षी जो झुण्डों में रहता है वह खेत के खेत चौपट कर देता है। खेत के समीप छोटे-मोटे पेड़ की डालियों एवं गेंदा के पेड़ों में छिप जाता है। गेंदा जैसा पीला रंग गलगलियों का होने के कारण वे न तो दिखाई देते हैं और न आसानी से पहचाने जाते हैं। ऐसे पक्षियों से फसल बचाने के लिये किसान की बहू अपने ससुर से बिलवारी के माध्यम से कहती है-

गलगलियाँ धुनक दये खेत ककाजू,
बैठी रात गिंदुलियन में ।
अरे हाँ रे ककाजू काहे के जे बने
गुथना और काहे की बनी गुलेल, ककाजू.....
अरे हाँ रे हमारे रेशम के जे बने
गुथना नकरी की बनी गुलेल, ककाजू.....
अरे हाँ रे ककाजू कैसे कें गुथना टूटे,
कैसे कें गिर गई गुलेल, ककाजू.....
अरे हाँ रे हमारे घालत में गुथना टूटे,
चारे में गिर गई गुलेल, ककाजू.....
गलगलियाँ धुनक दये खेत
ककाजू बैठी रात गिंदुलियन में ।

(श्रीमती कौशल्या पटेल, मरु के सौजन्य से)

अपने ससुर को सम्बोधित करते हुए बहू कहती है कि हे

कक्का जू! गलगलियाँ नामक पक्षियों ने खेतों की फसल धुनक डाली है। वे फसल खाकर वहीं गेंदा के पेड़ों में छिपकर बैठ जाती हैं। तुम्हारे ये गुथना अर्थात् गोफन और गुलेल कैसे और किससे बनते हैं। रस्सियों से हमारे गुथना और लकड़ी एवं रबड़ से गुलेल बनती है। तुम्हारा गुथना कैसे टूट गया और गुलेल कहाँ गिर गई है। ससुर कहते हैं कि घालते समय गुथना टूट गया और मेड़ पर लगी घास में कहीं गुलेल गिर गई है इसलिए गलगलियाँ फसल को फुकलकर उजाड़ रही हैं।

बुंदेलखंड के ग्रामीण क्षेत्रों में आना-जाना पैदल अथवा बैलगाड़ियों से होता है, लेकिन ग्रामीण लोगों का लोकमन लोकगीतों में कुछ न कुछ गाता ही रहता है, चाहे वह हार-पहार में जानवर चराने जा रहा हो और चाहे अपने खेत कुआँ पर अथवा और कहीं, अपनी मस्ती में मस्त किसान बैलगाड़ी से जा रहा है और पैदल चलती किसी नायिका को देखकर उसका लोकमन गाने लगता है-

मोरी गाड़ी के बिचकना बैल मजे सें,
चढ़ आ री गोरी मोरी गाड़ी पै ।
तोरी हेरन मोरी मुसकान चलो जा,
नजर मिलानें सें का होने ।
तोरे लागे बदन मुस्झान मजे सें,
चढ़ आ री गोरी मोरी गाड़ी पै ।
मोरे ससुरा की टूटत आन चलो जा,
नजर मिलानें सें का होने ।
तोरे लागे हैं पाँव पिराँन मजे सें,
चढ़ आ री गोरी मोरी गाड़ी पै ।
मोरे सैंया की देखी नैंयाँ साँन चलो जा,
नजर मिलानें सें का होने ।
मोरी बात गलत न मान मजे सें,
चढ़ आ री गोरी मोरी गाड़ी पै ।
मोरी ननदी कौ मो पै ध्यान चलो जा,
नजर मिलानें सें का होने ।
मोरी गाड़ी के बिचकना बैल मजे सें,
चढ़ आ री गोरी मोरी गाड़ी पै ।

(श्री रामस्वरूप पटेल, बसारी के सौजन्य से)

किसान अपनी गाड़ी हाँकते हुए पैदल चल रही नायिका से

कह रहा है कि मेरी गाड़ी के बैल छरकने वाले हैं, इसलिए धीरे से आकर मेरी गाड़ी पर चढ़कर बैठ जाओ। नायिका कहती है- तुम्हारा देखना और मेरा मुस्कराना तथा नजर मिलाने से कुछ होने वाला नहीं। तुम्हारा सुंदर चेहरा थकान से मुस्झाने लगा है, इसलिए धीरे से गाड़ी पर आकर बैठ जाओ। मेरे ससुर की मर्यादा टूटती है, इसलिए नजर मिलाने से कुछ नहीं होता। तुम्हारे पैर दर्द करने लगे होंगे इसलिए गाड़ी पर बैठ जाओ, तुमने मेरे पति की शान-शौकत नहीं देखी, इसलिए चुपचाप चले जाओ। तुम मुझे गलत आदमी नहीं समझो और धीरे से आकर मेरी गाड़ी पर बैठ जाओ। अंत में नायिका कहती है कि मेरी ननद का हमेशा मुझ पर ध्यान रहता है, इसलिए हे गाड़ीवान! तुम चुपचाप चले जाओ। एक दूसरे तरफ देखने से कुछ नहीं होता।

बुंदेलखंड के जंगलों में खैर, कटाई, करौंदा, जरिया, रक्तविड़ार आदि के घने जंगल सर्वत्र पाये जाते हैं। कुआँ-कछवारे जाते समय नायिका करौंदा के कटीले झाड़ को ऐसे कोसती है, जैसे पेड़-पौधे भी मानवीय सम्वेदना को समझते हों। एक बिलवारी में करौंदी के पेड़ के प्रति नायिका की बदले की प्रवृत्ति देखते ही बनती है-

बरजावै करौंदी तोरे झाँड़ हमारे, पिया बिदे निनुरत नइयाँ ।
ससुरा जो मोरे इतै होते, तोय जर से देती कटाय हमारे.....
जेठा जो मोरे इतै होते, जरवन में देती दबाय हमारे.....
देवरा जो मोरे इतै होते, होरी में देती जराय हमारे.....
बरजावै करौंदी तोरे झाँड़, हमारे पिया बिदे निनुरत नइयाँ ॥

(श्री हरीदास रैकवार, बसारी के सौजन्य से)

ग्रामीण नायिका करौंदी के पेड़ को कोसती है। उसके झकड़ा (ढेरी) में बेचारी का पति उलझ गया है, प्रयत्न करने पर भी सुलझ नहीं रहा। नायिका कहती है- यदि यहाँ पर आज मेरे ससुर होते तो इस करौंदी को जड़ से कटवाकर फिंकवा देती। जेठ होते तो जरेंटों में दबवा देती और देवर होते तो समूचे पेड़ को ही होली की तरह जलवा देती। इसके कटीले झकड़ा में मेरा पति उलझ गया है, जो कोशिश करने पर भी सुलझ नहीं पा रहा है।

बसंतऋतु आते ही दिन बड़े होने लगते हैं। दिन बड़े होने से धूप बहुत तेज होने लगती है। खेत-खलिहानों में काम करते समय धूप इतनी तेज लगती है कि लोगों के चेहरे मुस्झाने लगते हैं। तेज

धूप में तपकर नायिका के पति का चेहरा ही बदल गया है। इस प्रकार का चित्रण पारम्परिक बिलवारी लोकगीत में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है -

चैता के चरे घाम बलम की,
मुइयाँ बदल गई घामें में।
जो कऊँ बलम घर में होते,
पल्ली में लेती लुकाय बलम की, मुइयाँ बदल...
सास ससुर न इतै होते,
घुँघटा में लेती लुकाय बलम की, मुइयाँ बदल...
जेठ जिठानी जो न होते,
आँचर में लेती लुकाय बलम की, मुइयाँ बदल...
जो कऊँ बलम हलके होते,
चोली में लेती लुकाय बलम की, मुइयाँ बदल...
चैता के चरे घाम बलम की, मुइयाँ बदल गई घामें में।
(श्रीमती ऊषा खरे, सटई के सौजन्य से)

चैत्र महीने की धूप इतनी तेज है कि मेरे प्रियतम का चेहरा ही धूप में बदल गया है। यदि पति घर में होते तो धूप से बचाने के लिये उन्हें रजाई में छिपा लेती। खेत में सास-ससुर न होते तो उन्हें घुँघटा में छिपा लेती। जेठ-जिठानी न होते तो पति को साड़ी के आँचल में छिपा लेती और यदि मेरे प्रियतम बहुत छोटे होते तो उन्हें अपनी चोली में छिपा लेती, क्योंकि चैत महीने की तेज धूप में मुरझाने से उनका चेहरा ही बदल गया है।

ग्रामीण अंचलों में खेती-किसानी की प्रधानता प्राचीनकाल से ही रही है। खेती सिंचित हो या असिंचित, उसी से गाँव के परिवारों का भरण-पोषण होता है। कृषि कार्य में सभी लोगों की सश्रम और सक्रिय भागीदारी होती है। कृषि मजदूरों को पूरे दिन किसान के खेत में कटाई-बिनाई का कार्य करना होता है। यदि किसान मजदूरों को शाम के समय जल्दी नहीं छोड़ता, तो मजदूर फसल की कटाई करते हुये यह पारम्परिक बिलवारी समूह स्वरों में गाने लगते हैं -

दिन बूड़ें भरा दई लम्बी माँग किसान भैया,
बेरा तौ भई घर जैबे की।
सबकें तो पनियाँ भरन लागे,
मोरी रीती गगरियाँ लल्लायँ किसान भैया,

बेरा तौ भई घर जैबे की।
सबके घरे संजा हो गई,
मोरे अरबा में दिया लल्लायँ किसान भैया,
बेरा तौ भई घर जैबे की।
सबकी ग्वासलीं होन लगीं,
मोरे भूखे लबैया रमाँयँ किसान भैया,
बेरा तौ भई घर जैबे की।
सबकी ब्यारी बनन लगी,
मोरी सूनी रसुइया दिखाँयँ किसान भैया,
बेरा तौ भई घर जैबे की।
दिन डूबें भरा दई लम्बी माँग किसान भैया,
बेरा भई घर जैबे की।

(श्रीमती आशा अग्रवाल, बसारी के सौजन्य से)

सूर्यास्त के समय किसान ने कृषि मजदूरों को फसल काटने के लिये लम्बी माँग भरा दी है, जबकि अब सभी के लिए घर जाने का समय हो गया है। सभी के मजदूर अपने-अपने घर जाकर पानी भरने लगे हैं और इन किसान भैया के मजदूरों की गगरियाँ खाली पड़ी हैं। सबके घरों में संध्या के डब्बी-दीया जलने लगे हैं, लेकिन इन विचारों के दीये आलों में रखे लला रहे हैं। सबके घरों में दोहनी होने लगी, लेकिन हमारी गायों के बछड़े भूखे रंभा रहे हैं। सबके घरों में रात्रि का भोजन तैयार होने लगा है, जबकि हमारा रसोई घर सूना पड़ा है। दिन डूबते ही किसान भइया ने मजदूरों को लम्बी माँग काटने के लिये भरा दी, अर्थात् निर्धारित कर दी है।

ग्रामीण कृषि मजदूर फसल काटते समय एक और पारम्परिक बिलवारी लोकगीत सामूहिक लोकधुनों में गाते हैं। पूरे दिन फसल काटते-काटते शाम को सूर्यास्त हो जाता है, लेकिन किसान मजदूरों को घर जाने के लिये नहीं छोड़ता, तभी महिलायें काम करते हुए किसान को संबोधित कर यह बिलवारी गीत सुरीले कंठों से गाने लगती हैं -

खेती बारे हाँ बड़ौ है गुमान लाल दिन,
डूब गओ छोड़त नइयाँ।
सबके कटइया घरे पाँचे,
इनकी न बड़ा रई माँग लाल दिन,
डूब गओ छोड़त नइयाँ।

सबके दिया उजरन लगे,
 मोरी पॉर में दिया लल्लायँ लाल दिन,
 डूब गओ छोड़त नइयाँ।
 सबके घरै पनियाँ भर गये,
 मोरी खाली गगरियाँ दिखायँ लाल दिन,
 डूब गओ छोड़त नइयाँ।
 सबके पिसने होन लगे,
 मोरी चकिया बिचारी लल्लायँ लाल दिन,
 डूब गओ छोड़त नइयाँ।
 सबकी रसुइयाँ होन लगीं,
 मोरे पांवने आस लगायँ लाल दिन,
 डूब गओ छोड़त नइयाँ।
 खेती बारे हाँ बड़ौ है गुमान लाल दिन,
 डूब गओ छोड़त नइयाँ।

(श्रीमती रूकमणी पटेल, रामपुर के सौजन्य से)

किसान को अपनी खेती का बड़ा घमंड है। पश्चिम में लालिमा छा गई और सूर्यास्त हो गया है, लेकिन कृषि मजदूरों को घर जाने के लिये किसान छुट्टी नहीं कर रहा है। सभी किसानों के मजदूर अपने-अपने घर पहुँच चुके हैं, लेकिन इनकी माँग ही खत्म नहीं हो रही है। सबके घरों में दीपक जलने लगे हैं, हमारी दियट पोर में धरी लला रही है। सब मजदूरों ने घर जाकर अपना-अपना पानी भर लिया है, लेकिन हम लोगों के पानी के घड़े खाली पड़े हैं। सबके मजदूरों के घर पिसनोट पिसने लगा है, लेकिन हम लोगों की चक्कियाँ बेचारी लला रही हैं। सबके घरों में रात्रिकालीन भोजन तैयार होने लगे हैं और हम लोगों के यहाँ आये मेहमान हमारे घर पहुँचने की आशा लगाये बैठे हैं। सूर्य लाल होकर अस्त भी हो गया है। मगर हमारा किसान हम लोगों को अभी भी घर जाने के लिये छोड़ नहीं रहा।

ग्रामीण लोकजीवन में प्राचीनकाल से जीवनयापन के लिये खेती-किसानी और मेहनत-मजदूरी के अलावा अन्य कोई चारा नहीं रहा। कभी-कभी अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा उपलवृष्टि के कारण भुखमरी फैलने से अकाल की स्थिति का सामना ग्रामीण जनता को करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में ग्रामीण साहूकारों से गरीब लोगों को कर्ज लेकर परिवार के लोगों का भरण-पोषण तथा लड़का-बिटिया के विवाह करने पड़ते थे। ऋण चुकाने में कभी-

कभी परिवार के सदस्यों को साहूकार के घर में बंधुआ चाकरी करना पड़ती थी। इसके बाद भी बेचारे गरीब ऋण से उऋण नहीं हो पाते थे। इस प्रकार के अनेक लोकप्रसंग लोकजीवन में लोकगीतों के रूप में परम्परा में सुने जा सकते हैं। अकाल का संकेत और किसी-किसी परिवार पर उस अकाल का क्या प्रभाव पड़ा। एक पारम्परिक बिलवारी गीत में स्पष्टतः देखा जा सकता है-

बरजाबैं अकाल के साल हमारी, ननद बिका गई हीरा सी।
 जो कऊँ मोरे ससुर होते, उनसे रिन देती चुकाये हमारी,
 जो कऊँ मोरी सास होती, ननदिन को लेती बचाये हमारी,
 जो कऊँ मोरे जेठ होते, उनसे रिन देती चुकाय हमारी,
 जो कऊँ मोरी जिजी होती, ननदिन को लेती बचाये हमारी,
 जो कऊँ मोरे देवर होते, उनसे रिन देती चुकाय हमारी,
 जो कऊँ मोरी लौरी होती, ननदिन को लेती बचाय हमारी,
 बरजाबैं अकाल के साल हमारी, ननद बिका गई हीरा सी।

(श्रीमती आशा अग्रवाल, बसारी के सौजन्य से)

इस अकाल की साल में आग लग जाती, इसके कारण हमारी हीरा सी सुन्दर ननद कर्ज की भेंट चढ़ गई है, अर्थात् बेच दी गई है। यदि मेरे ससुर होते तो उनसे कर्ज चुकवा देती, सास होती तो ननद को बचा लेती, जेठ होते तो उनसे कर्ज चुकवा देती, जेठानी होती तो ननद को बचा लेती, देवर होते तो उनसे ऋण चुकवा देती और देवरानी होती तो अपनी ननद को बिकने से बचा लेती। इस अकाल की साल में आग लग जाये, इसी अकाल के कारण मेरी हीरा सी ननद कर्ज में बिक गई है।

ग्रामीण परिवारों में धनाभाव के कारण कभी-कभी अच्छे घरानों की लड़कियों के विवाह मजबूरी में गरीब घरानों में कर दिये जाते हैं। बिटिया को गरीब घर में ब्याहनें से ना तो उसे सुख मिलता है और न ही उसके माता-पिता ही प्रसन्न रह पाते हैं। लोकमानस में भाग्य की इस विडंबना को लोकगीतों में चित्रित किया गया है। बेचारी एक बिटिया अपनी व्यथा कथा को कितनी हृदय विदारक अभिव्यक्ति देती है-

मोये होतई न डारो काये मार मताई मोरी,
 कर दओ ब्याव मजूरा सैं।
 संग की बिटियाँ बड़े घर गई,
 मोय गइया सौ जबरई निकार मताई मोरी,

मोरे घुँघटा गाँनें इतै धर गये,
मोरी बिंदिया गई बिकाय मताई मोरी,
मोरी चोली गाँनें इतै धर गई,
मोरी तिन्नी गई बिकाय मताई मोरी,
मोरी सुतिया गाँनें इतै धर गई,
मोरे चूरा गये बिकाये मताई मोरी,
मोरी बिछुआ गाँनें इतै धर गओ,
मोरी करधन गई बिकाय मताई मोरी,
मोरे काहे को करे ते ब्याव मताई मोरी
पर गओ संग मजूर सें।

(श्रीमती विमला यादव, बसारी के सौजन्य से)

गरीब घर में ब्याही बिटिया दुखी होकर अपनी माता से कहती है कि तुमने मुझे पैदा होते ही क्यों नहीं मार डाला। मजदूरी करने वाले पति से विवाह होने से मुझे जीवन में कुछ नहीं मिला। मेरे संग की सब लड़कियों के विवाह बड़े घरानों में हुए हैं, लेकिन मेरी माता ने मुझे गाय की तरह अपने घर से बाहर निकाल दिया है। ससुराल में मेरा घुँघटा गिरवी रख दिया गया है और मेरी बेंदी बेच दी गई है। मेरी चोली गिरवी रखकर मेरी तिंदनी बेच दी गई है। सुतिया गिरवी रखकर मेरे चूड़ा बेचे जा चुके हैं। बिछुआ गिरवी रखवाकर मेरी करधन बेच दी गई है। मेरे साथ ऐसा होने के लिये तुमने मेरा विवाह क्यों किया था, जिससे मुझे मजदूर पति के साथ रहकर यह सब भोगना पड़ा। यदि पैदा होते ही मुझे मार डालती तो गरीब पति के साथ मुझे ऐसे दिन नहीं देखने पड़ते।

बुन्देलखण्ड के ग्रामीण क्षेत्रों में मकर संक्रांति के अवसर पर जगह-जगह मेलों का आयोजन होता है। इन मेलों-ठेलों में आस-पास का जनसैलाब उमड़ने से हाट-बाजारों में खासी भीड़ होती है कभी कभी घर-परिवार के एक दो सदस्य अपने समूह से बिछुड़ जाते हैं, तो फिर उनकी खोज करना बड़ा कठिन हो जाता है। एक ऐसा बिलवारी लोकगीत भी मिला है, जिसमें ननद और भौजाई दोनों हटा की हाट देखने जाती हैं। उस हाट के मेले में ननद भीड़ में अपनी भौजाई से बिछुड़ जाती है, भौजाई ननद को खोजते-खोजते परेशान हो जाती है, लेकिन उसकी ननद नहीं मिलती। हाट की इस घटना को लोकमन ने बिलवारी लोकगीत में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है-

बरजाबै हटा तोरी हाट हमारी, ननद हिरा गई बटुआ सी
जो कऊँ संग ससुर होते, मैं तो उनई से लेती दुड़ाये, हमारी..
जो कऊँ संग जेठ होते, मैं तो उनई से लेती दुड़ाये, हमारी..
जो कऊँ संग पिया होते, मैं तो उनई से लेती दुड़ाये, हमारी..
जो कऊँ संग देवर होते, मैं तो उनई से लेती दुड़ाये, हमारी..
बरजाबै हटा तोरी हाट हमारी, ननद हिरा गई बटुआ सी।

(श्रीमती कुसुम यादव, बंदिन के सौजन्य से)

भौजाई कहती है कि इस हटा की हाट में आग लग जाये, इसमें मेरी बटुआ सी प्यारी ननद खो गई है। मेरे साथ इस मेले में मेरे ससुर, जेठ, देवर,पति होते तो मैं उन्हीं से अपनी ननद को ढुँढवा लेती। आग लगे इस मेले में, मैं काहे को आई, इसमें मेरी बटुआ सी सुन्दर ननद मुझसे बिछुड़कर खो गई है।

बुन्देलखण्ड में प्राचीन काल से संयुक्त परिवार की प्रथा प्रचलित रही है। यहाँ के ग्रामीण क्षेत्रों में दराई-पिसाई के सारे काम कुनेतौ, जतरिया और जाँते-चक्कियों से घर में होते थे। दराई-पिसाई करते समय भी ग्रामीण महिलायें बिलवारी लोकगीत गाया करती थीं। इन लोकगीतों में हास-परिहास का परिवारिक पुट देखने को मिलता है। कुलवधू घर में पिसाई करते समय फाल्गुन-चैत्र के मौसम में यह बिलवारी गीत गाकर अपनी थकान को भूल जाया करती थीं। ऐसा ग्रामीणक्षेत्र की अनेक वृद्धों द्वारा मुझे बताया गया है। वाचिक परम्परा से संकलित बिलवारी लोकगीत की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं -

मोरी चकिया के गेरऊँ गेर चुखरवा,
कैसौ फिरत अँधयारे में,
मोरी सासो खों लयें भगो जाय चुखरवा,
कैसौ फिरत अँधयारे में
मोरी जिठनी खों लयें भगो जाय चुखरवा,
कैसौ फिरत अँधयारे में
मोरी लोरी खों लयें भगो जाय चुखरवा,
कैसौ फिरत अँधयारे में
मोरी ननदी खों लयें भगो जाय चुखरवा,
कैसौ फिरत अँधयारे में

(श्रीमती गायत्री पटेल, करी के सौजन्य से)

कुलवधू भुन्सारे से अपने घर में चक्की से पिसाई करते हुये

गा रही है कि अरे चूहे! मेरी चक्की के चारों ओर अंधियारे में तू क्यों भटक रहा है। तू कहीं मेरी सास, जेठानी, देवरानी और ननद को लेकर भगा ले जाने की भावना से तो नहीं घूम रहा है। अर्थात् अंधेरे का फायदा उठाकर मेरे परिवार के किसी सदस्य को भगा ले जाने के लिये तो नहीं भटक रहा है।

कोई अपरिचित परदेसी सूर्यास्त के समय एक नायिका के दरवाजे से गुजर रहा है। नायिका अंदाज लगा लेती है कि इसे काफी दूर जाना है और रात हो रही है। रास्ते में उसके साथ कहीं कोई अनहोनी न हो जाये, इसलिये उसे अपने यहाँ रुकने, भोजन का इंतजाम करने तथा रात्रि विश्राम करने का आश्वासन देती है। नायिका की आतिथ्यात्मक भावनायें इस बिलवारी के माध्यम से देखिये -

दिन बूढ़े के छलिया छैल मुरक आ,
अब नइयाँ बेरा आँगें जैबे की
तो हॉँ दैहों कनक और दार मुरक आ,
अब नइयाँ बेरा आँगें जैबे की
पानी लाहों कुआँ से निकार मुरक आ,
अब नइयाँ बेरा आँगें जैबे की
गुरसी दैहो दुगई में बार मुरक आ,
अब नइयाँ बेरा आँगें जैबे की
दोरें दैहौ खटोली डार मुरक आ,
अब नइयाँ बेरा आँगें जैबे की
कर दैहों में तोरी उसार मुरक आ,
अब नइयाँ बेरा आँगें जैबे की
उठ जइये बड़े भुनसारे मुरक आ,
अब नइयाँ बेरा आँगें जैबे की
दिन बूढ़े के छलिया छैल मुरक आ,
अब नइयाँ बेरा आँगें जैबे की।

(श्रीमती आशा अग्रवाल, बसारी के सौजन्य से)

दिन डूबने के समय एक गृहिणी के दरवाजे से कहीं दूरस्थ गाँव जा रहे छैल-छबीले नायक के प्रति सहानुभूति प्रकट करती हुई एक नायिका उसे रात्रि में आगे न जाने के लिये रोकते हुये कहती है कि मैं तुझे रात्रिभोजन के लिये आटा दाल उपलब्ध करा दूँगी, कुआँ से पानी भरकर रख दूँगी, खाना पकाने के लिये गुरसी में आग जला दूँगी, विश्राम करने के लिये दरवाजे पर खटिया डलवा दूँगी अर्थात् भोजन और विश्राम करने का पूरा इंतजाम कर दूँगी। सुबह होते ही तुम अपने गंतव्य को चले जाना, लेकिन दिन डूब गया है, इसलिये अभी आगे मत जाओ, क्योंकि इस समय आगे जाने के लिये समय और परिस्थितियाँ ठीक नहीं हैं।

बुन्देली के पारम्परिक लोकगीतों में किसान तथा कृषि मजदूरों द्वारा खेत-खलिहानों में तन्मयतापूर्वक गायी जाने वाली बिलवारी लोकसाहित्य की एक सशक्त एवं महत्वपूर्ण विधा रही है। आलेख में प्रयुक्त बिलवारियों के अतिरिक्त-

रथ ठाँड़े करौ दीनानाथ तुम्हारे संगें चलों बनवासा हाँ,
बरसाने में हो रई फाग सखीरी भरे हैं कटोरा रंग केसर के,
सूरज की मुरक गई कोर अबेलौं रथ नई लौटे,
कजरीवन सें चरखारी लौ चलबों होये ककाजू,
ऐंस लागी दरोगा सें तोरी सेवा करों दिन रैन महादेव,
एक फल मौई खों लगाय दइयौ।

जैसे अनेक बिलवारी लोकगीत गाये जाते हैं। लेकिन आजकल न वे खेती-किसानी के पारम्परिक संसाधन बचे हैं, न कटाई-गहाई करने के पुराने तौर-तरीके और न ही सामूहिक लोकधुनों में बिलवारियों को गाने वाले लोकमन के धनी, निश्चित जिन्दगी जीने वाले वे कृषि मजदूर, इसीलिये शताब्दियों पुरानी ग्रामीण लोकमान्यताएँ, लोकपरम्पराएँ और लोकगीत विलुप्त के अंतिम चरण में हैं, इन सबका संकलन एवं संरक्षण करना हम सबका सांस्कृतिक तथा साहित्यिक लोकधर्म है।

बुन्देली के पर्याय : डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त

डॉ. बहादुर सिंह परमार

आज बुन्देली साहित्य की जो भी चर्चा राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में होती है, उसमें अनेक शताधिक विद्वानों का योगदान है, किन्तु एक नाम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है- डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त। डॉ. गुप्त ने आजीवन बुन्देली साहित्य की प्राण-पण से सेवा की तथा उसकी समृद्धि में भरभूर योग दिया। उन्होंने जहाँ एक ओर स्वयं अंचल में जाकर बिखरी पड़ी पाण्डुलिपियों को सहेजा, वहीं उनका पाठ निर्धारण, सम्पादन करने के साथ उनका गहन विश्लेषण लोकसंपृक्त आलोचना दृष्टि से करके लोक साहित्य समीक्षा में नये प्रतिमानों को गढ़ा। इस महान् विभूति में जो मैंने देखा कि उनमें बुन्देली साहित्य का कार्य करने के प्रति गहरा समर्पण व सेवा भाव था। मैं जब भी उनसे मिलने गया कि वे मुझे लिखते ही मिले। चर्चा व्यक्तिगत कम, अकादमिक अधिक होती थी। उनके इस समर्पण और सेवा भाव के पीछे गहरे दंश थे, जो उन्होंने स्वयं बताये हैं। वे लिखते हैं कि 'मेरी हर रचना के पीछे कोई न कोई धक्का रहा है। संघर्षों से जूझता जीवन कभी पटरी पर रहता है, तो कभी पटरी से नीचे। रास्ते में कुछ ऐसे अनुभव आते हैं, जो यात्री को धकियाकर एक नई दिशा और नई गति दे जाते हैं। मेरे सामने ऐसी गई घटनायें घटी हैं, जिन्होंने मेरी रचनाधर्मिता को जगाया है।' उनको सबसे पहले बुन्देली लोक साहित्य को स्थापित करने की प्रेरणा 1958 में मिली, जब धवार गाँव में 'ईसुरी जयंती' समारोह आयोजित हुआ। इसमें वे श्यामसुंदर बादल, कृष्णानंद गुप्त के साथ शामिल हुये। वहाँ उन्होंने ईसुरी के पौत्र पं. सुंदरलाल शुक्ल के संस्मरण सुने और फागों से रससिक्त भी हुए। इसी अवसर पर 'ईसुरी परिषद्' के मंत्री बने। इसके बाद के अनुभवों ने इन्हें बुन्देलखण्ड और बुन्देली लोक साहित्य के लिए काम करने हेतु प्रेरित किया। इसी तरह 1958 में प्रयाग में आयोजित अखिल भारतीय लोक संस्कृति सम्मेलन में गुप्त जी ने बुन्देली का प्रतिनिधित्व किया, तो वहाँ उपस्थित डॉ. प्रभाकर माचवे ने गुप्त जी से पूछा कि बुन्देलखण्ड में कितना काम

हुआ है, और उन्होंने क्या किया है? इस बात पर गुप्त जी को लज्जित होना पड़ा और इसके बाद उन्होंने संकल्पित हो बुन्देली लोक साहित्य सेवा हेतु कमर कस ली।¹² फिर बुन्देली लोक साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने काम किया। चाहे वह लोक संस्कृति या इतिहास का क्षेत्र हो या लोक साहित्य और लोककलाओं का। हरेक क्षेत्र में गहराई से डूबकर लोकसाहित्य के नए मोतियों को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने लोक साहित्य के अध्ययन में पाश्चात्य मानदण्डों को नकारकर उनके स्थान पर पूर्ण भारतीय दृष्टि पर आधारित मानदण्ड विकसित कर उसी निष्कर्ष पर बुन्देली लोक साहित्य को कसा है। उन्होंने स्वयं ग्वालियर में आयोजित लोक साहित्य समारोह के उद्घाटन भाषण में कहा था कि 'पश्चिम में लोक के प्रति जो भी दृष्टि रही हो, पर हमें यहाँ भारतीय दृष्टि और मान्यता का ही आधार लेना है और लोक की शक्तिमयी मूर्ति ही प्रतिष्ठित करनी है।' इसी धारणा को सार्थक करने हेतु उन्होंने आजीवन प्रयास किया और वे स्थापित करने में पूर्ण सफल रहे हैं।

बुन्देलखण्ड के पथरीले अंचल के दूरस्थ ग्रामों में डॉ. गुप्त ने यात्रायें करके लोक साहित्य संकलन का महत्वपूर्ण कार्य किया है। इन्होंने गाँव-गाँव घूमकर लोकगाथाएँ, लोककथाएँ, लोकगीत, लोकनाट्यों के साथ विभिन्न अल्पज्ञात व अज्ञात रचनाओं का संकलन किया और संकलित सामग्री का कुशलतापूर्वक सम्पादन कर पाठ निर्धारण भी किया। उदाहरणार्थ 'चौमासा' के अंक 40 में प्रकाशित 'जगदेव की गाथा' नामक आलेख से उनकी सम्पादन दृष्टि को समझा जा सकता है। इस आलेख 'जगदेव गाथा' के तीन पाठ दिए हैं तथा विशेष टिप्पणी में तीनों पाठों की जानकारी एवं गाथा के केन्द्रीय भाव को उद्घाटित करते हुए वे लिखते हैं कि 'इस गाथा में गर्व विनाश कारण है।'¹³ इसी गाथा की ऐतिहासिकता को रेखांकित करते हुए विभिन्न तथ्यों को सिलसिलेवार ढंग से प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'शाक्त' परम्परा का प्रभावशाली रूप बारह वीं शती के आल्हा में दिखाई पड़ता है, क्योंकि आल्हा देवी का परम भक्त रहा है। जगदेव की गाथाएँ उसी समय की रचनाएँ हैं और उनका रचनाकाल ग्यारह वीं- बारह वीं शती ही है। जहाँ तक तीसरे गाथा रूप में 'जगदेव का पुंआरा' की रचना का प्रश्न है, वह मुगलकाल की है। क्योंकि उसमें राजपूत कन्या की रक्षा के लिए मुगलों से राजा जगत या

जगदेव की संघर्ष प्रधान घटना है। तीसरा गाथा रूप भक्तिपरक न होकर वीर रस परक है, भले ही राजा जगत या जगदेव देवी जालपा के वरदान से विजयी हुए हों। मुगल युग में शाक्त परम्परा का वह रूप नहीं मिलता, जो 11-12 वीं शती में विद्यमान था। अभिप्राय की दृष्टि से चौपड़ खेलने, समुद्र का गर्व हरण करने और नारी की महिमा गाने के अभिप्राय मध्ययुग में प्रचलित रहे हैं। शाप देना और रुण्ड से मुण्ड उगाना आदिकालीन अभिप्राय हैं।¹⁴ इस तरह का गहन शोधपरक सम्पादन करके गुप्त जी ने बुन्देली लोक साहित्य को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाया है। उनके परिश्रम व गवेषणापूर्ण दृष्टि का ही प्रतिफल है-उनका शोध ग्रंथ 'बुन्देलखण्ड का मध्ययुगीन काव्य', जो ग्यारह सौ पृष्ठों का कलेवर लिए एक प्रकार से उन्नीस वीं शती तक का बुन्देली का साहित्यिक इतिहास है। इसे प्रकाशित कराने की इच्छा आदरणीय गुप्त जी के जीवन में पूरी न हो सकी। यह हम सब पर ऋण है।

डॉ. गुप्त का जन्म वीरभूमि महोबा में हुआ। महोबा का नाम पूरे राष्ट्र में ही नहीं विश्व में 'आल्हा' के कारण विख्यात है। 'आल्हा' बुन्देलखण्ड के इतिहास का महानायक है, जिसको केन्द्र में रखकर महाकवि जगनिक ने आल्हाखण्ड की काव्य-सर्जना की। 'आल्हा' का चरित्र डॉ. गुप्त को सदैव अपनी ओर आकर्षित करता रहा है, इसीलिए उन्होंने सबसे पहले इसी पात्र पर शोधात्मक दृष्टि से कार्य किया। उन्होंने शोध करते समय लोक साक्ष्यों को आधार माना, क्योंकि 'लोक साक्ष्य किसी अंचल के इतिहास-लेखन में सहायक होता है। संस्कृति का इतिहास लोक साक्ष्यों की अनुपस्थिति में नहीं लिखा जा सकता। जन-जन या लोक की संस्कृति और इतिहास ही सही इतिहास है और वह लोक साक्ष्यों के बिना अपूर्ण है।'¹⁵ इन्हीं लोक साक्ष्यों को संकलित कर डॉ. गुप्त ने उपन्यास लिखा 'आल्हा', जिसका प्रकाशन 1962 में हुआ। इसमें डॉ. गुप्त ने प्राचीन भारतीय संस्कृति व गौरव को अपने उपन्यास का आधार बनाकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। उनका दृढ़ विचार है कि अखण्ड भारतीयता का सांस्कृतिक पुनरुत्थान यदि सम्भव है तो भारतीय इतिहास के उज्वलतम इतिहास से सम्बन्धित कथाओं को प्रदर्शित करना होगा। उनके उपन्यास के मूल में सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की उत्कृष्ट प्रेरणा है। अपने समृद्ध पुरातत्व ज्ञान के बल पर उन्होंने चंदेलकालीन भारतीय संस्कृति के अवयवों को बड़ी सुन्दरता से

जोड़कर उनमें प्राण संचार किया है।⁶ 'आल्हा' उपन्यास का कथानक ऐसा है कि इसके बारे में विभिन्न जनश्रुतियाँ जनमानस में व्याप्त हैं। भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक मत एवं तथ्य हैं, किन्तु डॉ. गुप्त ने उक्त समस्त बातों के साथ कुछ निजी अध्ययन, कल्पना, शोध को सम्मिश्रितकर उपन्यास को लिखा, जिससे आल्हा, चंदेलों और बुन्देलखण्ड के बारे में पूर्व की कई धारणाओं का खंडन होता है। हर नई धारणाएँ नवीन तथ्यों के साथ स्थापित होती हैं। बुन्देलखण्ड में लोकगाथा 'आल्हा' का असाधारण प्रभाव है और यह लोकप्रिय भी है। वस्तुतः 'आल्हा' लोक की जीवनी शक्ति और ऊर्जा का महाकाव्य है और उसका प्रभाव व्यक्ति, समाज और समूचे लोक पर इतना अधिक है कि उसके गायन से निराशाएँ विलीन हो जाती हैं। 'आल्हा' की मूलगाथा भले ही 'बनाफरी बुन्देली में हो, लेकिन जहाँ उसकी बुन्देली में कई वर्णनाएँ हैं, वहीं बैसवाड़ी, कन्नौजी, अवधी, भोजपुरी, बघेली, भदावरी, ब्रजी, कौरवी आदि विभिन्न लोक भाषाओं में भी अलग-अलग वर्णनाओं की श्रृंखला है। उनमें हर जनपद के भाषायी मुहावरे के साथ लोक संस्कृति और लोक चेतना इतनी घुलमिल गई है कि वह उस लोक की अपनी गाथा बन गयी है। लोक ने उसे इतना अपनाया है कि हर गाँव में आल्हा का गायन एक अमिट संस्कार की तरह प्रतिष्ठित हो गया है।...ऐसी राष्ट्रीय लोकगाथा की परम्परा, उसके स्वरूप और लोकगायिकी को समझना ऐसे समय में बहुत जरूरी है, जब हमारी संस्कृति पर हर तरफ से बाहरी आक्रमण हो रहे हों और हमारी अस्मिता को खतरा पैदा हो गया हो।⁷ डॉ. गुप्त ने इस लोकगाथा पर मेरी समझ में सर्वाधिक कार्य किया है। उन्होंने अनेक लेख लिखे और बाद में एक पूरा ग्रंथ लिखा जो सन् 2001 में मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद्- भोपाल द्वारा 'चंदेलकालीन लोक महाकाव्य आल्हा 'प्रामाणिक पाठ' के नाम से प्रकाशित हुआ, जिसमें डॉ. गुप्त के वे समस्त लेख जिसमें आल्हा पाठ-निर्धारण, पाठ-सम्पादन प्रक्रिया को समझाने के साथ मूल पाठ व उनका भावानुवाद दिया गया है। इसमें मांडौगढ़ की लड़ाई, नैनागढ़ की लड़ाई, मलखान कौ व्याव, बौरीगढ़ की लड़ाई, नरवरगढ़ की लड़ाई, बलख बुखारा की लड़ाई, आल्हा-निकासी, बुंदीगढ़ की लड़ाई, गाँजर की लड़ाई, सिरसा की लड़ाई, कीरत सागर की लड़ाई, आल्हा मनौआ, नदी बेतवा कौ दैरो, बैरागढ़ की लड़ाई तथा दिल्ली की लड़ाई को संकलित किया गया है। इस ग्रंथ में पाठ निर्धारण के आधारों की

कसौटी के बारे में डॉ. गुप्त ने लिखा है कि 'पाठ-निर्धारण के लिए मैंने कथा के मूल रूप का चयन किया है। अब तक विकसित बावन लड़ाईयों में ऐतिहासिकता के आधार पर कथा-प्रसंगों का परीक्षण किया गया है। पृथ्वीराज चौहान की सुपुत्री बेला-सम्बन्धी प्रसंग इतिहास और संस्कृति के विरुद्ध हैं और द्वेष-भाव से जन्में हैं, इस कारण उन्हें मूलकथा का अंग मानना उचित नहीं है।⁸ इसी तरह गुप्त जी ने ऐतिहासिकता व भाषा को आधार बनाया। इसी ग्रंथ में उपलब्ध आल्हा ग्रंथों के साम्य-वैषम्य पर विस्तार से प्रकाश डाला है। कुल मिलाकर डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने अपने जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा 'आल्हा' को नई मान्यताओं व प्रामाणिकता के साथ स्थापित करने में गुजारा और उसमें वे सफल भी हुए।

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने बुन्देली लोक साहित्य को राष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिलाने, बुन्देली लेखकों की रचनाधर्मिता को प्रस्तुत करने तथा बुन्देलखण्ड के ऐतिहासिक गौरव को उद्घाटित करने की मंशा से बुन्देलखण्ड साहित्य अकादमी की स्थापना की तथा इसी अकादमी से 1982 से 'मामुलिया' का प्रकाशन किया। 'मामुलिया' के प्रकाशन का चौतरफा स्वागत हुआ। इसने राष्ट्रीय परिदृश्य में एक शोध पत्रिका का स्थान बनाया। इसके माध्यम से 1991 तक 26 बहुचर्चित अंकों में बुन्देली लोक साहित्य के विविध पक्षों को उद्घाटित करने में सफलता प्राप्त की। इस पत्रिका के प्रकाशन से अंचल में लेखन व प्रकाशन का वातावरण निर्मित हुआ। गुप्त जी ने 'मामुलिया' के कुछ विशेषांकों को पुस्तक के रूप में सम्पादित कर प्रकाशित किया, जिससे बुन्देली लोक साहित्य निश्चित रूप से समृद्ध हुआ। उन्होंने 'बुन्देली फाग काव्य : एक मूल्यांकन' में फाग की परम्परा तथा प्रमुख फगवारों का रचनात्मक अवदान बताते हुए इसकी उपलब्धियों व वैशिष्ट्य को उजागर किया है। 'लोककवि ईसुरी और उनके साहित्य' में ईसुरी की फागों को परखा व परखवाया। इनकी दृष्टि थी कि 'ईसुरी या उनके फाग काव्य के मूल्यांकन में एक संतुलित दृष्टि की जरूरत है। न तो उसे श्रेष्ठता के पैमाने से नापा जाना चाहिए, क्योंकि वह बहुचर्चित या लोकप्रिय है, और न ही बहुत ही मामूली चलताऊ ढंग से, क्योंकि वह लोककवि या लोककाव्य है। लोककाव्य का अपना काव्यशास्त्र होता है और वह काव्यशास्त्र से भिन्न नहीं है, लेकिन लोककाव्य की विशिष्ट

सरणि का है। इस कारण लोक काव्य की सारी समझ और सूझ-बूझ, उसकी सीमाएँ और शक्ति को ध्यान में रखना अपेक्षित है। लोकानुभूति और लोकाभिव्यक्ति की प्रकृति और उसके अनुरूप उनका वैशिष्ट्य ही परखाव का मूल उद्देश्य है।⁹ इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर उन्होंने ईसुरी के व्यक्तित्व, उनकी काव्य-प्रेरणा और रचना प्रक्रिया के साथ उनकी फागों का भाव सौष्ठव, लोकदर्शन, प्रेम-तत्त्व, रूप-सौन्दर्य, लोकरंग, रंग जैसे वैशिष्ट्य को रेखांकित किया। ईसुरी की काव्य भाषा, छन्द योजना तथा फड़बाजी व ईसुरी के माध्यम से अन्य पक्षों को प्रस्तुत करने के साथ उनके समकालीन गंगाधर से सम्बन्धों की चर्चा व उनकी फागों के पाठनिर्धारण पर विचार प्रस्तुत किए गए। यह अंक लोक साहित्य जगत् में अत्याधिक चर्चित हुआ। इतना ही नहीं कालान्तर में इन्होंने स्वयं ईसुरी की 151 फागों का पाठ निर्धारण 'ईसुरी' की प्रामाणिक फागों' पुस्तक प्रकाशित कराई, जिसकी भूमिका में विस्तार से पाठ-निर्धारण की प्रक्रिया को बताये हुए इस संकलन को प्रामाणिक बनाया भी है। उन्होंने ईसुरी को लोक कवि जगनिक के बाद महान् कवि निरूपित किया है। वे स्वयं कहते हैं कि 'ईसुरी ने लोक साहित्य को ठीक से समझने के लिए नयी अंतदृष्टि दी है। उसने सिद्ध कर दिया है कि लोक साहित्य की रचना व्यक्ति ही करता है, और वह हर युग में रचा जाता है, लेकिन रचनाकार में ऐसी समर्थ लोकानुभूति और लोकाभिव्यक्ति हो, जो लोक की बनकर लोक द्वारा गृहीत होने पर लोक मुख में आ जाए। इसी सत्य को प्रतिष्ठित कर ईसुरी ने लोक साहित्य को नया प्रतिमान प्रदान किया है।'¹⁰

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त बुन्देली लोक साहित्य और संस्कृति की गम्भीरता से विवेचना करते थे, वे क्षेत्रीयता की संकुचित मानसिकता से ग्रस्त नहीं थे। इसी धारणा को मूर्तरूप देते हुए उन्होंने 'मध्यदेशीय लोकसंस्कृति' पुस्तक का सम्पादन किया, जिसमें न केवल बुन्देली बल्कि ब्रजी, अवधी सहित अन्य लोक संस्कृतियों का गहन विश्लेषण कर इनके अंतर्सम्बन्धों को दिखाया गया है। बुन्देली माटी के सपूत राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की कविता का सृजन विशुद्ध लोकवादी स्तर पर सम्पन्न हो सका है। उनकी कविता की रचना अनेक ऐतिहासिक दबावों का परिणाम थी और इन्हीं दबावों के बीच गुप्तजी के सामने खड़ी बोली को काव्य संस्कार देने की महत्वपूर्ण चुनौती थी,¹¹ जिसे उन्होंने स्वीकार

कर साहित्य रचना की। ऐसे महान् कवि की रचनात्मकता को रेखांकित करके डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने 'राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की साहित्य साधना पुस्तक का प्रकाशन किया। 'बुन्देली लोक संस्कृति' पुस्तक में गुप्त जी ने जिन लेखों को सम्पादित किया, उनमें बुन्देली लोक संस्कृति का आधार लोक दर्शन, लोकमूल्य, लोकाचरण, लोक आभूषण, लोकपर्व-उत्सव, लोक नृत्य हैं। लोक वाद्यों तथा व्यवहार सूत्रों पर विस्तार से मंथन कराया। आप सभी जानते हैं कि वही साहित्य अमर होता है, जिसका आधार लोक संस्कृति होता है।¹² आज के संदर्भ में लोक संस्कृति की प्रासंगिकता इसलिए है, क्योंकि आज भौतिकतावादी चिंतन से संवेदनहीनता बढ़ रही है, इसका निदान लोकसंस्कृति की जीवन्त मानवीय संपृक्तता से ही संभव होगा। गुप्त जी इस चिंता से अच्छी तरह वाकिफ थे और उन्होंने इसीलिए लोक साहित्य व लोकसंस्कृति के जीवनदायी तत्वों का विश्लेषण कर उसे आत्मसात् किया। उन्होंने 'मामुलिया' के माध्यम से बुन्देली गद्य के विविध रूपों के साथ काव्य की रचनात्मकता को प्रकाशित कर स्थापित करने में महत्वपूर्ण कार्य किया है।

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने बुन्देली लोक साहित्य और संस्कृति के इतिहास पर योजनाबद्ध तरीके से कार्य किया है। इन्होंने इतिहास को लोक साक्ष्यों की दृष्टि से देखने की अवधारणा को स्थापित किया। इनकी पुस्तक 'इतिहास और लोकसाक्ष्य' सभी अध्येताओं को पढ़नी चाहिए। इसमें गुप्त जी का मानना है कि अभी तक 'इतिहास के केन्द्र में सत्ता ही प्रधान रही है, जबकि इतिहासकार की दृष्टि को जनता पर केन्द्रित होना चाहिए। इतिहास के केन्द्र में जनता की प्रधानता जरूरी है और अगर राजा-महाराजाओं का भी इतिहास लिखना है, तो वह भी जनकेन्द्रित दृष्टि से लिखा जाना उचित है।¹³ बुन्देलखण्ड की अनेक जनश्रुतियों, लोक काव्य परम्पराओं के आधार पर डॉ. गुप्त ने इतिहास के पन्नों को उद्घाटित किया है। स्वतंत्रता संग्राम में बुन्देली लोकगायिकी के संघर्ष को बताते हुए उन्होंने मध्यप्रदेश की मध्यकालीन भाषा के अनेक उद्धरण देकर इतिहास को रेखांकित किया है। 'आजादी के गायक हरबोले' में भी उन्होंने बुन्देलखण्ड के साथ मध्यभारत में स्वतंत्रता संग्राम में लोकगायिकी की महत्वपूर्ण भूमिका को सिद्ध किया है। डॉ. गुप्त ने इतिहास विषयक दृष्टिकोण को लोक संस्कृति से जोड़कर इतिहास के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण काम

किया है। वैसे लोक संस्कृति की इतिहास चेतना को आधार बनाने की आवश्यकता का अनुभव पूर्व में भी किया गया और और कर्नल टॉड ने राजस्थान के इतिहास को इसी आधार पर समझने का प्रयत्न किया, किन्तु उनके पास लोक संपृक्तता का अभाव था। डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने 'बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति का इतिहास' पुस्तक में बुन्देलखण्ड के इतिहास की आंतरिक सच्चाईयों को प्रमाणों के साथ रूबरू कराया है- उनके प्रमाण बने हैं लोक में व्यवहृत शब्द, मान्यताएँ, लोकगीत, गाथा-कथाएँ तथा अन्य साहित्यिक उपादान। उन्होंने इस कार्य को एक चैलेंज के तौर पर लिया और पूरा किया। वे स्वयं मानते हैं कि- 'लोक संस्कृति का इतिहास लेखन' असम्भव समझा गया है। इसलिए उसकी चर्चा करना तक उपयुक्त नहीं माना गया। वस्तुतः लोक-संस्कृति में निहित लोक मूल्यों, लोकाचरणों, लोकजीवन, लोक साहित्य और लोक कलाओं जैसे अंगों-उपांगों में व्यक्ति भागीदार होता हुआ भी अधिकतर अदृश्य रहा है। यदि कहीं उसकी छाप या पहचान मिलती है, तो उसका परिचय प्राप्त नहीं होता है। इस वजह से तिथिवार इतिहास खोजना तो कठिन है, पर कालखण्डों या युगों के अनुसार लोक संस्कृति के विकास की नाप जोख की जा सकती है। लोक साहित्य के अंतर्गत लोकगीत, लोकगाथाओं और लोककलाओं में परिभाषित लोकचित्र, लोकमूर्तियाँ, लोकसंगीत आदि लोक संस्कृति के प्रामाणित अभिलेख हैं, जिनका काल- निर्धारण मोटे तौर पर कालखण्ड में किया जा सकता है और उसी आधार पर लोक संस्कृति का इतिहास भी क्रमबद्ध रूप में लिखा जा सकता है। अगर सच कहा जाए तो किसी युग की लोक संस्कृति या लोक चेतना और लोकाचरण का इतिहास ही सच्चा इतिहास है।¹⁴ इसी को आधार मानकर गुप्त जी ने बुन्देली के प्रागैतिहासिक युग, वैदिक युग, रामायण-काल, महाभारत काल, महाजनपदकाल, मौर्य-शुंग काल तथा नाग-वाकाटक काल की संस्कृति के विभिन्न अंगों-उपांगों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। गुप्त के उपरांत के काल को वे विभिन्न संस्कृतियों की मिलावट का युग कहते हैं, और उस कालखण्ड में आए परिवर्तनों को रेखांकित करते हैं। चंदेलों का काल, तोमरकाल, बुन्देलकाल, पुनरुत्थान काल से गुजरता हुआ बुन्देली इतिहास आधुनिक काल तक आता है। इस सम्पूर्ण अध्ययन में वे लोककलाओं, लोकसंस्कृति तथा लोकसाहित्य के साक्ष्यों का आश्रय लेकर लोकवादी दृष्टिकोण से विवेचन करते

हैं। उनके शोध प्रमाण-पुष्ट हैं। डॉ. श्यामसुन्दर दुबे इस बारे में कहते हैं कि 'वे लोक-संस्कृति के न केवल अध्येता हैं, अपितु उनके मन में बुन्देली लोक संस्कृति के प्रति अपनत्व का गहरा भाव भी है, इसीलिए वे कोरे सिद्धांतवादी नहीं हैं और न ही वे अपने इस तरह के लेखन के लिए केवल टेबल वर्क का सहारा लेते हैं। वे स्वयं गाँव-गाँव चलकर अपनी सामग्री को प्रथम स्रोतों से ही ग्रहण करते हैं। इन कथनों का ये अर्थ कदापि न लिया जाये कि बुन्देली के प्रति आसक्ति उनके द्वारा दी गई स्थापनाओं में उनकी पक्षधरता को व्यक्त करती होंगी। वे लोक संस्कृति की नीर-क्षीर विवेक दृष्टि से भी आपूरित हैं, इसलिए भी उनका बुन्देली मोह उनके शोध को बाधित नहीं करता है। वे ऐसे अवसरों पर स्वयं कहीं उपस्थित नहीं होते हैं, होते हैं तो उनके प्रमाण, उनके तर्क और उनके निर्दोष निष्कर्ष। उनसे यही विशेषतायें उनके लोक संस्कृति की इतिहास चेतना पर अद्वितीय कार्य करा सकी हैं।'¹⁵

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त द्वारा लिखित 'बुन्देली लोक साहित्य परम्परा और इतिहास' पुस्तक का प्रकाशन वर्ष 2001 में मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद्- भोपाल द्वारा किया गया है। यह पुस्तक बुन्देली साहित्य परम्परा को इतिहास के कालखण्डों में विन्यस्त और विश्लेषित करने का यत्न है।¹⁶ इसको गुप्त ने पाँच खण्डों में विभक्त किया है। प्रथम खण्ड 'भूमि' में बुन्देलखण्ड की सीमा व क्षेत्र को बताने के साथ गुप्त जी ने यहाँ की वाचिक परम्परा को प्रस्तुत किया है। इसी अध्याय में कालनिर्धारण के आधारों पर बात करते हुए भाषा-रूप, कथानक रूढ़ियों, ऐतिहासिक वस्तु, कथा एवं पात्रों, लोक प्रसिद्ध घटनाओं व पात्रों के साथ तत्कालीन लोकसंस्कृति को महत्वपूर्ण सिद्ध किया है। लोकसाहित्य का इतिहास लेखन व उसका वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय खण्ड 'दृष्टि' ने लोकसाहित्य और लोक शास्त्र, इतिहास, लोक संस्कृति, राष्ट्रीय साहित्य, लोक कला तथा शिष्ट साहित्य के अंतर्सम्बन्धों को उद्घाटित करते हुए वर्तमान सन्दर्भों में लोक साहित्य की जरूरत प्रतिपादित की है। तृतीय खण्ड 'लोककाव्य' में ऐतिहासिकता के परिप्रेक्ष्य में उसे परखा गया है। चतुर्थ खण्ड 'लोककथा' में इसकी परम्परा तथा व्रत कथा परम्परा को एवं पंचम खण्ड 'लोकनाट्य' में इसकी परम्परा को बताते हुए बुन्देलखण्ड में रामलीला तथा लोकनाट्य स्वाँग परम्परा को विस्तार

से समझाया है। यह पुस्तक लोक संस्कृति के विविध पक्षों को समझने में दृष्टि प्रदान करती है। इसके निष्कर्षों के अनुसार 'लोक संस्कृति ही भारतीय संस्कृति की जड़ है।' उसी के रस से भारतीय संस्कृति का पौधा पल्लवित, पुष्पित और सुफलित होता है। उसी की कर्माश्रयी ऊर्जा से वह संघर्ष करती है और विजातीय तत्त्वों से सुरक्षित रखा करती है। कितनी विदेशी संस्कृतियाँ आईं और कितने आक्रामक दबाव डाले गए, लेकिन लोक संस्कृति ने अपने लोकाचरणों से उन्हें दूर कर दिया। उसकी जुझारू शक्ति चुपचाप अपना काम करती है। जरूरत है लोक संस्कृति को और अधिक अपनाने की, ताकि राष्ट्रीय अस्मिता बनी रहे और दुनिया के सभी देशों में उसकी आभा दमकती रहे। ऐसी लोकसंस्कृति को प्रकाश में लाने का माध्यम है लोक साहित्य, वह लोकसाहित्य जो संघर्षधर्मी ऊर्जा से परिपूर्ण है।¹⁷

डॉ. गुप्त द्वारा लिखित पुस्तक 'बुन्देली संस्कृति और साहित्य' में पाँच अध्याय हैं, जिसमें प्रथम 'बुन्देलखण्ड और बुन्देली' में सीमा क्षेत्र, काल-विभाजन के साथ बुन्देली संस्कृति और साहित्य के अन्तर्सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है। अन्य तीन अध्यायों में चंदेलकालीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक कालीन संस्कृति और साहित्य पर तत्कालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में प्रकाश डाला है। इन्होंने इस पुस्तक में लोकगीतों को आधार बनाकर संस्कृति और साहित्य के सहसम्बन्धों पर प्रकाश डाला है। वे मानते हैं कि 'लोक के बदलाव से लोकसंस्कृति में परिवर्तन होता है। यह बात अलग है कि परिवर्तन स्पष्ट लक्षित नहीं होता। लोकगीतों में यह परिवर्तन साफ दिखाई पड़ता है, जबकि गद्य यानि लोककथाओं और लोकनाट्यों में कुछ अस्पष्ट सा रहता है। लोककलाओं में केवल प्रस्तर मूर्तिकला में परिवर्तन का प्रभाव लक्षित होता है। शेष में परम्परा की जड़ इतनी गहरी होती है कि बदलाव का उतना प्रभाव नहीं मालूम पड़ता।'¹⁸ गुप्त जी ने पुस्तक में अपनी मान्यताओं और प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि आज जो बुन्देली संस्कृति है, उसमें काल की महत्वपूर्ण छापें अंकित हैं।

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने बुन्देली लोक कलाओं पर अपने आलेखों में भरपूर लिखा है। उन्होंने चित्रकला, नृत्य, संगीत, नाट्य तथा वास्तुकला के साथ लोक कलाकारों को भी आगे बढ़ाने का भरपूर प्रयत्न किया है। इसका एक उदाहरण है-

धमनागाँव का मृण्मूर्तिकार श्री बालचन्द्र कुम्हार। इनकी कला को आलेखों के माध्यम से सभी को परिचित कराया तथा बाद में उसे महत्त्व दिलाने के भरपूर प्रयत्न किए। इस तरह के अनेक गायक, नर्तक व अन्य विधाओं के कलाकार उनके सतत् सम्पर्क में रहे हैं। गुप्त जी ने 'बुन्देली लोक कलाओं की आत्मिक ऊर्जा और शक्ति को पहचानकर उन्हें विश्व की लोक संस्कृतिक के सम्मुख कसौटी के साथ रखा है।'¹⁹

लोक साहित्य की आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने पूर्व से व्याप्त पश्चिमी मापदण्डों को खारिज करते हुए ठेठ देशी मापदण्डों की स्थापना की और उन मापदण्डों पर ही स्वयं व्यावहारिक आलोचनायें लिखीं। 'लोक' से तात्पर्य उस लोक मानस या लोकप्रवृत्ति से लेते हैं, जो सहज और प्रकृत मानसिक वृत्तियों की पूंजीभूत इकाई का रूप होता है। उनका मानना है कि लोकसाहित्य की परख के लिए लोक की समझ जरूरी है और लोक की सही समझ के लिए आवश्यक है लोकत्व का ज्ञान। डॉ. गुप्त ने लोकत्व के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक, दोनों पक्षों के साथ ही लोकपुरुष रूपक, लोक की एकता, लोक में परिवर्तन, लोकानुभूति, लोक सृजन आदि प्रमुख तत्त्वों की व्याख्या एवं लोकत्व और शास्त्रीयता की पारम्परिक अंतर्क्रिया में विकास का शोधपूर्ण विवरण प्रस्तुत कर मौलिक तथ्यों को उजागर किया है। उदाहरणार्थ देखें- 'वस्तुतः लोकोपयोगी और लोकमान्य ही शास्त्रीय बन जाता है और शास्त्रीय लोकोपयोगी न होकर जब रूढ़ि बन जाता है और अपनी अस्मिता खो देता है, तब उसी की खाद से लोकत्व पनपता है।'²⁰ इस तरह हम पाते हैं कि डॉ. गुप्त लोकसाहित्य की सैद्धांतिक व्याख्या तथा समीक्षा के लिए लोक के प्रति पूरी आस्था और विश्वास भरी मानसिकता के आलोचक हैं, इसलिए इनके अत्यधिक निकट रहे, सहकर्मी डॉ. हरिसिंह घोष उन्हें बुन्देली लोकसाहित्य आलोचना का आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मानते हैं।²¹

इस तरह हम देखते हैं कि डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने न केवल बुन्देली लोक साहित्य के लिए आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया, बल्कि उन्होंने प्रत्येक अंचल के लोक साहित्य को पूर्णतः भारतीय दृष्टिकोण से देखने का आधार हम सबको प्रदत्त किया है। आज विषमता भरे समाज में मानव, मानसिक रूप से कुंठित, निराश और अनास्थावान होता जा रहा है। वह भौतिकतावादी सुविधाओं को अपनाकर उन्हें छोड़ना नहीं चाहता और उनसे

उकता भी गया है। वैज्ञानिक युग की बौद्धिकता ने भावुकता प्रधान प्रवृत्तियों को पीछे धकेल दिया है। ऐसे परिवेश में लोक संस्कृति व साहित्य में पनपने वाले लोकधर्म में डॉ. गुप्त को आशा की किरण दिखाई देती है। वे लिखते हैं- 'लोकधर्म में न तो कोई मतवाद है और न कोई कट्टर आग्रह। वह कर्मकाण्ड व पाखण्ड की खिलाफत करता है और करनी को ही कथनी का आधार मानता है। हर युग में लोक बदलता है, पर उतना ही जितना और जिस रूप में वह लोक के लिए उपयोगी है... इस स्थिति में स्पष्ट है कि वह निश्चित ही नये मानवीय मूल्यों का सहारा लेगा और व्यापक मानव धर्म के रूप में प्रतिष्ठित होकर नयी दिशा देगा।²² डॉ. गुप्त का विश्वास था कि यदि स्थानीयता को विगलित कर, लोकसंस्कृति के जातीय रूप को इतना व्यापक बनाया जाए कि वह विश्व की लोक संस्कृति बन सके, तो निश्चित ही वह विश्वव्यापी लोक चेतना या लोकसंस्कृति विश्व

के कल्याण और शांति के लिए सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध होगी। आज के अशांत मन को यदि शांति चाहिए तो उसे लोक संस्कृति को व्यापक अर्थ- रूप देकर अपनाना होगा। इस सम्बन्ध में डॉ. गुप्त का यह कथन महत्वपूर्ण है कि 'इतिहास गवाह है कि लोक संस्कृति कभी शुद्ध नहीं रही, वह दूसरी संस्कृतियों के तत्त्वों को पचाकर मिश्रित रूप में विशद और व्यापक होती गई, अतएव संहारक और अशांत स्थितियों में यदि कोई तटस्थ अहिंसक उपचार सम्भव है, तो वह है लोक संस्कृति का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापीकरण या विश्व लोकसंस्कृति की व्यावहारिक संरचना।²³

ऐसी महान् अवधारणायें देने वाले डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने आजीवन बुन्देली लोक साहित्य की सेवा करते हुए उसे व्यापक मानवीय दृष्टिकोण से देखा, परखा व निष्कर्ष निकाले। इन्हें हम आधुनिक बुन्देली लोक साहित्य अध्येता का पर्याय ही मान सकते हैं।

संदर्भ

1. एवं 2. बुन्देलखण्ड की लोकसंस्कृति का इतिहास- डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृष्ठ 9-10
3. एवं 4. चौमासा-अंक 40, सम्पादक- कपिल तिवारी, पृ. 85-5
5. इतिहास और लोक साक्ष्य-डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ.15-16
6. डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त के ऐतिहासिक उपन्यास आल्हा का अनुशीलन -श्री नीरज साहू 'विशाल' के लघुशोध प्रबन्ध से
7. इतिहास और लोक साक्ष्य- डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ. 17
8. चंदेलकालीन महाकाव्य आल्हा : प्रामाणिक पाठ - डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ. 60
9. मामुलिया, लोककवि ईसुरी विशेषांक वर्ष -3, अंक 11, 12 पृ. 34
10. ईसुरी की प्रामाणिक फागें, सम्पादक- डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ. 29, 30
11. लोक : परम्परा, पहचान एवं प्रवाह- डॉ. श्यामसुंदर दुबे, पृ. 92
12. बुन्देली लोक संस्कृति- सं. डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ. 6
13. इतिहास और लोक साक्ष्य- डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ. 9
- 14-15. लोक संस्कृति की सैद्धांतिक व्याख्या और इतिहास लेखन में डॉ. गुप्त का अवदान लेख- डॉ. श्यामसुंदर दुबे
- 16-17. बुन्देली लोक साहित्य, परम्परा और इतिहास- डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ. 7- 68
18. बुन्देली संस्कृति और साहित्य- डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ. 13
19. डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त : बुन्देली लोक कलाओं के बहाने-वसंत निरगुणे आलेख से पृ.2
20. लोक की अवधारणा और लोक सृजन-डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, चौमासा, अंक- 36 पृ. 5
21. लोक साहित्य की व्याख्या और विश्लेषण में प्रो. नर्मदा प्रसाद गुप्त का योगदान-डॉ. हरिसिंह घोष पृ. 9
22. लोकधर्म और बुन्देलखण्ड- डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, चौमासा, अंक 16, फरवरी-88
23. लोक संस्कृति में व्यापीकरण की जरूरत- डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, चौमासा अंक 13, पृ. 4-5

महाकाव्य आल्हा का सांस्कृतिक विश्लेषण

डॉ. (श्रीमती) गायत्री वाजपेयी

बुन्देली लोक साहित्य एवं लोक संस्कृति के गहन अध्येता डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त सृजन एवं शोध की नूतन शैली के उन्नायक के रूप में प्रख्यात हैं। उनका व्यक्तित्व बहुआयामी है और सृजन क्षेत्र व्यापक है। वे एक ऐसे लोकधर्मी रचनाकार हैं, जिन्होंने एक कवि के रूप में प्रचुर मात्रा में गीत, मुक्तक, गद्यगीत, फागें एवं चौकड़ियां लिखीं, तो एक गद्यकार के रूप में नाटक, उपन्यास, कहानी एवं निबन्धों का प्रणयन किया। बुन्देली लोक संस्कृति, लोक साहित्य एवं लोककलाओं पर उन्होंने प्रचुर साहित्य की रचना की, जो 'बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति के साहित्य का इतिहास', 'बुन्देली लोक साहित्य परम्परा और इतिहास', 'बुन्देली संस्कृति और साहित्य', 'इतिहास और लोकसाक्ष्य' तथा आजादी के गायक हरबोले आदि शीर्षक से पुस्तककार रूप में प्रकाशित हो मील का पत्थर साबित हो रहा है। गुप्त जी ने जो भी लिखा, उसकी पूर्ण जाँच-पड़ताल की। बुन्देली लोकांचल में फैले लोकसाहित्य के संचयन हेतु उन्होंने बुन्देलखण्ड के कंकरीले-पथरीले ग्रामांचलों में विचरण किया। ग्राम्यजनों से व्यक्तिशः साक्षात्कार कर साक्ष्य एकत्रित किए। उनका मानना था कि- 'लोकसाक्ष्य किसी भी अंचल के इतिहास लेखन में सहायक होता है। संस्कृति का इतिहास लोक साक्ष्यों की अनुपस्थिति में नहीं लिखा जा सकता। जन-जन या लोक संस्कृति और इतिहास ही सही इतिहास है और वह लोक साक्ष्यों के बिना अपूर्ण है।' एक संदेवनशील अनुसंधानकर्ता की भाँति गुप्त जी ने लोकगाथाओं, लोककथाओं, लोकगीतों, लोकनाट्यों एवं अनेक ज्ञात व अज्ञात रचनाकारों की रचनाओं का गहन अध्ययन एवं अन्वेषण किया और नवीन मानदण्डों की प्रतिस्थापना की तथा संकलित सामग्री का शुद्ध पाठ निर्धारण कर उनके सम्पादन का श्रम साध्य कार्य किया। उनके द्वारा सम्पादित पुस्तकों में 'बुन्देली फाग एक मूल्यांकन', 'आल्हाखण्ड शोध और समीक्षा', 'लोककवि ईसुरी और उनका साहित्य', मध्यदेशीय

लोक संस्कृति', 'राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त की साहित्य साधना', 'ईसुरी की प्रामाणिक फागें' एवं 'चन्देल कालीन लोक महाकाव्य आल्हा का प्रामाणिक पाठ' प्रमुख हैं।

मेरे विचार से गुप्त जी ने 'जननी जन्म भूमिश्च ग्वर्गादपि गरीयसी' के भाव को आत्मसात कर अपनी जन्म स्थली महोबा के इतिहास एवं ऐतिहासिक पात्रों पर सर्वाधिक शोधकार्य किया है। बुन्देलखण्ड के महानायक आल्हा के चरित्र पर उन्होंने 'आल्हा' उपन्यास लिखा तथा मानव मन में ऊर्जा, उत्साह एवं स्फूर्ति का संचरण करने वाले जगनिक कृत 'आल्हा खण्ड' के शुद्ध पाठ निर्धारण का गुरुतर कार्य किया। उनका मानना था कि 'अखण्ड भारतीयता का सांस्कृतिक पुनरुत्थान यदि सम्भव है तो भारतीय इतिहास के उज्ज्वल इतिहास से सम्बन्धी कथाओं को प्रदर्शित करना होगा।... अपने समृद्ध पुरातत्व ज्ञान के बल पर उन्होंने चन्देलकालीन भारतीय संस्कृति के अवयवों को बड़ी सुन्दरता से जोड़कर उनमें प्राण का संचार किया है।'²

महाकवि जगनिक द्वारा रचित 'आल्हाखण्ड' की मूल प्रति अनुपलब्ध है। यद्यपि प्राप्त पाठों के आधार पर इसका रचनाकाल सं. 1182 ई. के मध्य निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। जो आदिकाल की समय सीमा के अन्तर्गत आता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने इस ग्रन्थ उल्लेख करते हुए लिखा है- 'कालिंजर के राजा परमार के यहाँ जगनिक नाम के भाट थे, जिन्होंने महोबे के दो प्रसिद्ध वीरों-आल्हा और ऊदल (उदयसिंह) के वीरचरित का विस्तृत वर्णन एक वीरगीतात्मक काव्य के रूप में लिखा था। जो इतना लोकप्रिय हुआ कि उसके वीरगीतों का प्रचार क्रमशः सारे उत्तरी भारत में विशेषतः उन सब प्रदेशों में जो कन्नौज साम्राज्य के अंतर्गत थे- हो गया। जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नहीं है, पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिन्दी भाषाभाषी प्रांतों के गाँव-गाँव में सुनाई पड़ते हैं। ये गीत आल्हा के नाम से प्रसिद्ध हैं।'³

एक लम्बी समयावधि तक वीरत्व की यह लोकगाथा लोककंठ में विद्वमान रही तथा गाँवों की चौपालों में गुंजित हो जन मन में शौर्य का संचार करती रही। सर्वप्रथम सन् 1865 में फर्रुखाबाद के अंग्रेज कलेक्टर चार्ल्स इलियट ने 'आल्हा' के छंदों को संकलित कर लिपिबद्ध करने का प्रयास किया और

1871 में आल्हाखण्ड की प्रथम कृति पुस्तक के रूप में सर्वसाधारण के सामने आई, जिसकी मूल पाण्डुलिपि 'ब्रिटिश इंडिया म्यूजियम' लंदन में संरक्षित है। इसके बाद फतेहगढ़, कानपुर एवं फर्रुखाबाद आदि स्थानों से इस ग्रन्थ के अनेक संस्करण निकले। तदनंतर इसकी लोकप्रियता बढ़ती गई और अनेक कवियों ने अपने-अपने नामों से आल्हाखण्ड के संस्करण छपवाये। आज लोक भाषाओं में इसकी कई वर्णनाएँ प्राप्त होती हैं। जैसा कि गुप्त जी ने अपनी पुस्तक 'इतिहास और लोकसाक्ष्य' में लिखा है - 'आल्हा की मूलगाथा भले ही बनाफरी बुन्देली में हो, लेकिन जहाँ उसकी बुन्देली में कई वर्णनाएँ हैं, वहाँ बैसवाड़ी, कन्नौजी, अवधी, भोजपुरी, बघेली, भदावरी, ब्रज, कौरवी आदि विभिन्न लोक भाषाओं में अलग-अलग वर्णनाओं की श्रृंखला है। उनमें हर जनपद के भाषायी मुहावरों के साथ लोक संस्कृति और लोक चेतना इतनी घुलमिल गई है कि वह उस लोक की अपनी गाथा बन गयी है। लोक में उसे इतना अपनाया है कि हर गाँव में आल्हा का गायन एक अमिट संस्कार की तरह प्रतिष्ठित हो गया है।... ऐसी राष्ट्रीय लोकगाथा परम्परा, उसके स्वरूप और लोक गायिकी को समझना ऐसे समय में बहुत जरूरी है, जब हमारी संस्कृति पर हर तरफ से बाहरी आक्रमण हो रहे हों। हमारी अस्मिता को खतरा पैदा हो गया हो।'⁴

गुप्त जी ने इस लोक महाकाव्य के प्रत्येक पक्ष पर गहन शोध किया और अनेक लेख लिखे। इस ग्रन्थ के शुद्ध पाठ निर्धारण हेतु उन्होंने मूलकथा के चयन, कथा प्रसंगों की ऐतिहासिकता एवं भाषा आदि पर विशेष बल दिया। जहाँ कहीं उन्हें ऐसा लगा कि कोई घटना या प्रसंग ऐतिहासिक आधार पर खरा नहीं उतरता, उसे उन्होंने मूल कथा से पृथक कर दिया। जैसे - 'पृथ्वीराज चौहान की सुपुत्री बेला सम्बन्धी प्रसंग इतिहास और संस्कृति के विरुद्ध हैं और द्वेष भाव से जन्में हैं, इस कारण उन्हें मूलकथा का अंग मानना उचित नहीं है।'⁵ उन्होंने 'आल्हाखण्ड' में वर्णित अनेक स्थानों की यात्राएँ की। कई वर्षों के अथक श्रम के पश्चात् गुप्त जी का श्रम साकार हो 2001 में मध्यप्रदेश आदिवासी लोककला परिषद्, भोपाल के सौजन्य से 'चन्देलकालीन लोक महाकाव्य आल्हा का प्रामाणिक पाठ' के रूप में साहित्य जगत के सामने आया। इस ग्रन्थ के लोक सांस्कृतिक पक्ष पर विचार करना ही यहाँ मेरा अभीष्ट है।

लोककवि जगनिक द्वारा विरचित एवं डॉ. गुप्त द्वारा सम्पादित इस लोक महाकाव्य में प्रचुर मात्रा में लोकतत्वों का समावेश देखने को मिलता है। इस लोक महाकाव्य 'आल्हा' का कथानक लोक ख्यात वीर आल्हा, ऊदल, मलखान एवं इंदल के जीवनवृत्त तथा उनसे सम्बन्धित अनेक छोटी-बड़ी घटनाओं पर आधारित है। कथा का नायक आल्हा एक इतिहास पुरुष है तथा कथानक की अधिकांश घटनाएँ इतिहास की कसौटी पर खरी उतरती हैं। कुछ घटनाएँ काल्पनिक हैं। वैसे 'आल्हा' की समस्त घटनाएँ आल्हा-ऊदल के जीवन चरित्र से सम्बद्ध हैं। इसमें चरित्र की प्रधानता है, किन्तु चरित्र विकास हेतु कथानक के गठन एवं विकास में कल्पना का सुन्दर प्रयोग करते हुए अनेक कथानक रूढ़ियों का समावेश किया गया है। गुप्त जी द्वारा सम्पादित ग्रन्थ में इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख इन शब्दों में हुआ है- 'प्रत्येक युग के कथानक अपनी कुछ निश्चित कथानक रूढ़ियों के अवलम्बन से गतिशील रहते हैं और जब युग बदलता है, तब नये अभिप्राय खड़े हो जाते हैं। आदिकाल के वीररस परक रासों प्रबन्धों में जिन अभिप्रायों का प्रयोग हुआ है, वही आल्हा गाथाओं में भी ग्रहण किए गए हैं। आल्हा की कथानक रूढ़ियों या अभिप्रायों का अध्ययन और उनकी तत्कालीन रासों ग्रन्थों के अभिप्रायों से तुलना द्वारा यह स्पष्ट है कि आल्हा गाथाएँ आदिकालीन रचनाएँ हैं। समकालीन रासो ग्रन्थों की कथानक रूढ़ियों के आधार पर आल्हा गाथाओं का पाठ निर्धारण करने में सुविधा होगी।¹⁶

ऐसे ही ऐतिहासिक कृतियों के सम्बन्ध में श्री रवीन्द्र भ्रमर का मानना है- 'ऐसी ही ऐतिहासिक कही जाने वाली कहानियाँ अपने मूल रूप में उतनी ही लोकाकर्षण और काल्पनिक होती हैं, जितनी सामान्य जन-जीवन की अन्य लोककथाएँ। इनमें केवल ऐतिहासिक व्यक्तियों का नाम भर रहता है। इन नामों को लेकर लोककण्ठ इन्हें कल्पनागत एवं परम्परागत कथानक रूढ़ियों में (मोटिव) ढाल देता है।¹⁷

'आल्हा' काव्य वीरकाव्य है, लोककाव्य और ऋतु काव्य है, जिसे लोक जीवन में अप्रतिम लोकप्रियता प्राप्त हुई है इसमें भले ही उच्चकोटि का कलात्मक सौन्दर्य, भाषा सौष्ठव एवं अलंकारिक चमत्कार न हो, परन्तु लोकरंजन की दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट काव्य है। आषाढ़ गर्जना और सावन की रोमांचित

कर देने वाली रिमझिम फुहार के साथ सजती हैं चौपाले और गूँजन लगेते हैं आल्हा के तनमन में स्फूर्ति जगा देने वाले मधुर स्वर। जिसका संकेत करते हुए डॉ. शिव कुमार शर्मा लिखते हैं- 'जगनिक की हृदयस्पर्शी भावधारा अजस्र गति से प्रवाहित होकर आज तक रसिकों के मन को आप्लावित करती आयी है। कवि के लिए यह कम महत्त्व की बात नहीं है। 'आल्हा खण्ड' आज भी वर्षाऋतु में गाया जाता है। इन गीतों को आल्हा रासो भी कहा जाता है, क्योंकि उस समय गेय साहित्य को रासो की संज्ञा से अभिहित किया जाता था।¹⁸

लोक महाकाव्य आल्हा दीर्घ काल तक लोकमुख में सुरक्षित रहा है। अतः उसमें अनेक कथानक रूढ़ियों का समावेश दृष्टिगत होता है। जैसे देवी-देवताओं से बल-वृद्धि तथा विद्या प्राप्ति प्रार्थना। 'आल्हाकाव्य' में कवि प्रारम्भ में ही माँ सरस्वती, हनुमान, गणपति, ग्राम देवता, माँ शारदा आदि का स्तवन करता है-

साखी - कंठ माँ बैठो अब कंठेसुर, भुजा पै छाया करो हनुमान।
गौरी के लरका गन नायक तुम, दे ही माँ वीर जगादेव आन ॥
सैरा - मनियाँ देवता गढ़ महुबे के, रच्छा करै चन्देले क्यार।
नगर महोबा कासी हुइगा, गंगा भयो किरतुआ ताल ॥
देवी सारदा मैहर बारी, कालिप देव कालपी क्यार।
तुम खँ सुमरौ अपने राग माँ, मोरे बाने के राखल्या लाज ॥⁹

सन्देश सम्प्रेषण हेतु भी कथानक रूढ़ियों का अवलम्ब किया गया है। 'आल्हा काव्य' के नायक आल्हा की वीरता का बखान सुनवाँ जब अपनी सखी से सुनती है तो आल्हा के प्रति अनुरक्त हो उससे विवाह का दृढ़ संकल्प करती है। तथा हीरामन तोते के माध्यम से आल्हा को पत्र भिजवाती है-

महलन पहुँची पिंजरा मँगाओं हीरामन से कही सुनाय।
तुमखाँ बारे से पालो तो, इतनी मेवा दई खवाय ॥
काज परेपै तुम्हें बुलाओ, सो सँकरे में होय सहाय।
सुअना तुम महुबे मां जाँके, आल्हे इतनी देव बताय ॥
हीरामन सुनवाँ से बोलो, हमको पाती देव लिखाय।
अबही जैहों नगर महोबे, आल्हे पाती दैहों जाय ॥¹⁰

इसी प्रकार मछला भी अपने विवाह का सन्देश महोबा भेजने के लिए सुआ का सहयोग लेती है। चन्द्रावलि हीरामन तोते

के कंठ में पत्र बाँधकर ऊदल की स्थिति की सूचना महोबा पहुँचाती है, तो महारानी मल्हना देवी सुआ के द्वारा पत्र भेजकर अपनी बेटी चन्द्रवलि को सम्बोधित करती है। 'आल्हाकाव्य' में पशु-पक्षियों का संदेश वाहक के रूप में तो उपयोग हुआ ही है। कई स्थलों पर गुप्तचर के रूप मालिन, नाइन आदि से भी सहयोग लिया गया है। ऊदल द्वारा नैनागढ़ की राजकुमारी सुनवाँ के पास अपने आगमन की सूचना देने हेतु मालिन को सन्देश वाहक बनाकर भेजा गया है-

बोलो ऊदल तब मालिन से, तुहि गंगा सौ देऊँ धराय।
चरचा चालिब न नैनागढ़, आओ जस्स राज का लाल ॥
जाय बतादेव सुनवाँ कुँवरि से, बगिया बंधो बैदुला हवाड़।
मालिन पौँची सुनवाँ के ढिग, दोनऊँ हाथ जोर में ठाँड़ ॥¹¹

लोक गाथाओं में किसी ऐसे सिद्ध पुरुषों की सिद्धि का भी वर्णन होता है, जो अपनी सिद्धि के बल से क्षणभर में चमत्कृत करने वाले इच्छित कार्य कर देते हैं। मांडौगढ़ की लड़ाई में राजा जम्बे द्वारा सहजो जोगिन की मदद माँगना और सहजो द्वारा अपने सिद्धिबल से ऊदल को भेड़ बनाकर गुरू झिलमिला की बगिया में बाँधना आदि ऐसे ही चमत्कृत करने वाले प्रसंग हैं-

सहजो जोगिन खाँ बुलबाओ, अब तुम मोरी करो सहाय।
× × × ×
बोली सहजो अब जम्बे से, राजा चिंता देव नसाय ॥
करकै जादू मैं ऊदल खाँ, रखिहों झारखण्ड में जाय ॥
इतनो कहकैँ सहजौ चलिभै, पौँची सेना के मध जाय ॥¹²

कथानक रूढ़ियों में किसी अद्भुत प्रदेश का भी वर्णन सम्मिलित है, जिसमें सभी कुछ विचित्र होता है। प्रायः ऐसे प्रदेश में पहुँचकर नायक या उसके साथी उस प्रदेश के अद्भुत क्रियाकलाप को देखकर आश्चर्य चकित रह जाते हैं। लोककाव्य आल्हा में इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं। जैसे मांडौगढ़ में बरगद के पेड़ पर टंगी जस्सराज और बच्छराज की खोपड़ी की आभा का बोलना, नैनागढ़ में सूखी हड्डियों का चिल्लाना, बूँदीगढ़ में अंधकूप का होना आदि ऐसे ही वर्णन हैं-

टाँगी खुपड़ियाँ या बरगद मां आभा बोलै औरहि जाय।
आधी रात के बोलो करत है, लै लै आल्हा ऊदल कौ नाँव ॥¹³

लोक गाथाओं में प्रायः नायक-नायिकाओं के परस्पर चित्रदर्शन, गुणश्रवण, गुण कथन, वस्तुदर्शन आदि से उत्पन्न प्रेम एवं वियोग आदि के वर्णन भी कथानक रूढ़ि के रूप में प्राप्त होते हैं। लोक काव्य आल्हा में इस प्रकार के वर्णन प्रचुरता में प्राप्त होते हैं। सुनवाँ का आल्हा के शौर्य का बखान सुन विवाह की प्रतिज्ञा करना, मांडौगढ़ की राजकुमारी बिरमा का ऊदल से विवाह हेतु फुलवा के रूप में पुनर्जन्म लेना आदि प्रसंग ऐसे ही हैं-

अबै की बिछुरी कब तुम मिलिहौ, साँची हमें देव बतलाय।
अबै की बिछुरी नरबर मिलबै, फुलवा पड़है नाम हमार ॥
घोड़ा खरीदन काबुल जइहौ, तब फिर हुइहै भेंट हमार ॥¹⁴

कथानक रूढ़ियों में नायक का योगी वेशधारण कर बड़ी चतुराई से शत्रुपक्ष के सभी रहस्य जान लेना, योगीवेश में नायिका से मिलना आदि प्रसंग आते हैं। 'आल्हाखण्ड' में आल्हा-ऊदल योगीवेश में ही मांडौगढ़ का सारा रहस्य जान लेते हैं तथा उसे ध्वस्त कर अपना लेते हैं। ऐसे ही बौरीगढ़ की लड़ाई में मलखान के विवाह में और इंदल की खोज में आल्हा-ऊदल योगी बनकर ही अपना सारा काम बना लेते हैं। कजली के युद्ध में भी अपने को परमाल से छिपाये रखने के लिए लाखन और ऊदल योगीवेश धारण करते हैं। लोक महाकाव्य 'आल्हा' में अनेक प्रकार के योगियों का स्तवन किया गया है। ऊदल का नरवरगढ़ की राजकुमारी फुलवा से विवाह हेतु योगीवेश धारण करना एवं राजा नरपति एवं राजकुमार मकरंद सहित सभासदों का मोहित हो उनकी अभ्यर्थना करना आदि प्रसंग इसी प्रकार के हैं-

नरपत राजा के महलन मौ, दोनऊँ संत पहुँचगे जाय।
नरपत मोहे मकरंद मोहे, मोह गयो सारा दरबार ॥
हाथ जोर के मकरंद बोलो, बाबा परमहँस महाराज।
सेवा करिहौ जो बाँछा होय, सो तुम हमसे देव बताय ॥¹⁵

कथानक रूढ़ियों के अन्तर्गत देवी-देवताओं के आशीर्वाद एवं चमत्कार आदि से इच्छित कार्य का सम्पन्न होना आदि भी आते हैं। 'आल्हा' काव्य में वर्णित लगभग सभी लड़ाईयों जैसे मांडौगढ़ की लड़ाई, नैनागढ़ की लड़ाई, बौरीगढ़ की लड़ाई, नरबरगढ़ की लड़ाई, बलख बुखरा की लड़ाई, बूँदीगढ़ की

लड़ाई, गाँजर की लड़ाई, सिरसा की लड़ाई, कीरत सागर की लड़ाई, बैरागढ़ की लड़ाई तथा दिल्ली की लड़ाई में जादू-जादूगरिनियों तथा दैवी चमत्कारों का उल्लेख हुआ है। उदाहरणार्थ मांडौगढ़ में सहजो जादू चलाती है तो नरवरगढ़ व बौरीगढ़ में मालिन जादू चलाती है। मलखान के विवाह में श्यामा भगतिन जादू की पुड़िया छोड़ती है, तो इंदल के रूप पर मुग्ध हो चित्रलेखा केसर नटनी के मदद से इंदल को तोता बना लेती है। यथा-

लैकें पुड़िया भैंरो वाली, केसर नटनी दीन चलाय।
पढ़ि-पढ़ि सरसों नटनी मारे, इंदल लोटपोट हुइ जाय।।
सुआ बना कै इंदल कुँवर खाँ, निज पिंजरा मां लयो
बिठाय।¹⁶

इसी प्रकार नैनागढ़ में इन्द्र प्रदत्त अमर ढोल द्वारा मृत सैनिकों को जीवित होते दिखाया गया है-

अमर ढोल रयै राजा कै, राजा इंदर को वरदान।
जबहि जोधा गिरे धरनि माँ, अमर ढोल देव बजवाय।।
कान परत सुर खन मां जीवै, समुहै लड़ै तुम्हारे साथ।¹⁷

पथरीगढ़ के राजा के पास अगनिया घोड़ा है। वह जिस ओर पूँछ घुमाता है, आग लग जाती है। इसी तरह आल्हा-ऊदल के पास उड़ने वाले घोड़े हैं। नरवरगढ़ में तो काठ का घोड़ा, शैल शनीचर और अजीत बाण तीन-तीन दैवी शक्तियाँ हैं-

सेल्ह सनीचर बान अजीता, काठ का घोड़ा भरै उड़ान।
हिरिया मालिन का जादू रयै, मानुष पाथर देय बनाय।।¹⁸

इसी प्रकार आल्हा के कथा प्रसंगों में देवी-देवता अपने भक्तों पर कृपा हेतु प्रत्यक्ष प्रकट होते दिखाई देते हैं। कजली की लड़ाई में महारानी मल्हना के स्तवन पर माँ शारदा का ऊदल को स्वप्न देना तथा बेला के आभूषण लेने हेतु देवी का इन्द्रलोक गमन तथा मछला हरण में पथरिया कोट से कनवज जाकर पहले मछला के जादू को कीलना, फिर उसे पलंग सहित पथरिया कोट उठा लाना एवं नरवरगढ़ की लड़ाई में विजय हेतु इंदल की देवी माँ से प्रार्थना तथा देवी का इंदल को विजय का वरदान देना आदि असम्भाव्य दैवी चमत्कार हैं-

आभा बोली तब देवी की, अपनो कारज देव बताय।
हाथ जोर कै इंदल बोलो, नरवर दीजै विजय कराय।।
एवमस्तु देवी कह दीनो, तौरी विजै हुये दरबार।¹⁹

इसके साथ ही नायिकाओं के सौन्दर्य से आकृष्ट हो युद्ध करने की प्रवृत्ति भी लोकगाथाओं में कथानक रूढ़ि के रूप में दिखलाई पड़ती है। 'आल्हा' काव्य की कुछेक लड़ाईयाँ इसी आधार भूमि पर हुई हैं। नरवरगढ़ की लड़ाई तो फुलवा द्वारा ऊदल को अपना पति स्वीकार करने के कारण होती है, तो नैनागढ़ की लड़ाई भी सुनवाँ के आल्हा के प्रति आकर्षक के कारण होती है।

विवाह का हठ भी एक कथानक रूढ़ि के रूप में दृष्टिगत होता है। सुनवाँ, फुलवा, गजमोतिन, चित्रलेखा आदि ऐसे ही पात्र हैं, जिनके मन में विवाह संस्कार को लेकर बड़ी व्यग्रता है, क्योंकि सभी संग सहेलियों के विवाह हो गये हैं-

मोरे संगनी की जितनी सखियाँ, उन सबको हो गयो बिआव।
तानो मारे देख देख कै, हमसौ करै हँसुआ आय।।
क्या कुल हीने बाप तुम्हारे, अब तक काय न भयो बिआव।²⁰

इसके अतिरिक्त अनेक कथानक रूढ़ियों जैसे हर लड़ाई में माहिल का खलनायक रूप में उभारना, वीरों को खंदक में डालना और राजकुमारी का उनसे मिलने जाना आदि मूल कथानक में मिल गए हैं। इसके साथ ही प्रेमिका के प्रेम में दीवाना हो नायक का उससे मिलने की कोशिश करना तथा नायिका के सौन्दर्य से प्रभावित होकर अपने कर्तव्य को विस्मृत कर योगी बनना आदि।

लोक महाकाव्य 'आल्हा' में कथानक रूढ़ियों और वर्णनाओं का पर्याप्त पिष्ट पेषण भी देखने को मिलता है। सभी लड़ाईयों में, लोक कथाओं में प्रयुक्त कथानक रूढ़ियों का भरपूर प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त कतिपय लोकोत्सवों का भी वर्णन मिलता है। लोकोत्सवों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक व्रत और दूसरा त्योहार। त्योहारों में कजरियाँ खोटने का विशेष रूप से 'आल्हा' में वर्णन मिलता है-

नीकी कजरियागढ़ महुबे की, द्याखे खौं चढ़ आओ चौहान।²¹

इसी प्रकार लोक विश्वासों का वर्णन प्रचुर रूप में 'आल्हा' में मिलता है। लोकविश्वासों में शगुन-अपशगुन, यात्रा विचार देवी-देवता की पूजा-अर्चना तथा लोकमान्यताएँ आदि आते हैं। आल्हा में युद्धादि के लिए प्रस्थान करते समय ज्योतिष के प्रति अटूट विश्वास प्रकट किया गया है। जैसे आल्हा के विवाह हेतु नैनागढ़ प्रस्थान से पूर्व शुभ मुहूर्त विचारने हेतु ज्योतिषी को बुलाया जाता है-

आल्है ब्याहन तब हम जैहें, जब तुम शगुन देव बतलाय।
खोल पत्रा बाँचन लागे, ओ ज्योतिष को करो विचार।।
ढेवा बोले सगुन गुनै लयो, तुम्हरो काज सिद्ध हो जाय।
पंडित पुरोहित को बुलवा कैं, तुरतै लगन लेव धरवाय।।²²

यात्रा के समय शगुन-अपशगुन एवं काग के मुड़े पर आकर बैठने तथा काग उड़ाने आदि के प्रसंग भी 'आल्हा' में मिलते हैं। बनाफर बन्धुओं को महोबा निर्वासन की घोषणा से पूर्व ही अनेक अपशगुन होने प्रारम्भ हो जाते हैं। महोबा नरेश परमर्दिदेव जब कालिंजर किला देखने जाते हैं, तब मार्ग में निकलते ही अपशगुन होने लगते हैं-

कालिंजर कौ मँडो लग गयौ, साँप ने रस्ता काटी आय।
मृगा दाहिने से बायें भा, आल्हा सौचे औ रहि जाय।।
होनेहार कछु भले की नाही, मोखाँ आगम परै दिखाय।²³

छींक आदि से भी शगुन-अपशगुन के विचार का वर्णन आल्हा में हुआ है। एक प्रसंग है- लाखन के विवाह का उत्सव मनाया जा रहा है। सखियों ने मंगल कलश सजाये हैं। चंदन चौक पुराया है। मंगलगान हो रहे हैं। पाँच पान का बीड़ा लगाया गया है लाखन को खिलाया जा रहा है, जिसे खाते ही छींके हो गई है, सभी स्तब्ध हो सशंकित हो उठे हैं-

बीरा खातन तुरत छींक भई, तिलका गई सनाका खाय।
असगुन हुइगो चौक मां बैठे, ऊदल टीका देउ फिराय।।²⁴

सती होने के प्रसंग भी कथानक रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। मांडौगढ़ की लड़ाई, सिरसा की लड़ाई, नदी बेतवा की लड़ाई तथा अन्य लड़ाईयों में रानियों के सती होने का बड़ा ही हृदय द्रावक वर्णन मिलता है। सिरसा के युद्ध में मलखान के

वीरगति प्राप्त करने पर रानी गजमोतिन के सती होने का वर्णन कवि ने अत्यन्त मर्मस्पर्शी ढंग से किया है-

सुनो संदेशो जा बेराँ से, मारे गये मरद मलखान।
पिरजा रोबे गढ़ सिरसा की, पर लै गति कछु कही न
जाय।।

गजमौतिन सती होबे की, चरचा फैल गई सब ओर।
लै सिंगार नार महलन मां, रच पच सुन्दर करी सम्हार।।
सत्त सम्हारो मोह बिसारो, धरके नार पति को ध्यान।
सिला करेजे रानी धरकै, अँसुवा गिर न पायो नैन।।
संग सती कन्ता के होबे, जो रयै धरम पति व्रत क्यार।।²⁵

लोक संस्कृति के सुन्दर चित्र लोकमहाकाव्य 'आल्हा' में उकेरे गये हैं। आल्हा का विवाह नैनागढ़ की राजकुमारी सुनवा से सम्पन्न हो गया है। बारात लौटकर महोबा आ गई है। नगर में मंगलाचार हो रहे हैं। भारतीय संस्कृति में वर्णित सभी लोकाचार सम्पन्न कराये जा रहे हैं। यथा-

नगर महोबे बजी बधाई, जेहि की उपमा कही न जाय।
मनिया दिवता के मंदिर मां, हाँथे लाग पवँ के द्वार।।²⁶

लोक महाकाव्य 'आल्हा' के कलापक्ष में भी सर्वत्र लोक सांस्कृतिक तत्त्वों का समावेश दृष्टिगत होता है। कथा की शैली वर्णनात्मक है। लोकोक्तियों, मुहावरों एवं नीति कथनों की सुन्दर योजना सर्वत्र दिखाई पड़ती है। उदाहरणार्थ लोहा छुअत सोन हुई जाय (पृ.75), जैसी करनी तैसी भरनी (पृ.94), गड्ढा खोदे जो काहू हो ताको काँ जे कुआँ तैयार (पृ.94), कड़िहै सात साख की नाँव (पृ. 115), कबहूँ मोरे दिन बहुरेंगे तब सोने के भाव बिकान (पृ. 265) आदि का सहज स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। कई स्थलों पर पात्रों द्वारा उपदेश दिलवाया गया है। कवि ने लोककथात्मक शैली का सर्वत्र निर्वाह किया है। श्रोताओं एवं पाठकों की जिज्ञासा वृत्ति को जाग्रत करने के लिए अद्भुत प्रसंगों की भी अवतारणा यत्र-तत्र की गई है।

लोकमहाकाव्य 'आल्हा' में प्रयुक्त छंद को छन्दशास्त्र के अनुसार वीर या आल्हा छंद ही कहा जाता है। सोलह व पन्द्रह मात्राओं की गति यति वाला यह छंद दीर्घ एवं ह्रस्व में अंत पाता है। लोकधुन में आबद्ध यह छंद गायन की दृष्टि से अत्यन्त

उपयुक्त है। इसमें मात्राओं की अपेक्षा गायन के स्वर की ही निर्भरता अधिक है। अतः छंद पिंगल शास्त्र की कसौटी पर भले ही खरा न उतरे, पर भाव एवं लय की दृष्टि से उपयुक्त है। इस छंद की गीतात्मकता और प्रवहमयता अनुपमेय है।

आल्हा की भाषा लोकभाषा है। लोककंठ पर दीर्घकाल तक रहने के कारण भाषा में एकरूपता का अभाव है। तथापि इसकी मूल भाषा बुन्देली (बनाफरी) है। तद्भव एवं देशज शब्दों का बहुतायत में प्रयोग हुआ है। जैसे लरम (कोमल), अग्याँ (आज्ञा), स्वाचै (सोचें), बाँदी (दासी), हँसाआ (उपहास), घरैया (घरवाले), दियना (दीपक), ठाँड़े (खड़े) बिन्ती (विनय), जुद्ध (युद्ध), बिंजन (व्यंजन) एवं मंडवा (मण्डप) आदि।

डॉ. हरदेव बाहरी के शब्दानुसार- 'आल्हाखण्ड' की भाषा में सबसे अधिक परिवर्तन हुए हैं, यह भी इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है। 'आल्हा' की अलंकार योजना में भी लोक सांस्कृतिक तत्त्व दर्शनीय है। उदाहरण स्वरूप अनुप्रास अलंकार की सुष्ठु योजना दृष्टव्य है- बिगड़ी बनत-बनत बन जाय (पृ.79)। इसी प्रकार वीप्सा अलंकार का चमत्कारिक प्रयोग इस पंक्ति में दर्शनीय है- टप टप टप टप टापें बोले (पृ. 79) वहीं उत्प्रेक्षा एवं उपमा अलंकार की सुन्दर छटा इन पंक्तियों में बिखरी हुई है-

पगियों गिरगे जो लोहे माँ, मानो कमल पुष्प उतराय।

ढाले गिरगै जो लोहूँ माँ, मानो कच्छप सी उतराय ॥ (पृ. 124)

पुनरुक्ति प्रकाश, रूपक एवं उदाहरण अलंकारों की योजना भी चमत्कृत करने वाली है। जैसे रूपक अलंकार का प्रयोग इन पंक्तियों में दर्शनीय है- समर सिन्धु जनु मंथन काजें, आपन आपन कला दिखाय। (पृ. 128)

'आल्हा' में वीररस प्रधान है। अतः युद्धानुकूल शब्द चयन एवं वर्ण संयोजन अपने आपमें अद्वितीय है, यथा-

खट खट खट खट तेगा, बाजै बोले छपक-छपक तलवार।
(पृ. 127)

निःसन्देह लोक ऊर्जा का अप्रतिम स्रोत यह चन्देलकालीन महाकाव्य आल्हा अनेक भौगोलिक अशुद्धियों, असंभावित कल्पनाओं एवं अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन के बाद भी एक श्रेष्ठ लोककाव्य है जो, सदियों से लोककंठ में रचा बसा है और पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होता चला आ रहा है। इसकी लोकप्रियता की ओर संकेत करते हुए कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह जी लिखते हैं- 'हिन्दी भाषा-भाषी विशाल क्षेत्र में जो लोकप्रियता जगनिक की इस रचना को प्राप्त है, वह गोस्वामी तुलसीदास के अतिरिक्त अन्य किसी कवि को सुलभ नहीं हो सकी।' समग्र सांस्कृतिक तत्त्वों से युक्त ओजगुण सम्पन्न यह कृति एक कालजयी रचना है। डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने इस कृति के शुद्ध पाठ निर्धारण का श्रमसाध्य कार्य कर अत्यंत लोकोपकारी कर्म किया है।

सन्दर्भ

1. डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, इतिहास और लोक साक्ष्य, पृ. 15, 16
2. नीरज साहू 'विशाल', नर्मदा प्रसाद गुप्त के ऐतिहासिक उपन्यास 'आल्हा' का अनुशीलन (लघुशोध प्रबंध)
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 46
4. डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, हिन्दी साहित्य का इतिहास और लोक साक्ष्य, पृ. 17
- 5-6. डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, सं.-चन्देलकालीन लोक महाकाव्य आल्हा का प्रमाणिक पाठ, पृ. 07, 60
7. डॉ. रवीन्द्र भ्रमर, पदमावत में लोकतत्त्व, पृ. 63
8. डॉ. शिवकुमार शर्मा, हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, पृ. 68
- 9-26. डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, सं.-चन्देलकालीन लोक महाकाव्य आल्हा का प्रमाणिक पाठ, पृ. 75, 112, 117, 93, 84, 95, 217, 240, 125, 221, 223 325, 341, 114, 259, 273, 326 और 134

ब्रज की झाँझी

सर्वोत्तम त्रिवेदी 'लघु'

विजय-दशमी (दशहरा) से पूर्व नवरात्र (अमावस) में दीवार पर गोबर से लीप-पोतकर, झाँझी धरी जाती है। धरी जाती का अर्थ-बनाई जाती है। सचमुच की कौड़ियों और मिट्टी से बनाई-सुखाई (वैसी ही) कौड़ियों से झाँझी बनाई जाती है।

झाँझी देवी का स्वरूप है, पार्वती का स्वरूप। इधर लोक-मान्यता यह है कि पार्वती अपने पीहर से दस दिन के लिये ससुराल श्री शंकर जी के यहाँ आई थी। इसने स्वयं ही सासरा (ससुराल) माँगा था। इसलिये माँगा था कि छोरी-छपारी (लड़कियाँ) रहना-करना अर्थात् व्यवहार सीख जायें। इस माध्यम से पार्वती उन्हें शिक्षा देती थी। स्व. जगदीश माहौर की पत्नी धनवंती जी ने यह भी बताया कि उनके पीहर दीगौट (पलवल) में चाँदी की झाँझी धरी जाती थी।

लालचंद जी की बहू संता (सोती) ने बताया- अमावस संध्या से ही थापना कर पूजा की जाती है। जल, रोली, अक्षत के बाद इन्हें जिमाते हैं। दीप जलाकर तब भोग लगाते हैं। पहले घी-बूरे की परम्परा थी, फिर जलेबी आने लगी, अब बरफी आदि भी।

तब गीत गाते थे-

झाँझी झाँझी जें लै।
क्या माँगै।
घी बूरौ।
कहाँ ते लाऊँ घी बूरौ।
बनिया कै ते घी बूरौ।।
झाँझी माँगै तेल।

कहाँ ते लाऊँ तेल।
 तेली कै ते तेल ॥
 झाँझी माँगै गहनौ।
 कहाँ ते लाऊँ गहनौ ॥
 सुनार कै ते गहनौ ॥
 झाँझी माँगै चूड़ौ।
 कहाँ ते लाऊँ चूड़ौ।
 मनहार कै ते चूड़ौ ॥
 झाँझी माँगै जूता।
 कहाँ ते

ऐसे गीत बढ़ता जाता है।

झाँझी को साँझ को ही जिमाने की परम्परा है। तब ही गीत गाते -

झाँझी की री झाँझी की।
 सीर सपूती की ॥

म्हावर तेरौ फूलै।
 भैया जी के बाग में।
 एलन-बेलन।
 माँ के जाए कुमर कन्हैया,
 भर-भर गोद लिखाए जी।
 साँस कै जाए लैंडी-पैंड़ा,



बेलन से लुढ़काए जी ॥

ऐसे भी गाती थीं-

केसू जी तुम कमल के फूल,
 जब मेरी झाँझी ऐ ब्याहवे आए।
 गाढ़ा भरकै बरफी लाए, जब मेरी झाँझी ऐ..
 धरती कौ लहँगा बनवायौ, जब मेरी...
 साँपन कौ नाडौ बनवायौ, जब मेरी...
 काँतर की मगजी लगवाई, जब मेरी...
 बीछुन के झुब्बा लगवाए, जब मेरी...
 अम्बर की चुनरी बनवाई, जब मेरी...
 तारेन के तुम फूल बनाये, जब मेरी...
 बीच में ध्रुव तारौ जड़वायौ, जब मेरी...
 गाढ़ा भर कै ऐरन लाए,
 गाढ़ा (बड़ी गाड़ी, बैलगाड़ी) भरकै नकबेसर... ॥

ऐसे गीत मनचाहा बढ़ाते-घटाते हैं।

मानते हैं कि आसमान झाँझी का सिर है। तारे बिखरे हुए बाल हैं। ऐसी भी मान्यता है कि सूरज माथे की बिंदिया, चंदा नाक का काँटा, बादल रसभरे होठ, ये सारा संसार झाँझी का पेट है। चारों दिशाओं में झाँझी के हाथ और पाताल में पैर हैं।

कामवन घेर मोहल्ले के श्री खैमा जी की पत्नी लज्जा देवी ने यह गीत भी बताया -

झाँझी के औरै ढौरै लाल मोती पाए जी।
 पाए न पवाए मैं नै सासै दिखाए जी।
 सास निपूती नै धर पत्थर पै फोड़े जी।
 फूटे न फुटाए मैं नै मइया कूँ दिखाए जी।
 मैया बिचारी नै गंगा-जमना नहवाए जी।
 जमना तौ मेरौ बाबुल कहिए, गंगा मेरी माई जी।
 सोने की लठिया बीरन कहियै,
 कमल कौ फूल भौजाई जी ॥

तब लच्छो दादी ने याद दिलाकर पूरा कराया कि -

कारे-कारे देवर कहिये, कंजरिया देरानी जी ॥

पूर्व काल के इन और ऐसे अन्य गीतों में पीहर के पक्ष के प्रति अपनत्व, उसकी बड़ाई का वर्णन तो ससुराल पक्ष की बुराई

कर मन की भड़ास निकालने का अवसर स्पष्ट दिखता है।

कई उपस्थित हो चली पड़ौसियों के सहयोग से यह गीत भी उभर कर आया-

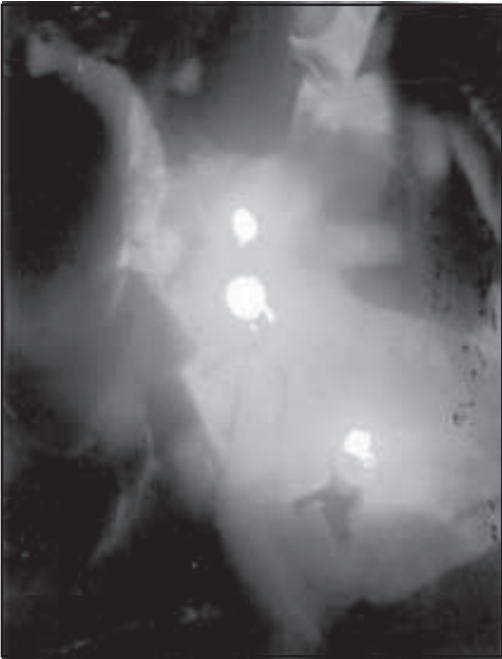
कोई-कोई बन कूँ चलौ,
बनराय केसूला ॥
बाना जी क्या-क्या लाये जी।
बाना जी ते काली कंठी लाये जी ॥
सास कूँ हँसला बहन कूँ कटुला,
गोरी धनै जाय पहनायौ जी ॥

परमाली दादी ने आगे याद दिलाया-

माय पै ते छीनौ, बहन पै ते छीनौ,
गोरी धनै जाय पहनायौ जी।
माँ वाकी रोवै, बहन वा की रोवै,
गोरी धन हाँसी-फूली डोलै री ॥

इस गीत में प्रिया के प्रति पति के प्रेम का वर्णन हुआ है। झाँझी के धूम में ये गीत भी गाते हैं-

मेरी झाँझी के औरै ढौरै फूल रही फुलवारी।
मेरो ससुर रहयो रखवारी ॥
मेरी सास गई रूटियारी (रोटी लेकर)।
बाके रोमिंगे लैंडी-पैंडा,



लै बेलन धमकाए जी ॥ मेरी झाँझी...
मेरी बाबुल गयौ रखवारी, मेरी माय गई रूटियारी।
रोमिंगे, माँ के जाए कुमर कन्हैया,
लै गोदी बहलाए जी। मेरी झाँझी...
माँ के जाए बीरन कहिये,
धर-धर गोद खिलाए जी।
कारे-कारे देवर कहिये,
मूसर से लुढ़काए जी ॥ मेरी झाँझी....

साँझी के गीतों के साथ समय के सुवास, मन मस्ती और उमंग-ए- उत्साह में भजनों का क्रम-अक्रम या व्यक्ति-क्रम से इस तरह प्रारंभ हो जाता है-

कोरी-कोरी मटकी दही जमायौ,
दधि बेचन कौं निकरी राम-हरे हरे...।
आवै कान्हा गाय चरावै गुजरी कौ आगौ (अगड्डौ) घेरौ
राम हरे-हरे।
जौ लौं कान्हा तोरै पतौआ (पत्ता),
गुजरी नै गैल सम्हारी राम-हरे..।
साँझ भई कान्हा घर कूँ आयौ,
टूटे खटौला पै पर गए राम-हरे..।
कै कान्हा मेरौ मारौ-छेरौ,
के काऊ ने धमकाए राम-हरे..।
ना काहू नै मारौ छेरौ,
ना काहू ने धमकाए राम-हरे..।
मेरे मन गुजरी बस गई रामा,
मन में गुजरी बस गई राम-हरे..।
अपने कान्हा कूँ चार बिहाय देऊं,
दो गोरी दो कारी राम-हरे..।
ना चाहिये मोय कारी गोरी,
मेरे मन गुजरी बस गई राम-हरे..।
अपनी माय के कपरा पहरे,
सबरौ इ गहनौ पहरौ राम-हरे...।
गली गलिन में कान्हा डोलै,
गुजरी कौ डगर (बगर, बाखर) बताय देऔ राम-हरे..।
ऊँची अटरिया, लाल किंवरिया,
वहाँ पै दूध बिलौवै राम-हरे..।
तू मामा की मैं फूफी की

दोनों बहना मिलि लेओ राम-हरे.. ।
 ना मामा की ना फूफी की
 बहैन कहाँ ते आई राम-हरे.. ।
 तू मामा की मैं फूफी की,
 बालक पन में बिछुरे राम-हरे.. ।
 तातौ पानी धरौ ततैरा (बड़े हंडा में),
 दोनों बहना न्हाय लेओ राम-हरे.. ।
 मेरी सास ने नाई कर दर्ई मैं पर घर ना न्हाऊँ
 पतरी-पतरी पोई फुलकिया,
 दोनों बहना जैं लेओ राम-हरे.. ।
 तुम तौ बहना कहियौ जनानी,
 होट चलैं मरदाने राम-हरे.. ।
 सोने की सेज, मोती झल्लर के तकिया,
 दोनू बहना सो जाओ राम-हरे.. ।
 तुम तौ बहना कइयौ जनानी,
 करवट लेओ मरदानी राम-हरे.. ।
 आधी रात छिटक रए तारे,
 गुजरी कौ जोबन लूटौ राम-हरे.. ।
 मैं तौ तोहे छल कर आई,
 तू मोय छल कै लै गौ राम-हरे.. ॥

श्रीमद्भागवत के गोपी गीत, प्रेम गीत आदि के आध्यात्मिक प्रभाव और सामाजिक पति के दुर्व्यवहारजन्य मतभेद आदि से गोप-वधुटियों का ईश्वर (कृष्ण) के प्रति, सम्भव मिलन की कल्पना के भावों युक्त उक्त गीत के अलावा वनवासी राम से मिलने को पहुँचे श्री भरत- उस समय का भाव चित्रण करता यह गीत भी तब गाया है -

हरे-हरे गोबर अँगन लिपाए,
 राम मोतिन चौक पुराये ।
 उठि मिलि लेओ राम भरत आये ॥
 हाथी के हौदा पै बैठे भइया चारौ,
 ऊपर चौर (चँवर) दुरत आए ।
 बइयाँ पसार मिलेरी चारौ भैया,
 नैनन नीर दरत आये- उठि... ॥

जन-जन की आस्था में तो श्रद्धास्पद राम, हाथी के हौदे ही बैठेंगे-दशरथ नंदन जो हैं। यहाँ मर्यादा नहीं चलेगी कि राम वनवासी हैं, तो पैर पनहैया भी न पहनें, पैदल चलें, हाथी की तो बात ही

कहाँ?

झाँझी को पूजकर, जिमाकर देर रात तक झाँझी के गीतों के साथ, अन्य भजनों में माँ सीता को घर निकाला देने, वन को भेजने वहाँ लव-कुश के जन्म का और फिर किशोरों को पिता, श्री राम का मिलना - इस गीत से प्रकट होता है-

राम और लछमन ये दोनू भइया,
 बन खेलन कूँ जायँ -हो राम
 छोटौ सौ लरका गाय-चरावै,
 गाय चरावै हर के खेत में- हो राम ।
 माँज-धोय लरका जल भर लायौ,
 दियौ राम के हाथ में- हो राम ।
 लोटा न छीऊँ पानी न पीऊँ,
 नाम बताय दे भाई बाप कौ- हो राम ।
 सीता हमारी माता कहिये,
 नाम न जानूँ अपने बाप को- हो.. ।
 ले चल रे ले चल लरका बाई बनी में,
 जहाँ तेरी सीता माता जानकी- हो राम ।
 ठाड़ी हो सीता-माता केस सुखावै,
 ठाड़ी कदम की छाँह में- हो ।
 ढकले री ढकलै, माता केस जो अपने,
 आये राम तेरे द्वारे- हो राम ॥
 ऐसे राम कौ मुख, अप जी (खुदने) मत (विचार के) दियो,



वनोवास राम।
फटजा री धरती, सीता समाजा,
केस दाब (डाब रूप में) लहराई- हो राम।।

इसमें सीता से राम-मिलन, सीता का धरती समाना, राम द्वारा सीता को रोक न पाने, मात्र केश ही हाथ में रह जाने का बड़ा ही कारुणिक वर्णन है। कहते हैं कि वे केश ही डाब बने। अतः श्राद्ध पक्ष में उन पवित्र केश (डाबों) से पितरों को जल देते हैं कि जैसे केशों को राम ने नेत्र जल धारा से भिगोया था।

जनश्रुति है कि नवरात्रि उपरान्त भी पार्वती का शंकर जी से विवाह नहीं हुआ था। सनातन हिन्दू परम्परा में विवाह देवउठनी एकादशी से प्रारम्भ होते हैं, किन्तु नवरात्रि के दस दिवसों में सगाई, रोक, गोद भराई आदि शुभ कार्य तो किये ही जा सकते हैं।

झाँझी के गीतों, भजनों के बाद आशीष का गीत इस तरह भी गाया जाता है-

झाँझी दैरी झाँझी दै।
लाला की महया झाँझी दै।।
अरी, भरौ री कटोरा मोय, दूध कौ ही दै।
या में पाँच बतासे मोय गेर कै ही दै।।
अरी, दै तौ दै नहिं नायँ करि दै।
अरी देर लगावै मति उत्तर दै।।

और इस तरह भी देती हैं झाँझी वाली आशीष- 'डंक चना री, डंक चना। डंका पै रोटी। लल्लू के (किसी घरवाली के किशोर, युवा बालक का नाम लेकर उसके) दो बहू अड़यौ, सारस की सी जोरी।'

झाँझी का चल स्वरूप एक हँडिया, मलरिया (छोटी मटुकी) में बहुत सारे छोटे-छोटे छेद करके बनाया जाता है। मलरिया में मिट्टी और उस पर कुछ राख रखते हैं। फिर उस पर बीच में सरसों के तेल का दीपक जलाते हैं। इसे सिर पर रख कुँवारी छोहरियाँ (कन्याएँ) घर-घर, द्वार-द्वार पर जाकर उपर्युक्त गीत गाती हैं, आशीष देती हैं और राशि रूप स्नेह- सम्मान प्राप्त करती हैं।

मलरिया (झाँझी) से कुछ राख लेकर, बायीं हथेली पर रख, दूसरे दायें हाथ की तीन अँगुलियों से राख पर थपकी देती हैं। तब दीपक की किरणें छेदों को भेदती बाहर आती स्पष्ट

दिखती हैं। धरती पर रखी मलरिया को बायें-दायें घुमाने से किरणें निकटस्थ दीवारों पर अनोखा दृश्य प्रकट करती हैं। परिवारजनों विशेषतः बच्चों को यह कौतुक मनोरंजन देता है। इसे झाँझी का हँसना कहते हैं।

झाँझी और केसूला ने केसूला शिव का स्वरूप माना जाता है। केसूला तीन डंडियों (सरकंडों, बाँस की फँसटों) से उन्हें थोड़ी कम बीच में बाँध देते हैं। नीचे की लम्बी तीन डंडियाँ पैर होते हैं। ऊपर बीच में एक पर मुँह बनाते हैं- मिट्टी, कौड़ी और मोर पंखों आदि से। अगल-बगल दो हाथ बनाते हैं। इन्हें लेकर बच्चे घर-घर केसूला के गीत गाते हैं।

दशहरा के दिन सुबह झाँझी का पूजन कर भोग लगा जल में सिरा दिया जाता है। सीरा (ठंडा) कर दिया जाता है। दोपहर बाद केसूलों को भी सिराते हैं, नदी में या पोखर में, नहीं तो किसी अंधकूप में।

आज झाँझी (साँझी) नाम शब्द के कुछ अन्य अर्थ भी मिलते हैं। जमीन पर घास, पत्ती व फूलों से बनाई कमल, जल अन्य दृश्य- ये सब फूलों की साँझी कहलाते हैं। ऐस ही रंगों से भी साँझी बनती है। कुछ कलाकार जल पर तेल आदि का प्रयोग कर, उस पर भी रंगों से बड़ी रूचिकर, दर्शनीय चित्र, कलाकृतियाँ बनाते हैं। हालांकि यह कुछ कम हो रहा है, तब भी सुख है कि अभी भी यह सब है।



छत्तीसगढ़ के बाल गीत

डॉ. विनय कुमार पाठक

बाल गीतों में क्रीड़ा के साथ बुद्धि-विलास का संयोजन तो होता ही है, बाल-मनोविज्ञान के प्रश्रय से कल्पना-शक्ति के विकास का भी आकलन हो जाता है। बच्चों में खेल-खिलौने, हँसने-बोलने, दौड़ने-कूदने, चीखने-चिल्लाने, हाथ-पैर चलाने की जो सहज प्रवृत्ति होती है, उसी का सामूहिकता की दृष्टि से विकास और गीतात्मक उद्भास बाल-गीतों की सार्थकता को सिद्ध करता है। मनोरंजन और हँसी-मजाक, गेयता से उत्कर्ष पाकर प्रकारांतर में स्वर और शब्द को ही मूर्त करते हैं। जैसे बालक सरल-सहज, निश्छल-निष्कपट होते हैं, वैसे ही ये बाल-लोकगीत भी सरल-स्वाभाविक अभिव्यक्ति और बाल-मन की स्वच्छंद-उन्मुक्त अवस्थिति को प्रकट करते हैं। जैसे बालक छोटे और चंचल होते हैं, वैसे ही बाल-गीत लघु छंदों व चंचल शब्दों से युक्त तुकबंदियों में प्रस्तुत होकर निराले ढंग और अनोखे रंग को दिग्दर्शित करते हैं।

बाल-गीत लोरी के विकास के अगले सोपान हैं। शिशु से बालक बनते ही उसमें जो सहज परिवर्तन परिलक्षित होता है, उससे वह परिवेश से परिचित होने, दैनंदिन की वस्तुओं में रुचि प्रकट करने, जागृत औसुक्य का समाधान चाहने, प्रश्नों के उत्तर जानने और कल्पना के ताने-बाने बुनकर जिज्ञासा की सतरंगी दुनिया में विचरण करने लगता है। ऐसी स्थिति में ये बाल-गीत उसके सभी प्रश्नों के उत्तर देने के लिए प्रस्तुत होते हैं। ऋषि-मुनियों के ज्ञान-अनुभव से अनुप्रेरित और लोकानुभवों से अनुप्रमाणित ये बाल-गीत परम्परा-प्रदत्त लोकजीवन की खुली पाठशाला प्रमाणित होते हैं। यही कारण है कि बालकों की रुचि-प्रवृत्ति को परखकर और परिवेश को निरखकर उन्हीं की भाषा में उन्हीं की इच्छित सामग्री प्रदान करने के लिए ही ये बाल गीत निर्मित हुए हैं। बाल-गीत केवल बालकों की जिज्ञासा और कौतूहलता का शमन नहीं करता, वरन् उसकी कल्पना-शक्ति और रुचि-प्रवृत्ति का परिष्कार करके वह संस्कार भी प्रदान करता है, जिससे वह पृथ्वी, आकाश, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, नदी-तालाब, सूर्य-चंद्र, तारे के साथ रागात्मक सम्बन्ध जोड़ सके। वह

परिवार से तो प्रीति रखे, लेकिन गाँव को भी पारिवारिक इकाई के रूप में महत्त्व दे। सभी प्रकार के विभेदों की खाई को पाटता हुआ यह लोकगीत जीवन-मूल्यों का संरक्षण-सम्बर्धन करता हुआ उसे मानवता से अभिमंत्रित करता है।

बाल-गीत आंचलिक संस्कृति और बोली-भाषा-प्रकृति के कारण बाह्य दृष्टि से भले पृथक प्रतीत होते हैं, लेकिन आंतरिक दृष्टि से भारतीय एकता को ही प्रदर्शित करते हैं। उदाहरण के लिए कबड्डी प्रायः सभी लोकभाषाओं और भारतीय भाषाओं में क्रीड़ा-गीत के रूप में प्रचलित है।

छत्तीसगढ़ी के 'केऊँ-मेऊँ' - विषयक बाल-गीत अन्य लोक-भाषाओं में भी प्रचलित है। ब्रज बाल-गीत की पंक्तियाँ देखिए-

थपरी के थपरा, फोरि मोर खपरा
मियां बुलाये, चमकत आये
पकरि बिल्लों कौ कान
चैऊ-मैऊ, चैऊ-मैऊ।

अटकन-बटकन

कुछ बालक आमने-सामने बैठकर और अधिक होने पर वृत्ताकार आसीन होकर दोनों हाथ पलटकर रख देते हैं। एक बालक प्रत्येक की एक-एक ऊंगलियों पर अपनी ऊंगली रखते हुए गाता है-

अटकन-बटकन, दही चटाकन
लउहा लाटा, बन के काटा
तुरू-रू रू पानी आवे
सावन म करेला पाके
चल-चल बहिनी गंगा जाइ
गंगा ले गोदावरी
पाके-पाके आमा खाबो
आमा के डारा टूट गे
भरे कटोरा फूटगे।

मनुज मरणासन्न है। उसकी आँखें एकटक अर्थात् अपलक भाव से देख रही हैं। उसे दही चटाया जाए। वन में जाकर लकड़ी एकत्र किया जाए। जैसे चौमासे में वर्षा होती है और सावन मास में

करेला परिपक्व होता है, वैसे ही यह जीवन चार मास का है, क्षणिक है। चलो अब गंगा जी में अस्थि-विसर्जन करना है, तदन्तर गोदावरी जाना होगा। यह जीवन पके हुए आम की तरह है। न जाने कब यह डाल से टूट जाए और भरी हुई काया का यह कटोरा फूट जाए।

मैथिली बाल-गीत में इसका स्वरूप द्रष्टव्य है-

अटकन मटकन, दहिया चटकन
माघ मास करेला फरै
आमुन गोटी जामुल गोटी
तेतरी सोहाग गोटी
बांस काटे ठाय-ठांय, नदी गंगुआइ
कमलक फूल दुनू अलगल जाइ
मैहिया धानक चुरबा रे चुरबा
भूल्ली भहिस के दूध

अंतिम शब्द जिस बालक की ऊंगली पर समाप्त होगा, वह हथेली सीधी कर लेता है। इस तरह एक-एक करके जब सभी हथेलियाँ खुलने लगती हैं और जब दो बालक ही शेष बचते हैं, तब उनमें से एक-दूसरे की हथेली पर कुहनी से ठोकर देते हुए गीतोच्चार करता है-

अताल के रोटी, पताल के दार
एखर लंगड़ी, धर बुची कान

यह कहते हुए एक के बाद एक क्रमशः एक-दूसरे के कान को पकड़ते जाते हैं। जब सभी परस्पर कान को हस्तगत कर लेते हैं, तब सामूहिक रूप से सब गाते हैं-

केऊँ-मेऊँ, मेकरा के जाला
कन्हैया पादै फुर्र

अंतिम शब्द 'फुर्र' को एक-दूसरे के कान में कहकर सब उठ जाते हैं।

झुलुवा झूल, कदंब के फूल
दाँदी टूटगे, टूरा के मूड़ फूटगे

इसी लोकगीत का मैथिली स्वरूप देखिए -

घुघुवा झूल, मल्लेल झूल
कोन गाम झूल, बेली झूल
पोखरि कात-कात
हिरना गेलौ टूटि
नुनू गेलौ रूसि।

× × ×

गोबर दे बछरू गोबर दे
चारों खुटा ला लीपन दे
चारों देरानी ला बइठन दे
अपन खाथे गूदा-गूदा
मोला देथे बीजा
ए बीजा ल काय करिहों
रहि जाहों तीजा
तीजा के बिहान दिन सरि-सरि लुगरा
चीव-चीव करे मंजूर के पीला
हेर दे भौजी कपाट के खीला
एक गोड़ मा लाल भाजी
एक गोड़ मा कपूर
कतेक ल मानों मँय देवर ससुर
राजा के घर पुतरी
खेल फगनी फुगड़ी

हे गो-वत्सल-रूप बछड़ा! तू गोबर प्रदान कर, जिससे घर-आँगन लीपकर चारों देवरानियों को आदरपूर्वक प्रतिष्ठित कर सकूँ। वह कहती है कि पुरुष आम के गूदे का तो आस्वाद ले लेता है, लेकिन बीच में बचे-चिपके अवशिष्ट गूदे को चखने के लिए हम बहुओं के लिए छोड़ा जाता है। शोषण का यह क्रम बर्दाश्त के बाहर है। अवशेष बीज को लेकर हम क्या करेंगी? इससे अच्छा है कि मायके जाकर और तीज-व्रत-संधारण कर सम्मानपूर्वक माँ से नयी साड़ी उपहार में प्राप्त करने का अवसर हाथ से न जाने दें। फुगड़ी खेलने वाली सभी बालिकाएँ मोरनी के बच्चे की तरह ही हैं, जो चार-दीवारी में बद्ध होकर 'चिंव-चिंव' करके चीखती-चिल्लाती हैं। मायके में अवस्थित ननद भाभी से कहती है कि इन्हें बंधन-मुक्त कर दो। जब ये बाहर स्वच्छंद वातावरण में जायेंगी और अनुभव के आँगन में कदम रखेंगी, तब एक कदम में लाल-

भाजी अर्थात् उपभोग की सामग्री और दूसरे कदम में कपूर अर्थात् आत्मिक शक्ति-रूपी आध्यात्मिकता का आभास होगा। आशय है कि जीवन में इन दोनों पगों का प्रचलन अपरिहार्य है। इस आत्मविश्वास के बाद देवर (छोटे) और ससुर (बड़े) की मर्यादा का बंधन व्यर्थ प्रमाणित होगा। आशय यह है कि वह तन की नहीं, मन की मर्यादा का मान रखना चाहती है। राजा के घर में तो रानी सौंदर्य की पुत्तलिका की तरह प्रतिष्ठित है, लेकिन हम सब सामान्य प्रजाजन 'फुगड़ी' खेलकर आनंद की अभिव्यक्ति करेंगी। फुगड़ी-गीत के अन्य रूप भी प्रचलित हैं, यथा-

फुगड़ी रे फुन-फुन
भरवां काँड़ी के पटा बना ले
सिकुन काँड़ी के गुजरी
आबे रे पंचालिन टूरी
संगे खेलबोन फुगड़ी
फुगड़ी रे फुन-फुन
बेल बाई बेल काँटा छबेल
मारेंव मुटका हेरेंव तेल
ओखर बनायेंव चउदा सेर

कुछ स्थलों पर 'फुगड़ी-फूँ' का प्रयोग भी मिलता है। यह ध्वन्यात्मक भी है और लोकगीत की लय भी, जिसे टेक के रूप में स्वीकारा जा सकता है। 'गड़ी' 'दल' का पर्याय है और उसके पूर्व और पश्चात् प्रयुक्त 'फूँ' या 'फुन' सर्प के फुफकार अर्थात् फन से समीकृत या मंत्र की फूँक से अंगीकृत है। जैसे तांत्रिक या ओझा-गुनिया-बैगा हाथ के अंगूठे और ऊंगली के सहारे चुटकी में राख 'भभूत' को लेकर मंत्रोच्चार के रूप में फूँक उड़ाकर सारे कष्टों को दूर कर देता है, वैसे ही ये बालिकाएँ खेल के बहाने सारे संतापों, अभावों और झंझटों को मानों फूँक से उड़ा देती हैं। फुगड़ी-फूँ में दैनंदिन के क्रियाकलापों और घटित प्रसंगों का समावेश भी होता है, यथा-

दिदरैया-दिदरैया देकर गढ़ैया
देउर के आसपास लौड़ी गनैया।
एक कौड़ी खंगगे कोन पुरैया
अर्रा गौंटी परा गौंटी का-का बनी दे
अइसन बिजाती भइया फुगड़ी खेलन दे
फुगड़ी रे फुन-फुन

फुगड़ी केवल कसरत का करतब नहीं, वरन् योग से भी जुड़ा है। अतः यह अभ्यास से साधा जाता है। जो बालिका पारंगत नहीं होती, वे बीच में हार स्वीकार कर लेती हैं। ऐसी स्थिति में शेष बालिकाएँ उन्हें चिढ़ाती हैं, लेकिन यह नैराश्य को निर्दिष्ट न करके उत्साह को उद्वेलित करने का उपक्रम है-

हारगे डौकी हारगे, लीम तरी पसरगे
लीम मोर भैया तँय मोर भौजइया।

तुम फुगड़ी-फूँ के खेल का निर्वाह नहीं कर सकीं, इसलिए पराजय का सामना करना पड़ा है। फुगड़ी खेलते गाते तुम नीम के वृक्ष के तले गिर गयीं। तुम्हें मालूम है कि नीम मेरा भाई है और इस तरह अब तुम मेरी भाभी हो गयी।

हँसी-ठिठोली का यह क्रम तो संचालित होता ही है, दैनंदिन घटनाओं को भी लोकगीत के रूप में फुगड़ी करती हुई एक गाती है और सब हामी भरती हैं -

कचरा डारे ला गेंव दीदी हूँ - हूँ
एक बुंदेला पायेंव दीदी हूँ - हूँ
चुनुन-चानन रंधेव दीदी हूँ - हूँ
सास-बहू खाएन दीदी हूँ - हूँ
देवर ला बिजराएन दीदी हूँ - हूँ

कचरा फेंकने जाते समय बुंदेला मिला, जिसे पकाकर किसी तरह आस्वादमय बनाया गया। हम सास-बहू ने तो मिलकर खाया, लेकिन देवर को चिढ़ाने-ललचाने में मजा आया।

एक अन्य फुगड़ी-लोकगीत में निर्दिष्ट है कि युग के परिवर्तन से रानी तालाब में पानी भरने के लिए आई है। हे माँ! लड्डू बनाकर दीजिए, मैं दीदी के गाँव जाकर और जीजी-जीजा को भेंट समर्पित करके आ जाऊँगी। मेरा जीजा श्रमिक किसान है और दीदी की गोद में बच्चा है-

चरखी-चरखा के रानी
भरे तरैया के पानी
दे तो दाई लाडू
दीदी देखे ला जाहूँ
दीदी हे लइकोरी

भांटो हे नगरिहा
धर फिरि आयेंव दाई

गोंटा-गीत

गोंटा खेलते समय एकत्रित बालिकाएँ जो गीत गाती हैं, उनसे गिनती अर्थात् संख्या-ज्ञान हो जाता है। खेल-खेल में शिक्षा का यह अद्भुत संयोजन उल्लेखनीय है -

अजलाले अजला बाम्हन भज ला
तीन तेरा चार करेला
पाँच भई पाण्डव दै के गंडा
सत के सीताफल आठ के गंगाजल
नौ के नागिन दस के बागिन
ग्यारा बेटा राम के कौड़ी के न काम के।

डाँडी पौहा

यह भी बालकों का खेल-गीत है। इसमें एक बड़ा सा गोल घेरा खींचकर एक बालक बाहर खड़ा हो जाता है और गोले के भीतर अवस्थित शेष बालकों को क्रमशः नामोच्चार के साथ गीतिमयी उक्तियों के प्रश्न से बुलाता है -

कुकरूस-फूँ
काकर कुकरा ?
राजा दशरथ के ।
का चारा ?
कनकी-कोढ़ा
का खेल ?
डाँडी पौहा ।
कौन चोर ?
रामू ।

इस तरह 'रामू' के साथ बारी-बारी से एक-एक बालक वृत्त से बाहर आता जाता है। प्रत्येक के आह्वान के साथ उपर्युक्त गीत मंत्र की तरह उच्चारित होता है। जब एक बालक वृत्त में बच जाता है, तब बाहर वाले बालक एक-एक करके उसके आगे-पीछे गोल घेरे में जाकर उसे छुएंगे-छेड़ेंगे, चिढ़ायेंगे-बगल्लायेंगे। वह बालक घेरे के भीतर उन्हें छूने का प्रयास करेगा। जिस बालक

को स्पर्श करने में सफल हो जायेगा, वह बालक वृत्त में आकर उसका साथी हो जायेगा। इसके बाद दोनों मिलकर शेष बालकों को वृत्त के भीतर छूने का प्रयास करेंगे और क्रमशः सफल होकर वृत्त की सफलता की मंजिल तक पहुँचा देंगे।

भौरा

‘लट्टू’ को छत्तीसगढ़ी में ‘भौरा’ कहा जाता है। ‘लट्टू’ लकड़ी का चढ़ाव-उतारदार एक प्रकार का गोल बट्टा है, जिसके नीचे एक कील लगी होती है, जिसमें मोटा सूत या पतली रस्सी लपेटकर झटके से खींचने पर यह चक्कर खाकर नाचने लगता है। इसे देखकर बच्चे लट्टू हो जाते हैं। इसीलिए ‘लट्टू होना’ मुहावरा प्रचलित हुआ है। लट्टू को चलाने के लिए रस्सी लेकर तैयार बालक गाता है -

झुम्पर जा रे भौरा, झुम्पर जा
 लौंवर मा लोर-लोर
 तिखुर मा झोर-झोर
 हँसा-करेला पान
 रायझूम बाँस-पान
 सुपेली मा बेल पान
 लट्टर जा रे भौरा, लट्टर जा

गीतोच्चार सम्पन्न होते ही बालक लट्टू को नचाता है। दक्षतापूर्वक जोर लगाकर जब लट्टू को नचाया जाता है, तब उसमें से भ्रमर जैसी ‘गुन-गुन, भुन-भुन’ आवाज आती है और वह एक जगह स्थिर न रहकर यत्र-तत्र डोलता-इतराता है। इसीलिए छत्तीसगढ़ी में लट्टू को ‘भौरा’ या ‘भँवरा’ कहा गया है।

कबड्डी

यह तो लगभग पूरे देश में राष्ट्रीय खेल बन चुका है, लेकिन अलग-अलग अंचलों और प्रदेशों में पृथक्-पृथक् नामों से यह जाना जाता है। यह मूलतः ग्रामीण खेल है और इसे लोकगीत के साथ खेला जाता है। छत्तीसगढ़ी में इसे ‘खुडुवा’ या ‘डुडुवा’ कहते हैं, और ‘कबड्डी-कबड्डी’ के साथ यह ‘भक डू-डू-डू-डू’ या ‘खुडू डू-डू-’ स्वरोच्चार में सम्पन्न होता है। ग्राम्यांचलों में यह लोकगीत के उपयोग के साथ भी खेला जाता है, यथा -

खुमरी के आल-पाल
 खाले बेटा बीरो पान
 मँय चलवौं गौंटी
 तोर दाई पोवय रोटी
 मँय मारौं मुटका
 तोर ददा कर कुटका
 आमा लगे अमली
 बगइचा लगे झोर
 उतरत बँदरा खोंधरा ल टोर
 तुवा के तूत के
 झपट बंबूर के
 बिछी के रेंगना
 बूग-बाय टेंगना
 तुवा लगे तुतरी
 बहेरा लगे झोर
 उतरत बँदरा खोंधरा ल टोर
 राहेर के तीन पान
 देखे जाती दिनमान

उपर्युक्त लोकगीत एक ही साँस में लयबद्ध होकर प्रस्तुत किये जाते हैं। एक ‘पाली’ के विजेता बनने पर यह दूसरे लोकगीत की प्रस्तुति करता है, जिसमें गढ़ लंका जीतने वाले हनुमान के डंका बजने का उल्लेख होता है -

जीत पाल लंका
 हनुमान डंका-डंका
 खुडुवा-डुडुवा नांगर के पत्ती
 भेलवा गीदों तोर चेथी-चेथी
 अंदन-बंदन की बलिहारी खेल
 मारौं मुटका फूटे बेल
 तीन टुडवा तिल्ली-तेल
 घर-घर बेचाय तेल
 अंदन कटोरी के बंदन पिसान
 का रोटी राधो बरकर पान

कबड्डी खेलने के लिए जब गाँव भर के बालक व मित्र-मण्डली नदी या तालाब के तट या मैदान में एकत्रित होते हैं, तब

दो पाली में बँटने का क्रम चलता है। यदि कोई बालक खेलने में अनिच्छा प्रकट करता है तो उसे मनाने के लिए मनोवैज्ञानिक दबाव बनाया जाता है। इसके लिए उसको सम्बोधित करके गीतोच्चार किया जाता है-

*नदिया के तीर-तीर पातर सूत
नइं मानबे तौ अपन बहिनी ल पूछ*

नदी के तटवर्ती प्रदेश में सूत-सदृश सीमा-रेखा विस्तीर्ण है। यदि हमारी बात समझ में न आती हो तो अपनी बहन से पूछकर देख ले।

अरुचि प्रदर्शित करने वाला बालक मैदान छोड़कर बहन से पूछने भला कहाँ जाएगा? वह अपने घनिष्ठ मित्र से इसकी पुष्टि करना चाहता है। वह शपथपूर्वक कहता है -

*नदिया के तीर-तीर पान-सुपारी
तोर किरिया भगवान उतारी ।*

इसके बाद यदि बालक तैयार हो जाता है तो उसे सम्मिलित कर लिया जाता है, अन्यथा उसे दर्शक दीर्घा की शोभा के लिए अवकाश दिया जाता है।

कोबी

रक्त के आरोपित सम्बन्धों से असंपृक्त होकर जब आत्मीय रिश्तों में अनायास बंधन का सिलसिला शुरू हो जाता है, तब उसे 'गड़ी' कहकर सम्बोधित किया जाता है। दो आत्मीयों के नाम/उपनाम विलोपित हो जाते हैं और वे परस्पर 'गड़ी' के रूप में अभिहित होते हैं। बचपन से ही खेल-खेल में यह संस्कार बालक के मन में पनपता और क्रमशः गहराता है, जो प्रकारांतर में जाति-पाँति से अलग हटकर ग्राम को एक पारिवारिक इकाई की शकल प्रदान करता है। जिस तरह जो संग देता वह संगी और साथ देने वाला साथी है, उसी तरह जिसके विचार हृदय तक जाकर गड़ गए, वह 'गड़ी' की गरिमा को सार्थक करता है। दोनों जब-जब मिलते हैं, तब-तब एक-दूसरे की हथेली को मारते हुए 'कोबी' कहकर गीतोच्चार करते हैं -

*चल कबड्डी उसवन दे
तबला बजावन दे*

*तबला में पइसा
लाल बगइचा
कनवा धोबी
कतर दे कोबी..... कोबी*

धाय गोड़

इस खेल में आठ-आठ खिलाड़ियों के दो दल बनाये जाते हैं। ये छिपकर अर्थात् दीवार या वृक्षादि की ओट में बैठे रहते हैं। दो-दो खिलाड़ियों को 'गड़ी' के रूप में स्थापित किया जाता है। इसमें प्रत्येक दल का मुखिया अपने दल के किसी एक खिलाड़ी का नामोच्चार करता है -ए अगली तोल जाही कोन? नामांकित बालक अपने 'गड़ी' का नाम निर्दिष्ट करते हैं। यदि ये दूसरे दल की पंक्ति में परिलक्षित होंगे, तो उन्हें 'धाय गोड़' कहा जायेगा। विपक्षी दल का बालक अपनी गड़ी को पीठ पर लादकर चलेगा। इस खेल में केवल एक पंक्ति का लययुक्त नाटकीय सम्वाद मिलता है। ऐसा लगता है कि पूर्व में यह गीतपरक बालक-खेल रहा होगा।

कदम्मा

इस बाल-गीत में बच्चे इस प्रिय गीत का केवल उच्चारण करते हैं -

*हाथ के लाल, पाये पदुमलाल
दुनों बीजा बम लाल छाती सुरूक लाल
नंदा बाई टिक-टाक कारी सेमी गील भात
रंधइया ल मारे तीन लयत*

घानी-मुनी

वर्षा ऋतु से कृषक की जीवन-यात्रा का श्रीगणेश होता है। इधर किसान हल और बैल लेकर खेत की ओर निकल पड़ता है और उधर बाल-मन भी घानी की तरह अकेले एक स्थल पर गोल-गोल घूमकर भावाभिव्यक्ति करता है -

पानी दमोर दे, नागर-बैला जोर दे

पहली बरसात में घानी की तरह चक्करदार झूमते-गाते बालक प्रकृति के आनंद में आकंठ हो जाते हैं। इसी तरह जब वह

प्रकृति के अजूबे-अनोखे उस दृश्य को देखता है, जिसमें धूप के साथ वर्षा भी हो रही होती है, तब उसका बाल-मन उस संकल्पना को मूर्त करते हुए कहता है कि सियार का ब्याह हो रहा होगा -

घाम उए हे पानी गिरत हे
कालिहा के बिहाव होवत हे ।

हाना

जब बालक समूह में होते हैं, तब एक मुखिया और अनुभवी बालक प्रहेलिका की शकल में मनोरंजन के रूप में लय-युक्त छंद गढ़ता है, जिसे 'हाना' कहा जाता है। यह विशुद्ध बुद्धि-विलास का खेल है, जो परम्परा से एक पीढ़ी से दूसरे को प्रदान करती है, यथा-

1. चल जाबो
केति
तोर चेथी

चलो जायेंगे
किधर
तेरा सिर है जिधर
2. येला का कथें
सूपा
डोकरा तोर फूफा

इसे क्या कहते हैं ?
सूप 'सूपा'
तेरे वयोवृद्ध फूफा
3. पचास अउ दू
बावन
तोर दाई ला लेगे रावन

पचास और दो
बावन
तेरी माँ को ले गया रावण
4. देख तो ओती ल
(देखथे)

अतकी बर रोटी बर
जीव ल दे दिस

देख तो उधर
(देखता है)
तुच्छ रोटी के लिए
इतने उतावले हो इधर

5. चिट न पोट
कुला होगे रोठ

कुछ हलचल नहीं
फिर भी नितंब भारी
6. मारेंव मुसुवा
पायेंव छुछु
काली बिलाई ल खोजेंव
नइं पायेव कुछु

चूहे को मारा
पाया छछूंदर
काली बिल्ली को खोजा
न बाहर न अंदर
7. छीनी अंगरी फोटको
अउ तोर सँही कतको

क्षीण काया वाली मत इतरा
तेरे समान कितनी है।

घेर खोखो

यह बालिकाओं का खेल है। इसमें एक-दूसरे का हाथ पकड़कर बालिकाएँ गोल घेरा बनाती हैं। एक बालिका मध्य में अवस्थित होकर क्रमशः सभी बालिकाओं का नामोच्चार कर गीत गाती है -

बैठव बैठव ओ मोर दुकलहिन
नाव के बहिनी
तिन चिरौंजी चार परोड़ा फोड़

इस तरह दुकलहिन के बाद क्रमशः प्रत्येक के साथ नाम जोड़कर सबको बिठाया जाता है और इसी गीत के साथ उनका आह्वान भी किया जाता है। इसके बाद 'उठव-उठव' कहकर प्रत्येक को खड़ा कराकर फिर खेल-गीत का सिलसिला चलता है, जिसमें सब सहभागी होते हैं -

- | | | |
|-----------|---|------------------|
| एक बालिका | - | इत्ता-इत्ता पानी |
| सब बालिका | - | घोर-घोर रानी |
| एक | - | ए गली ले जाबोन |
| सब | - | ताला लगाबोन |
| एक | - | ए गली ले जाबोन |

- | | | |
|----|---|-----------------|
| सब | - | मूसर म धमकाबोन |
| एक | - | ए गली ले जाबोन |
| सब | - | कुटेला म कुटबोन |

वृत्त के मध्य स्थित एक बालिका दो बालिकाओं के मध्य की हस्त-श्रृंखला पर अपने एक हाथ से प्रहार करके क्रमशः कहती है- 'ए गली ले जाबो ना' समवेत स्वर ताले की तरह मजबूत पकड़ की बात कहती है, तब वह आगे बढ़कर पुनः कहती है- 'ए गली ले जाबो ना'। उत्तर मिलता है -मूसल चमकाकर भगा दी जाओगी। इसके बाद उत्तर आता है-कुटेला में कूट कर नष्ट कर दी जाओगी अर्थात् उसके बाहर जाने का प्रत्येक रास्ता बंद है। 'खो-खो' में घेरा नहीं रहता, इसलिए इस खेल-गीत को 'घेर खोखो' कहकर 'खो-खो' से समीकृत किया जा सकता है।

छत्तीसगढ़ी गीतों के नारी भाव

उर्मिला शुक्ल

लोक गीत में सदियों से नारी मन का स्पंदन रहा है। ये गीत नारी मन के सुख-दुःख को अभिव्यक्त करते हैं। यह भी सच है कि जितना दुःख नारी जीवन में रहा है, उतना पुरुष जीवन में कभी नहीं रहा। नारी जीवन दुःख और पीड़ाओं का आगार है। यह आज की बात नहीं है, सदियों से ऐसा ही है और विडंबना यह है कि वह अपने दुःख को किसी से कह नहीं पाती, क्योंकि पराधीनता उसे इस बात की इजाजत नहीं देती। सामान्य जीवन में इससे मुक्ति सम्भव नहीं। शायद इसीलिए लोक गीत उसकी पीड़ा को वाणी देते हैं। वह गीतों के माध्यम से अपनी पीड़ाओं को अभिव्यक्त करती है, जिसे लोग गान समझते हैं यानि वह अपनी पीड़ा को अभिव्यक्त तो करती है, मगर परोक्ष रूप से। लोक गीत स्त्री की पीड़ा और उसकी सामाजिक स्थिति को व्याख्यायित करते हैं। पुरुषवादी समाज और उसकी मानसिकता से उपजी पीड़ा इन गीतों में देखी जा सकती है।

छत्तीसगढ़ी गीतों में नारी की विसंगतियों के चित्र कम मिलते हैं। कारण, यहाँ समाज व्यवस्था पर आदिवासी समाजिकता का प्रभाव रहा है। यहाँ स्त्री जीवन वैसा त्रासद नहीं है, जैसा अन्य समाजों में है। फिर भी यहाँ के कुछ लोग गीतों में स्त्री जीवन की व्यथा और त्रासदी उभरती है। जैसे- विदा गीत, सोहर गीत, सुआ गीत, नाचा गीत और देवार गीत।

विदा या विदाई गीतों में मुख्यतः अपनों से बिछोह और अनजाने देश और परिवेश में भेजने की पीड़ा ही मिलती है, किन्तु कुछ गीतों में स्त्री और पुरुष के बीच किये जाने वाले भेदभाव के चित्र भी मिलते हैं और ये गीत बिछोह के दुःख के साथ-साथ समाज निर्मित भेदभाव पूर्ण व्यवस्था पर स्त्री के आक्रोश रहित विरोध को दर्ज करते हैं। देखिये ये पंक्तियाँ-

बेटा रहितेंव तोर घर मा रहितेंव
 बेटी भयेंव बिरान ओ दाई
 आज चिरैया रनबन-रनबन ओ दाई
 काली चिरैया बड़ दूर ओ दाई।

अर्थात् अगर मैं बेटा होती तो मैं तुम्हारे घर में रहती। मगर मैं तो बेटी हूँ। मैं तो पराई हूँ, मैं तुम्हारी कुछ भी नहीं। मैं तो चिड़िया के समान हूँ जो आज तुम्हारे घर-आँगन में चहक रही हूँ। कल तुमसे बहुत दूर चली जाऊँगी।

स्त्री की शारीरिक संरचना उसकी जैविक प्रक्रिया और उसकी भाव संकुलता उसे पुरुषों से अलग करती है और उसकी इन्हीं विशेषताओं को उसकी कमजोरी में ढालकर पुरुष समाज उसकी अस्मिता को अपने आधीन कर लेता है। वह बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक पुरुष द्वारा पालित और रक्षित होने को विवश रहती है। इतना ही नहीं पुरुष समाज उस पर अपनी वंशवृद्धि और अपने संरक्षण का ऐसा घेरा बनाता है कि वह उसी के अनुरूप सोचने को विवश होती है। सदियों से पुत्रवती होने का आशीर्वाद लेते वह भी पुत्रवती ही होने की कामना करने लगती है। छत्तीसगढ़ी लोक गीत सोहर इसका सटीक उदाहरण है।

इन सोहर गीतों में लड़के के जन्म की ही कामना उभरती है। यद्यपि छत्तीसगढ़ के आदिवासी समाज में न तो सोहर गाने का चलन है और न ही इस समाज में लड़के की इतनी चाह ही है, मगर यहाँ के अन्य समाजों में लड़के की चाह किस कदर है। यह इन सोहर गीतों में देखा जा सकता है-

दूसर महीना जब लागिस सास गम पाइस
 जेवनी गोड़ बिछलाय जिया मचलाये हो
 तीसर महीना जब लागिस ननद मुसकाइस
 होइहैं लाल कन्हैया पंचलर पायेंव हो
 चौथा महीना जब लागिस सास पुलकाइस
 होइहीं कुल रखवारे मोतियन लुटइहों हो ।

इस गीत में लड़के के जन्म की आकांक्षा स्पष्ट रूप से उभरी है। इसी तरह एक और गीत जिसमें बेटे की चाह में व्रत-उपवास, पूजा-पाठ के बाद जब बेटा जन्म लेता है, उस समय मन किस कदर उल्लासित होता है, उसका वर्णन-

रहेंव मैं कतेक उपास जारेंव दोनों हाथ हो
 ललना लइका ल पायेंव मैं आज मोर मन उलास हो
 ललना गज मोतियन चउक पुरायेंव सोन कर कलस मढ़येंव हो
 ललना सुआ मोर खबर पठायेंव हो
 ललना लागौं सुरूज पैं या आज जागिस मोर भाग हो।

पुत्र जन्म के लिए कितने जतन किये गये और पुत्र जन्म के बाद माँ का मन इतना प्रसन्न हुआ कि मोतियों से चौक पूर कर सोने का कलश रखकर सुआ के हाथों सभी को सन्देश भेज रही है। वह सूरज को बार-बार प्रणाम कर रही है कि उसके घर लड़के का जन्म हुआ। स्त्री पुत्र जन्म की इच्छा इसलिए रखती है, क्योंकि पुत्र के जन्म से घर में उसका सम्मान बढ़ता है। इसीलिए वह देवताओं से प्रार्थना करती है कि उसके घर लड़के का जन्म हो। इस गीत में शिव, गणेश और सरस्वती की आराधना से पुत्र प्राप्ति का वर्णन है-

गुरू गनपति के चरन मनायेंव
 जिहवा म सरसती आवय रे ना।
 मनायेंव महादेव रितोयेंव पानी सब दिन
 बेल कर पान चढ़ायेंव धोवा चांउर
 तभे त मोला चिन्ह दिस बेटा
 रहि-रहि सोहर ल गायेंव हो
 सास मोला पूछय ससुर सुख पावें
 जोड़ी के छाती फूलय हो
 बड़ मटमटही ननद रानी
 मोर बाबू पाके झुलावय हो।

अर्थात् शिव जी की पूजा-आराधना से मैंने उन्हें प्रसन्न किया। रोज जल, बेल का पत्ता और अक्षत चढ़ाया, तब वे प्रसन्न हुए और मुझे फल के रूप में बेटा दिया। बेटे के जन्म से मैं बहुत प्रसन्न हूँ, क्योंकि अब सास मेरा मान करती है, ससुर खुश रहते हैं और मेरे पति का सीना गर्व से फूल गया है। मटमटही अर्थात् किसी को कुछ न समझने वाली मेरी ननद भी अब खुश है, वह मेरे बेटे को गोद में लेकर झुला रही है, अर्थात् सारा परिवार बेटे के जन्म से प्रसन्न है।

उपरोक्त सभी गीत बेटे के जन्म से जुड़े हैं। दरअसल

सोहर लड़के के जन्म पर ही गाया जाता है। इन गीतों में नारी मन की पीड़ा प्रत्यक्ष तो नहीं होती, मगर बेटे को जन्म देने के उल्लास के पीछे स्त्री की सामाजिक स्थितियाँ जरूर उभरती हैं।

साहित्य में नारी चेतना और नारी स्वातंत्र की अवधारणा बहुत बाद में आयी। यह विशुद्ध रूप से पाश्चात्य की देन है और वह 'सीमोन द बुआ' का अनुसरण करती स्त्री मुक्ति से विमर्श तक जा पहुँची है। 'सीमोन द बुआ' की मान्यता है कि-स्त्री बनाई जाती है। आज हिन्दी साहित्य में खासकर महिला लेखन में यह बात लगातार उभर रही है और समाज की तमाम विकृतियाँ महिला लेखन के केन्द्र में हैं।

इस तरह समकालीन साहित्य में स्त्री चिन्ता चर्चा के केन्द्र में है। स्त्री वस्तु से व्यक्ति बनने की जद्दोजहद से गुजर रही है। यह आज की बात है। मगर छत्तीसगढ़ी गीतों में नारी का स्वर सदियों से चलता आ रहा है।

स्त्री के जीवन में पीड़ा ही उसकी सहचरी होती है। इस पीड़ा की अभिव्यक्ति सुआ गीतों में मिलती है। नारी जीवन की विवशताएँ उसकी पीड़ाएँ कोई नहीं समझता। इसीलिए इन गीतों में पीड़ा को अभिव्यक्त करने का माध्यम सुआ (तोता) है। स्त्री जीवन की सबसे तकलीफ देह स्थिति माँ-बाप, भाई-बहन, सखी-सहेली और अपना वह घर जहाँ उसका बचपन बीतता है, उसे छोड़कर एकदम से पराये माहौल में जाना है। जहाँ वह किसी को नहीं जानती। चाहे कितना भी सुख क्यों न मिले, अपना घर छोड़ना दुःख ही होता है। वहाँ तो उसे सुख भी नहीं मिलता, सास और ननद उसे दुःख देती हैं, इसीलिए वह दुःखी है। यह दुःख इतना अधिक है कि वह चंदा और सूरज से विनती करती है कि उसे अगले जन्म में स्त्री जीवन मत दे, क्योंकि स्त्री का जीवन दुःख का आगार है-

पड़्यां लागत हों

चंदा सूरज के रे, सुआ न।

तिरिया जनम झनि देय।

तिरिया जनम मोर गऊ के बरोबर रे सुआ न।

जहँ पठवय तहँ जाय रे सुआ न।

अँगठिन मोरि-मोरि घर लिपवावै रे सुआ न

फेर ननद के मन नहिं आय

बाँह पकरि के सँया घर लावे। रे सुआ न।

ससुर हर सरका बताय।

यह गीत स्त्री के दुःख को अभिव्यक्ति देता है। इस गीत में उसके मन की पीड़ा उभरी है। उसे लगता है कि उसका जीवन गाय के जीवन की तरह निरीहता से भरा हुआ है, जैसे गाय को जहाँ भी ले जाया जाये, जिस भी खूँट से बाँधा जाय, वह बंध जाती है, कोई प्रतिरोध नहीं करती। उसी तरह स्त्री का विवाह होता है, उसे दूसरे घर जाना ही पड़ता है। घर-परिवार छोड़ने के बाद भी उसे सुख नहीं मिलता। सास-ससुर, ननद के साथ-साथ पति भी उसे तकलीफ देता है। ऐसे में वो किससे शिकायत करे।

इन गीतों में बेटे और बेटा का भेद भी उभरता है। इन गीतों में यह उपालंभ भी है कि माता-पिता ने भाई को सारा सुख दिया। धन-सम्पत्ति दी, मगर उसे देश से परदेश भेज दिया-

भाई ल देहे रंगमहला दुमहला रे सुआ न

हमला त देहै बिदेस रे सुआ न।

कुछ गीतों में इस स्थिति का प्रतिरोध भी मिलता है। वह ससुराल जाने से इंकार करती है-

असरी फूले सुनुक-सुनुक गोंदा फूले झतनार रे-रे सुआ न

वोहूँ गोंदा ल खोंचन नहीं पायेंव आगे ससुर लेनहार

ससुरे संग नि जाँव ओ दाई रद्दा म आँखी बताथे..

सँया के संग नइ जाँव ओ दाई रद्दो म सोंटा जमाथे।

इन पंक्तियों में ससुर के द्वारा भयभीत करना और पति के द्वारा मार पीट करना स्त्री जीवन के शारीरिक और मानसिक उत्पीड़न को प्रकट करते हैं। मगर अपना दुःख व्यक्त करने के बाद भी उसे इन तकलीफों से कोई निजात नहीं मिलती है।

सुआ गीतों में स्त्री के जीवन की पीड़ा के अनेक रंग मिलते हैं। ससुराल आकर तरह-तरह की तकलीफों के बाद भी वह इसे अपनी नियति मानकर स्वीकार लेती है। मगर पति का साथ भी उसे नहीं मिलता, तब उसे अपना जीवन ही व्यर्थ लगने लगता है और उसके मन में बस यही भाव आता है कि *तिरिया जनम झनि दे।* यहाँ पीड़ा की इतिहा है, मगर विवशता भी है।

इससे मुक्ति का कोई उपाय नहीं है। साहित्य में जिस नारी चेतना और स्त्री विमर्श की बात की जाती है, उसकी झलक छत्तीसगढ़ी ददरिया, पण्डवानी और देवार गीतों में मिलती है। यहाँ स्त्री की जिजीविषा, उसका आक्रोश और उसका विरोध देखने को मिलता है।

इन गीतों में एक और स्त्री के प्रेम की पराकाष्ठा है, तो दूसरी ओर पुरुष की ज्यादतियों का विरोध भी है। पुरुष के द्वारा यदि उसे धोखा मिलता है तो वह जीवन भर उसके नाम की माला जपने को मजबूर नहीं होती और वह भी अपनी नई राह चुनती है। इन गीतों में सही मायने में नारी स्वतंत्रता का स्वर उभरता है।

छत्तीसगढ़ी समाज में दूसरे विवाह की छूट स्त्री और पुरुष दोनों को मिलती है, इसीलिए यहाँ विवाह को लेकर वैसी त्रासद स्थितियाँ नहीं हैं। ददरिया में इसका भी वर्णन मिलता है। स्त्री अगर अपने विवाह से संतुष्ट नहीं है तो वह अपने मन पसन्द पुरुष के लिए 'चूरी पहन' सकती है। यह चूरी पहनना दूसरे विवाह का समाज स्वीकृत रूप है, इसलिए यहाँ उसकी स्थिति गुलाम की न होकर बराबरी की है। देखिये यह गीत-

*टँगिया ल धरके निकल बन मा
मोर आगे विहाता ले जाही संग मा।*

इस गीत में प्रेमी की अवहेलना पर वह रोती या गिड़गिड़ाती नहीं है। वह कहती है कि तुम्हें अगर मेरी परवाह नहीं है, तो मुझे भी तुम्हारी कोई परवाह नहीं है। तुम कुल्हाड़ी लेकर जंगल में चले जाना, अर्थात् मेरे जीवन से बाहर चले जाओ। मेरा पति आ रहा है, वह मुझे अपने साथ ले जायेगा, अर्थात् मुझे भी तुम्हारी जरूरत नहीं है।

दूसरे विवाह की स्वतंत्रता से छत्तीसगढ़ की औरतों में आत्म विश्वास जागता है। वह दीन-हीन होकर रोती कलपती नहीं, बल्कि उसे मुँहतोड़ जवाब देती है-

*तिवरा के दार म बनायेंव भाजी
तोर मन म गा हावे दगाबाजी।*

इतना ही नहीं, वह इस दगाबाजी का बदला भी लेती है। जितनी पीड़ा उसे पहुँचती है, उतनी ही पीड़ा वह उसे देती है-

*पानी ल पीये पसर करके
मन बोधना ल मारेंव कसर करके।*

इस गीत में नायिका कहती है कि मैंने भी उस कपटी को उसके किये की सजा दी है। ऐसा वार किया है कि वह हमेशा याद रखेगा।

छत्तीसगढ़ की औरतें मेहनत में पुरुषों से पीछे नहीं रहती। घर से बाहर तक खेत-खलिहान सभी कार्य में वे निपुण होती हैं। वे घर-गृहस्थी का आधार होती हैं, इसीलिए उनमें स्वाभिमान भी होता है। वे मेहनतकश हैं, किसी की गुलाम नहीं। वे जानती हैं कि उनके बिना खेती का कार्य सम्भव ही नहीं है। इस गीत में कुछ ऐसा ही भाव उभरा है-

*लुगरा चिराके होथे फरिया
जी जाहूँ त जोत हूँ नइ त होही परिया।*

छत्तीसगढ़ की स्त्री, पुरुष की मुखापेक्षी नहीं है। वह भी उतनी ही स्वतंत्र है, जितना कि पुरुष। इसीलिए वह उसे जताती है कि उसे उस जैसे की कोई आवश्यकता नहीं है। इन गीतों में ऐसा ही भाव उभरा है-

*नवा रे धोतिया अरज नइये
पैंया-पैंया लुरगे गरज नइये।*

अब मेरी नजर में तुम्हारी हैसियत छोटी अरज की धोती के समान है, जिसका कोई उपयोग नहीं होता। तुम जाओ मुझे भी तुम्हारी जरूरत नहीं है। एक गीत में नायिका कहती है कि मैंने तुम्हें छोड़ दिया। इसलिए अब तुम अकेले रहने को विवश हो। तुम्हारे मुँह पर मक्खी भिनभिना रही है, अर्थात् तुम्हें चाहने वाला कोई नहीं है-

*नवा रे लुगरा धरे ल आँछी
मोर छोड़े ले राजा झूमथे माछी।*

इस तरह ददरिया में नारी स्वाभिमान और स्वतंत्रता की झलक भी मिलती है। छत्तीसगढ़ी गीतों में गाथा का महत्वपूर्ण स्थान है और इन लोक गाथाओं के गायन में यहाँ की स्त्रियों का योगदान उल्लेखनीय है। छत्तीसगढ़ की समाज व्यवस्था में स्त्रियों

की दशा उतनी दयनीय नहीं है। यहाँ की स्त्रियाँ आर्थिक रूप से भी परतंत्र नहीं होती और यहाँ की विवाह व्यवस्था भी स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं करती, अर्थात् यहाँ स्त्री भी दूसरे या तीसरे या अनेक विवाह के लिए स्वतंत्र है और इसे हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता।

यही कारण है कि यहाँ के लोक गीतों खासकर गाथाओं में नारी चेतना और नारी स्वातंत्र्य का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। इन गाथाओं में एक ओर तो नारी के परम्परागत रूप का वर्णन है, तो दूसरी ओर उसकी संघर्षशीलता, उसकी जिजीविषा और उसकी शक्ति को रेखांकित करती गाथायें भी हैं।

इन गाथाओं में बहुचर्चित देवार गीत 'दसमत कैना' उल्लेखनीय है। यह गाथा एक स्त्री के संघर्ष, उसकी जिजीविषा और उसके आत्म सम्मान की गाथा है। शायद इसीलिए दसमत के संघर्ष को सम्मान देने के लिए उसे कैना अर्थात् कन्या कहा जाता है। वह विवाहित होकर भी कन्या की तरह पवित्र और पूज्य है, क्योंकि वह अपने आत्म सम्मान की रक्षा में सक्षम है। यह कथा गीत 'दसमत आड़िनिन' और नौ लाख ओड़िया के नाम से भी जानी जाती है। दसमत की यह गाथा किसी पुरुष की गाथा न होकर एक मेहनतकश औरत के स्वाभिमान और उसके आत्म सम्मान की गाथा है।

छत्तीसगढ़ी गाथा गायन परम्परा की यह लुप्तप्राय गाथा लोकवार्ता की अमूल्य निधि है। दसमत गाथा में दो महत्वपूर्ण बिन्दु हैं, जिसका सम्बन्ध कथा की अंतर्वस्तु से है, जिसके केन्द्र में सामंती समाज की लिप्सा के विरुद्ध एक श्रमजीवी स्त्री का आक्रोश और विद्रोह है। यह न तो वीराख्यान है और न ही अलौकिक घटनाओं से युक्त कोई कथा। इस गाथा में सामंती समाज का चरित्र उभरता है। इस गीत में प्रमुख दो चरित्र हैं—दसमत ओड़िनिन और राजा महान देव। लेकिन गाथा दसमत के इर्द-गिर्द ही घूमती है।

इस गाथा गीत के अनुसार दसमत कैना राजा की पुत्री है, जो गरीब ओड़िया सुदन बिहइया से ब्याह दी जाती है। उसके पिता ब्राह्मण जाति के माने जाते हैं। इस कथा का प्रारम्भ ही इस परिचय के साथ होता है—

राजा भोज बाम्हन कई बेटी
कुल बमनीन के जात
अपन करमत तकदीर के कारण,
पाये हे ओड़िया भतार।
सुदन बिहइया लागे कइना के,
लच्छन देवता तोर।
सोला के लागे भतार
बारा बच्छर दसमत के उम्मर
सब ओड़िया ताबेदार।

राजा भोज की बेटी दसमत एक कुलीन ब्राह्मण कन्या थी, किन्तु अपनी भाग्यहीनता के चलते, उसे गरीब ओड़िया पति मिला। उसका पति सुदन बिहइया सोलह वर्ष का है और दसमत की उम्र बारह वर्ष है। वह इतनी खूबसूरत है कि सारे ओड़िया उसकी ताबेदारी करते हैं।

प्रश्न यह है कि अगर दसमत राज कन्या है, कुलीन ब्राह्मण की पुत्री है तो उसे गरीब ओड़िया पति क्यों मिला? और यह गाथा अवांतर कथा से जुड़ती है, जिसके मूल में है सामंती व्यवस्था और पौरुषी दम्भ, जो स्त्री को हमेशा कमतर मानकर उसके स्वाभिमान को कुचलता रहा है। भोज नगर के राजा अर्थात् दसमत के पिता अपनी सातों कन्याओं से पूछते हैं कि वे किसके भाग्य का खाती है। बाकी सभी लड़कियाँ कहती हैं कि पिता जी आपकी किस्मत का। मगर दसमत कहती है कि वह अपने किस्मत का खाती है। राजा के अहम को ठेस पहुँची और उसने सेवकों को आज्ञा दी कि दसमत के लिए ऐसा वर तलाशें, जिसे दोनों जून का भोजन भी नसीब न हो। राजाज्ञा का पालन हुआ और काला कलूटा सुदन बिहइया जो ओड़िसा से अपने भाई के साथ कमाने खाने आया था, ढूँढकर दसमत का ब्याह कर दिया गया। यह कथा पुरुष की सामंती मानसिकता और समाज में स्त्री के दोगले दर्जे की स्थिति बताती है। उसका पति और उसका भाई जंगल में पत्थर तोड़कर उसमें से निकलने वाले जुगनू को साहूकार के हाथ बेचकर, दो जून का भोजन जुटाते हैं। एक दिन दसमत पति से कहती है कि उसे भी वह जुगनू दिखाये और देखने पर वह उस साहूकार को आड़े हाथों लेती है। और उसकी अच्छी कीमत वसूल करती है, क्योंकि जिसे अपनी अज्ञानतावश सुदन एवं अन्य ओड़िया जुगनू समझते थे, वह दरअसल हीरा था।

इसीलिए सारे ओड़िया उसकी ताबेदारी करते हैं। दसमत उनकी नेत्री बन जाती है। इस तरह यह गाथा नारी स्वातंत्र से भी कुछ आगे बढ़कर श्रमिक चेतना को भी मुखर करती है।

नौ लाख ओड़िया तालाब की खुदाई के लिए कामगार के रूप में धौरा आते हैं। दसमत श्रृंगार करके औरतों का नेतृत्व करती है। वह राजा को जोहार करने जाती है, ताकि उन्हें काम मिल सके। राजा दसमत पर आसक्त हो जाता है, वह उससे कहता है—

अब तैं आये तोर पांव म
अब चलतैं मोर संग
छोड़ दे ओड़निन डाली टुकनिया
छोड़ ओड़िया भतार
आके बइठ जा राजा के महल म
अऊ सौ झोंकव जोहार।

अब तुम मेरे पास आ ही गई हो तो अब तुम मेरे संग चलो। ये डाली-टोकरी छोड़ दो और अपने आड़िया पति को भी छोड़ दो। रानी बनकर मेरे महल में रहो और मेरा प्यार और लोगों का आदर स्वीकारो, किन्तु दसमत उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर नौ लाख ओड़िया और नौ लाख ओड़निन के साथ तालाब खोदने में जुट जाती है। यह प्रसंग दसमत के आत्माभिमान और उसके परिश्रमी रूप को दर्शाता है। लम्पट राजा वहाँ भी आ पहुँचता है। वह कदंब की छाँव में बैठकर मिट्टी खोदती दसमत को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए ढेले मारता है। उसकी इस ओछी हरकत का दसमत विरोध करती है—

एक ढेला मारे त भैया मुलाहिजा
दूसर ठट्टा आया
फेर ढेला मारबे त राज
मारहूँ तोला कुदारी के घाव।

अर्थात् एक ढेला का मुलाहिजा करूँगी। दूसरे को मजाक समझकर सह लूँगी, मगर तीसरा ढेला मैं सहन नहीं करूँगी और तुम्हें बदले में कुदाली से घाव दूँगी, अर्थात् मैं तुम्हें कुदाल से मारूँगी। मगर राजा पर इसका कोई असर नहीं होता, वह कहता है—

बेटी ल छाड़ेंव बहुरिया ल छाड़ेंव
अऊ छाड़ेंव बियालिस गाँव
सात रानी के लिखंव बनवासा
जुग न छोड़ेंव तोर साथ।

राजा कहता है कि मैं अपनी बेटी छोड़ दूँगा, बहू को भी छोड़ दूँगा। अपने बयालिस गाँव छोड़ दूँगा और सातों रानियों को बनवास दे दूँगा, मगर मैं तुम्हें कभी नहीं छोड़ूँगा।

दसमत उसे अपने पिता के रिश्ते से चाचा कहती है फिर भी राजा की एक टेक रहती है कि दसमत उसकी पटरानी बन जाय। वह उसकी खातिर देवार बनने को भी तैयार हो जाता है—

अरे गदही चरइ लेबे ओड़निन कैना
सुरा चरइ लेबे न।
अरे पानी भरई लेबे कइना ओ
जेवन रँधई लेबे न।

हे ओड़निन कन्या! तुम मुझसे गधी चरवा लेना। सुअर चरवा लेना, पानी भरवा लेना और खाना भी पकवा लेना। मैं तुम्हारे लिए सब कुछ करने को तैयार हूँ। इस तरह सामंती पुरुष समाज की लंपटता और उसकी सोच उपरोक्त पक्तियों में उभरती है, जहाँ वह स्त्री देह को पाने के लिए किसी भी सीमा तक गिरने को तैयार है। कुलीन ब्राह्मण होने पर भी वह दसमत के लिए ओड़िया बनकर मांस मदिरा सेवन को भी तैयार है— यहाँ उसका दोहरा चरित्र उभरता है—

आजेच खाहूँ मंदे माँस ल
काली जाहूँ नहाय
तुलसी पतर के पूजा ल कर लेहूँ
फेर बामहन होई जाहूँ।

यहाँ वर्गगत चालाकी भी उभर रही है, जहाँ पुरुष के लिए सब कुछ क्षम्य होता है। इसीलिए वह कहता है कि मैं आज तुम्हारे लिये माँस खा लूँगा, मदिरा का सेवन भी कर लूँगा। कल नहा-धोकर पूजा करके मैं फिर से ब्राह्मण हो जाऊँगा। राजा सुअर का माँस खाता है, शराब पीता है मगर उसे दसमत नहीं मिलती। तब वह बदला लेने की ठान लेता है। वह दल बल सहित ओड़िया डेरा पर आक्रमण कर देता है—

राजा के सेना ग जुरगे
 मारं-मारं जी
 धरं धरं जी पेलिक पेला
 झगड़िक झगड़ा ये जि
 बंदूक भाला ग चढ़वो
 लगगे गा हथियार जी
 खून के धार बोहावय ऐ संगी
 देखत न बनि जाय।

राजा की सेना ने आक्रमण कर दिया। घमासान युद्ध हुआ। खून की धारा बहने लगी। कुछ ओड़िया दिल्ली की ओर भागे, कुछ परपर भाटा की ओर भाग खड़े हुए। इस युद्ध में सुदन बिहड़िया मारा गया और दसमत को राजा ने बचा लिया, क्योंकि यह युद्ध तो दसमत को पाने के लिए ही हुआ। था मगर दसमत ने अपने को आग के हवाले कर दिया और राजा के हाथ आयी दसमत की राख और राजा भी अपने प्राण त्याग देता है।

इस तरह यह गाथा दसमत के साहस, उसके चातुर्य उसकी बुद्धिमता और उसके स्वाभिमान की गाथा है, जिसमें वर्तमान नारी चेतना और नारी स्वातंत्र की गूँज सुनायी पड़ती है। दसमत ने गरीब सुदन बिहड़िया के प्रेम को स्वीकारा और राजा की लंपटता का विरोध किया। उसने अपने पिता की मंशा के अनुसार भी व्यवहार नहीं किया और अपनी शर्तों पर अपना जीवन जिया। उसने अपनी बुद्धिमता के बल पर ओड़िया समाज का नेतृत्व भी किया। इस तरह इस गाथा गीत में आज के साहित्य की प्रमुख विशेषता नारी चेतना और स्त्री विमर्श की गूँज सुनाई देती है।

इस गाथा में स्त्रियाँ अपने परम्परागत खाँचे को तोड़कर अपना वजूद स्वयं गढ़ती हैं। दसमत ही नहीं राजा महान देव की रानियाँ भी राजा के विरोध में उठ खड़ी होती हैं। जब ओड़िया नशे में चूर राजा को गधी की पूँछ से बाँधकर उसका उपहास उड़ाते हैं, तब रानियाँ अपने बेटों से कहती हैं कि वे उसकी कोई सहायता न करें-

बेटा ल बरज दिन ग
 सातो रानी मन
 मे कर करा के साथ ल झन कर
 आज सात झन रानी रहिन

का कभू रहिस ग
 तेला बता
 ओड़निन खातिर अपन जिव ल गँवये तेला जान दो।

यहाँ रानियाँ भारतीय परम्परा का पालन करके अपने पति को बचाती नहीं हैं, वे उसे उसके कर्मों की सजा के लिए- उसे मरने के लिए छोड़ देती हैं। रानियों का यह रूप आज की स्त्री का रूप है परम्परागत स्त्री का नहीं, अतएव यह गाथा सही अर्थों में स्त्री के स्वाभिमान उसकी जिजीविषा, उसके साहस और उसके स्वतंत्र अस्तित्व की गाथा है।

देवार गीत दसमत कैना गायन अब लगभग लुप्तप्राय है। दसमत कैना के कई पाठ हैं, जिनमें कोई समानता नहीं है। कथा सूत्र भी बिखरा-बिखरा नजर आता है। देवार गीत गायन विशेषकर दसमत कैना गायन में श्रीमती रेखा देवार एकमात्र ऐसी गायिका हैं, जिनके गायन में कथा का क्रम नजर आता है।

अन्य लोक गाथाओं की तरह यहाँ भी दसमत की गाथा उसी अंत को प्राप्त होती है यानि आत्मघात। दसमत जैसी साहसी बुद्धिमान और कुशल नेत्री का आत्मदाह उसके व्यक्तित्व से मेल नहीं खाता। मगर गाथा यहीं समाप्त होती है। हर गाथा का अपना सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश है। दसमत कैना का भी है। फिर वह समय जिसमें ये गाथा चलती है रानियों के लिये 'जौहर' से अधिक कुछ था ही नहीं। शायद इसलिये भी। मगर फिर भी दसमत कैना की कथा आज की नारी चेतना के करीब है।

गाथा गीतों में पंडवानी यूँ तो पांडवों की गाथा है, किन्तु पंडवानी में कुछ प्रसंग ऐसे हैं जिसमें स्त्री की पीड़ा ही नहीं उसका आक्रोश और उसकी चेतना का स्वर भी उभरता है। शिक्षा, नारी चेतना नारी स्वातंत्र आदि कारणों से पंडवानी गायन में महिला गायिकाओं की एक लम्बी श्रृंखला है। पद्मश्री तीजनबाई, ऋतु वर्मा, मीनाबाई साहू, उषा बारले, स्व. लक्ष्मीबाई बंजारे, सुशीला ठाकुर, दयाबाई चेलक, कु. सावित्री ठाकुर, चैतीबाई साहू और उत्तरा कुमारी। इसके अतिरिक्त कुछ पुरुष गायक भी हैं, जिन्होंने अपने गायन के माध्यम से नारी प्रसंग विशेषकर द्रौपदी और कुंती प्रसंग उभारा है। स्व. नारायण लाल वर्मा, स्व. बोधी राम निषाद, स्व. रेवाराम साहू, खमहन लाल अस्तुरे, स्व. अघनूराम निषाद, चेतन देवांगन, प्रहलाद निषाद, ईश्वरी प्रसाद

चन्द्राकर, मनमोहन सिन्हा, पुनीत राम साहू आदि। किन्तु पंडवानी गायन में महिला गायन ही ज्यादा प्रभावशील है। आज पंडवानी को जीवित रखने और उसे लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचाने में महिला गायिकाओं का नाम लेते ही तीजनबाई और ऋतु वर्मा का नाम सहज ही सामने आ जाता है। छत्तीसगढ़ की महिलायें सरल, हँसमुख और परिश्रमी होती हैं। यहाँ पर्दाप्रथा भी नहीं है, इसलिए महिला गायन को उन्मुक्त वातावरण भी मिलता है। गायन की शैली और इनका परिधान भी इनकी गायिकी को आकर्षक बनाता है। पंडवानी गायन पूनाराम निषाद भी मानते हैं कि महिलाओं ने पंडवानी गायन में उनकी वेशभूषा उनके गायन को और प्रभावी बना देती है। जहाँ तक स्त्री से जुड़े प्रसंगों के गायन की बात करें तो स्त्री होने के नाते महिला गायिकाओं की भावनायें सहज ही स्त्री पात्रों से जुड़ जाती हैं। उदाहरणार्थ द्रौपदी चीरहरण प्रसंग को जब तीजनबाई या ऋतु वर्मा या अन्य कोई पंडवानी गायिका प्रस्तुत करती है, तब उसका प्रभाव कुछ अलग ही होता है।

पंडवानी गायन में वेदमती शैली सर्वाधिक प्रचलित शैली है। इसके अन्तर्गत भी पंडवानी गायन की दो परम्परायें मिलती हैं- मौखिक परम्परा और लिखित परम्परा।

मौखिक परम्परा के अन्तर्गत पंडवानी गायकों के पास कोई लिखित साहित्य नहीं होता। वह मूल कथाओं को श्रुति परम्परा के अनुसार सुनकर इसका गायन करता है। चूँकि ये पढ़ नहीं सकते, इसलिए शास्त्र सम्मत नहीं होता है। अतएव गायक अपनी क्षमता के अनुसार कथाओं को सुनकर उसका गायन करते हैं। इस तरह की गायिकाओं में तीजनबाई, ऋतु वर्मा, शांतिबाई चेलक, ऊषा बारले, मीनाबाई साहू, लक्ष्मीबाई बंजारे, सावित्री ठाकुर आदि उल्लेखनीय हैं।

पंडवानी में ख्यात नारी प्रसंग है- कर्ण जन्म कथा, पांडवों के जन्म की कथा, द्रौपदी वरदान की कथा, स्वयंवर प्रसंग, द्रौपदी चीरहरण, कर्ण कुंती संवाद कथा आदि।

कर्ण जन्म के प्रसंग - महाभारत के अनुसार दुर्वासा ने कुंती की सेवा से प्रसन्न होकर अभिसार मंत्र देकर कहा था कि जिस देवता का स्मरण करोगी, पुत्र प्राप्ति होगी। जिज्ञासावश कुंती ने सूर्य का स्मरण किया और कर्ण का जन्म हुआ। पंडवानी में

मंत्र के स्थान पर दुर्वासा जी के द्वारा पाँच मालायें देने का वर्णन मिलता है जो महाभारत में वर्णित कथा से भिन्नता लिए हुए है, प्रसंग भी कुछ अलग है-

‘कुंती चरचर महीना ले तै ह भोजन खवाय हस अऊ मय खाली हाथ कइसे जाँव झोला डाहर हाथ ले निकालि आऊ कथे ये ले कुंती। कुंती कथे ये काय ये महाराज - पाँच ठन माला। पाँच देवता के नाव लेके सुमिरना करबे अऊ तोर बेटा। पांच तिचार हो जाही मोर पाँच बेटा?’

*मगन कुंती होय हवे भाई
हाँस के कुंती ह जवाब देवय भाई।*

काठ की माला देखकर कुंती की जिज्ञासा बढ़ती है। यह प्रसंग गायकों द्वारा पंडवानी में बहुत ही रोचक ढंग से वर्णित किया जाता है-

नान नान कठवा के माला म ओतक रोठ रोठ लइका कइसे खुसरे हो ही बही। लइका ल निकारत नई बनिस तक माला ल घर के नदी के तट म पहुँचिस। नदी के तट म कुंती पहुँचे हवय भाई।

कुंती नदी के किनारे म सुरूज ल बलाये है।

अऊ कहे कुंती सही म लइका हो जाही हो ओ।

अऊ गरू गरू लोक हे अऊ करन असन बेटा ल जनम देहे चारों डहर कुंती देखथे ये मोर कोनो नइहे बने त रेती म दबा देवं का? ‘नहीं कुंती तोला अइसे नइ करना हे। बाल हइता स्त्री हइता गउ हइता, बेटा ल जनम देके तैं हइता करन डार के बड़इ रूप धरे कृष्ण कुंती कइसे करत हस। पेटी तियार करके अंदर में डार के बिदा करे देहे’- बंशी बजइया मोरे गाँवा चरइया ये। नदी म बोहाते पेटी चले हवे भइया।’

इस तरह कर्ण जन्म प्रसंग में महाभारत और पंडवानी में बहुत अधिक भिन्नता मिलती है। दुर्वासा द्वारा काठ की माला देना, कर्ण का कान से जन्म लेना, श्रीकृष्ण द्वारा बड़ई का रूप धारण करके कुंती की सहायता करना, सूर्य देव द्वारा कर्ण को अग्निचीर देना। ये सारे प्रसंग पण्डवानी की अपनी विशेषताएँ हैं। ये कथाएँ क्षेत्रीयता से परिपोषित हैं। छत्तीसगढ़ कृषि प्रधान प्रदेश

है, जिसमें बर्दई की महत्वपूर्ण भूमिका है। शायद इसीलिए कृष्ण का बर्दई के रूप में आकर कुंती की सहायता करना वर्णित है।

कर्ण जन्म कथा कुछ-कुछ नारी स्वातंत्र से जुड़ती है। पंडवानी में कर्ण का जन्म और उसे जल में प्रवाहित करने का निर्णय कुंती का स्वातंत्र निर्णय है। इसके साथ ही नियोग की प्रथा महाभारत एवं पंडवानी में मिलती है, जिसके अनुसार संतान प्राप्ति हेतु स्त्री का दूसरे पुरुष से संभोग मान्य है। पांडू, धृतराष्ट्र, विदुर का जन्म और पांडवों का जन्म इसी नियोग का ही परिणाम है। इसके अतिरिक्त पंडवानी में कहीं भी पुत्र जन्म के लिए किसी स्त्री को प्रताड़ित करने का कोई प्रसंग नहीं है। प्रेम विवाह को भी इस युग में मान्यता मिली है। प्रेम विवाह में भी स्त्री स्वातंत्र का पक्ष उभरता है। कृष्ण रूक्मिणी प्रसंग में रूक्मिणी स्वतः निर्णय लेती है।

द्रौपदी स्वयंवर— अर्जुन का द्रौपदी को स्वयंवर में जीतना और कुंती द्वारा पाँचों भाइयों में बाँट लेने की बात कहना। पंडवानी की कथा में भीम द्रौपदी को गठरी बाँध कर अपनी गदा में लटका कर लाता है। शायद वस्तु समझकर बाँट लेने की आज्ञा को अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए ही गदा में वस्तु की तरह लटकाकर लाने का वर्णन है। इस तरह यहाँ यह कथा महाभारत की कथा से अलग है। यहाँ कुंती बिना देखे आदेश नहीं देती, वरन गठरी में बँधी वस्तु को देखकर बाँटने का आदेश देती है। यह तथ्य पंडवानी में स्त्री को वस्तु माने जाने का अप्रत्यक्ष विरोध है।

इसी तरह द्रौपदी के पाँच पति होने के सम्बन्ध में भी पंडवानी में महाभारत से भिन्न कथा आती है, जिसमें पाँच पति का वरदान नहीं शाप दिये जाने का वर्णन है और छत्तीसगढ़ में बालिकाओं द्वारा खेले जाने वाले खेल घर घुँदिया (घर-घर) का भी वर्णन मिलता है।

दुरपती पहिली जन्म के पारबती आय। एक दिन खोर म सगा— पहुँना खेले वर घर घुँदिया बनाय रहिस। जब बरदउला नह किस त दुरपती ह खलखला के हाँसिस अऊ कामधेनु ल कइथे। दुनिया तोर पूजा करथे अऊ पाँच ठन सांड़ ल लेके धुमथस तैंहा। ओ समय कामधेनु करोध करके सराप देखे—‘मैं त जानवर के रूप म पाँच ठन सांड़ लेके धुमथव। अरे जा तोला सराप देवत हँव

द्वार के अंतिम म तोर पाँचठन पति होही, अऊ ओला लेके जंगल-जंगल तहँ घूमबे ओ बाई।’ ये दे कहके श्राप देवन लगे भइया।’

लोक गायन लोक से जुड़ा होता है, इसलिए यहाँ लोक की घटनायें, उनका परिवेश ही वर्णित होता है। यहाँ घर घुँदिया खेलना और गाँव के बीच से बरदउला (गाय बैलों का झुंड) गुजरना, इसी बात का द्योतक है।

महाभारत में इस प्रसंग को युवा द्रौपदी के वरदान माँगने से जोड़ा गया है, जो उसकी लालच और विशिष्ट की चाह से जुड़ता है। मगर पंडवानी में यह प्रसंग लोक से जुड़ता है और बालिका द्रौपदी को अबोध बताता है। द्रौपदी चीरहरण पंडवानी गायन का बहुचर्चित और लोकप्रिय प्रसंग है। द्रौपदी को दाँव पर लगाने से लेकर चीरहरण तक पंडवानी गायन में नाटकीयता अपने चरम पर होती है। द्रौपदी को दाँव पर लगाने का प्रसंग देखिये—

*धर्मराम हे तरुन दुरपती ल लगावत हे।
उठा के पासा ये जी मामा सकुनि फेंकय जी।
मामा सकुनि उठा के जब पांसा फेंकस।
मोर रानी ये दुरपती ल दाँवे लगावत हवय भाई।*

रानी दुरपती ल जब हारय भइया धरमराज हाय कहिके अपन माथा ल धरके बइठगे। तइसे हारय तुइसे दुरयोधन बइठे राहय, करन बइठे राहय खलखला के हाँसय। दुरयोधन गद्दी म बइठे रहय उछल-उछल के हाँसय। दुरयोधन चिल्ला के बोले—कोन ल बोले ग, दुसासन ल बोले — जा रानी त दुरपती ल सभा भवन म ला अऊ लाके बिना वस्त्र के मोर जांघ म बइठा —

*खुशी के मारे दुसासन चले भाई
दुरपति ल चिल्ला के
दुसासन ये दे कइसे बोलत हवै भाई।
चलो दुरपती मोर बड़े भइया के आडर हे।
जल्दी चलो सभा में बलावत हे।
जाके दुसासन कइसे बोले भाई।
कइसे मजा के ये दुसासन बोले भाई।
मोर बीर दुसासन दऊड़त हवे भाई।*

मोर दऊड़ के बाल ल पकड़य भाई।
 दुरपती हे तरून ये मुट्ठी बंधाय रहिसे येला।
 छोड़ के दूनो हाथ जोड़ के भगवान के याद करे।
 दुख हरो द्वारिका नाथ सरन में तेरी।
 मोर गरूड़ म बइठ के मोहन चले आवे भइया।
 तेला कोनों नई जानय ये भाई।

उपरोक्त पंक्तियों में युधिष्ठिर की जुये में हार के पश्चात् दुर्योधन और कर्ण-युधिष्ठिर का उपहास करते हैं और दुर्योधन-दुशासन को आदेश देता है कि द्रौपदी को निवस्त्र करके उसकी जंघा पर बैठाये। दुशासन भाई की आज्ञा पालन में महल के भीतर जाता है और द्रौपदी के विरोध करने पर उसके बाल पकड़कर घसीटते हुए सभा में लाता है। विवश द्रौपदी कृष्ण से सहायता माँगती है और कृष्ण उसकी चीर बढ़ाने आते हैं-

तैं फट जाबे धरती। मैं हा ओमा समा जाहंव।
 मोर कलप कलप के।
 माता रोवन लागे भाई। मैं ह ओमा समा जाहंव।
 दुरपती पुकार लागिंस। ये धरती माँ।

और जब दुशासन वस्त्र खींचते-खींचते थक कर चूर हो जाता है, तब द्रौपदी प्रतिज्ञा लेती है-

जब तलक दुसासन के लहू म मूड़ नई मिसिहा
 तब तलक तक खोप नइ करौं।

द्रौपदी की यह प्रतिज्ञा वर्तमान नारी चेतना से जुड़ती है। वह अपने अपमान का बदला लेने के लिए कटिबद्ध नजर आती है।

पंडवानी चंपू काव्य की तरह गाया जाने वाला गीत है, इसमें गद्य और पद्य का मिश्रण है। लोकगीत वाचिक परम्परा में होते हैं। अतएव समय के साथ वर्तमान संदर्भ भी इसमें जुड़ते चलते हैं। पंडवानी गायन में हर गायिका अपनी ओर से कुछ जोड़कर अपनी विशिष्टता को पंडवानी में शामिल करती है, ताकि उसकी पहचान औरों से अलग हो, उसकी गायिकी में कुछ नया अंदाज शामिल हो। जैसे ऋतु वर्मा अपने कथन की शैली से अपने को अलगाती हैं। और शांतिबाई चेलक अपनी गायिकी में

महाभारत की उन स्त्री पात्रों को उभारती हैं, जिनका उल्लेख महाभारत में नहीं के बराबर है। ऐसी ही पात्र हैं गांधारी।

गांधारी गांधार नरेश सुबल की पुत्री और शकुनि की बहन थी। उसे जब मालूम हुआ कि अंधे धृतराष्ट्र से विवाह उसकी नियति है, तब उसने बिना प्रतिरोध के धृतराष्ट्र को स्वीकार कर लिया और अपनी आँखों पर पट्टी बांध ली। मगर गांधारी डरपोक नहीं थी, वह निर्भीक और न्याय प्रिय थी। उसने सदा सत्य, न्याय और धर्म का समर्थन किया और वक्त आने पर अपने पति के दोषों को भी उजागर किया।

राजा धृतराष्ट्र ने जब पांडवों को दुर्योधन के कहने पर द्यूत क्रीड़ा के लिए आमंत्रण भेजा, तब गांधारी ने अपने पति का विरोध किया और कहा- स्वामी दुर्योधन जन्म लेते समय गीदड़ के समान रोने चिल्लाने लगा था। इसलिए उसी समय विदुर ने इस पुत्र के परित्याग का सुझाव दिया था। इसके दुष्कृत्यों को देखकर लगता है कि यह कुरूवंश का नाश करके ही छोड़ेगा। इस ढीठ मूर्ख की हाँ में हाँ मत मिलाइये।

महाभारत के युद्ध में कौरव वंश का समूल नाश हुआ, तब अपने वंश के नाश होने पर क्रोधित गांधारी ने कृष्ण को शाप दिया था कि तुम भी अपने यादव वंश के नाश का कारण बनोगे और अनाथ की तरह मारे जाओगे।

इस तरह गांधारी सत्य का पक्ष लेने वाली, स्वाभिमानी और नारी के पक्ष में खड़ी होती नजर आती है। द्रौपदी चीर हरण का गांधारी ने भरपूर विरोध किया था। दुर्योधन की पत्नी भी दुर्योधन को गलत काम करने से रोकती है, उसका विरोध करती है।

इस तरह पंडवानी में नारी पात्र महाभारत की अपेक्षा कुछ अलग नजर आती हैं। दरअसल पंडवानी गायन वाचिक परम्परा में है, इसलिए गायक-गायिका की कला, उसकी योग्यता और उसकी विचारधारा भी उसके गायन में समाहित हो जाती है। वर्तमान समय में नारी चेतना, नारी स्वातंत्र्य का बोलबाला है। यही कारण है कि तीजनबाई, ऋतु वर्मा और शांति बाई चेलक और अन्य गायिकाओं के गायन में यह स्वाभाविक रूप से झलक

उठती है। द्रौपदी चीरहरण प्रसंग, कीचक वध आदि स्त्री से जुड़े प्रसंगों में पुरुष गायक और स्त्री गायक की भाव भंगिमाओं का अंतर स्पष्टतः देखा जा सकता है।

इस प्रकार छत्तीसगढ़ी पंडवानी गीतों में उपरोक्त वर्णित प्रसंग वर्तमान युग में प्रचलित नारी चेतना, नारी स्वातंत्र्य की बुनियाद कहे जा सकते हैं। छत्तीसगढ़ की खुली समाज व्यवस्था इसके लिए पर्याप्त अवसर भी जुटाती है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में छत्तीसगढ़ी गाथाओं के गायन में महिलाओं को मान्यता और प्रसिद्धि मिलनी प्रारंभ हुई। आज अगर हम देखें तो गायिकाओं की संख्या निरंतर बढ़ रही है और यह पुरुषों से भी अधिक ठहरती है। इसमें नारी चेतना की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। पंडवानी गायक प्रहलाद निषाद स्त्रियों के मंच पर आने के कारणों की विवेचना करते हुए कहते हैं- इसके पीछे मुख्य रूप से तीजन बाई की प्रसिद्धि प्रकाश में आना है। नारी होकर जिन्होंने छत्तीसगढ़ का नाम रोशन किया है। दूसरा कारण नारी जागरण भी है।

मेरा मानना है कि छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में खासकर गाथा गायन में स्त्रियों की भागीदारी का महत्वपूर्ण कारण छत्तीसगढ़ का

खुला सामाजिक परिवेश है, जिसमें कला के प्रति, गायन के प्रति स्त्री के रूझान पर कोई रोक नहीं लगायी जाती है। यहाँ पर्दा प्रथा न होने के कारण स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान सहज होकर गायन कर पाती हैं। दूसरा कारण स्त्री की सहज प्रतिभा है। कथा-कथन, गीत गायन उसे नानी-दादी से विरासत के रूप में मिलती है। वह सदियों से कथाएँ कहती है। यह अलग बात है कि तब उसका मंच घर आँगन तक ही सीमित था। अब उसकी प्रतिभा को आकाश मिला और वह उसमें अबाध विचरण कर रही है।

इस पर छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में सुआ गीत, पंडवानी, ददरिया, करमा और देवार गीतों में नारी चेतना को देखा जा सकता है। यह सच है कि लोकगीतों में समय के साथ बदलाव आता रहता है, क्योंकि ये वाचिक परम्परा में होते हैं। इसलिये ये पूर्णतः गायक या गायिका की क्षमता पर निर्भर होते हैं। फिर भी मूल प्रसंग स्थिर ही रहता है। अतएव इन छत्तीसगढ़ी गीतों में नारी भावना नारी चेतना और नारी स्वातंत्र्य की झलक देखी जा सकती है। वैसे भी छत्तीसगढ़ी समाज स्त्रियों को अन्य समाजों की तुलना में अधिक स्वतंत्रता देता है। इसीलिये यहाँ के लोक गीत नारी मन और उसकी भावनाओं को विस्तार देते हैं।

सरगुजा की जनजातियाँ

डॉ. उषा वैरागकर आठले

भारत में मानव-समूहों की पहचान जाति पर आधारित होती है। भारत में जाति की व्यापकता एवं महत्त्व को बताते हुए डॉ. डी.एन.मजूमदार लिखते हैं- 'जाति-व्यवस्था भारत में अनुपम है। सामान्यतः भारत जातियों एवं समुदायों की परम्परागत स्थली माना जाता है। ऐसा कहा जाता है कि यहाँ की हवा में भी जाति घुली हुई है और तो और यहाँ के मुसलमान और ईसाई भी इससे अछूते नहीं बचे हैं।'¹ यह सच है इसीलिए भारत की जाति एवं वर्ण-व्यवस्था से परे रहने वाले परन्तु आदिम संस्कृति के धारकों का भी नामकरण कर दिया गया है, इन्हें आदिवासी या अनुसूचित जनजाति या आदिम जाति कहा जाता है। जाति और जनजाति अलग-अलग समूह की द्योतक हैं। जाति एक व्यापक सामाजिक समूह है तथा जनजाति एक स्थानीय समूह। जनजाति एक विशेष भू-भाग से सम्बन्धित होती है, जिसके सदस्य विवाह, व्यवसाय और उद्योग में दूसरे से पूर्णतः अलग होते हैं। वस्तुतः जनजाति ऐसे परिवार या परिवारों के समूह का संकलन होती है, जिसका साधारणतया एक नाम होता है, जिसके सदस्य एक निश्चित भूमि पर रहते हैं, एक-सी भाषा बोलते हैं तथा विवाह, व्यवसाय अथवा उद्योग के विषय में कुछ प्रतिबंधों का पालन करते हैं। एक निश्चित एवं स्वीकृत पारस्परिक आदान-प्रदान की व्यवस्था का उन्नयन करते हैं।²

जनजातीय संस्कृति अभी भी अन्य जातियों की संस्कृति से पुरानी और आदिम स्वरूप की है। हालाँकि जनजातियों में भी कुछ समूहों में अपनी संस्कृति का रूपान्तरण करने की स्वाभाविक प्रक्रिया आरंभ हो गई है। अन्य लोगों जैसी शिक्षा, शहरीकरण से सम्बद्ध भौतिक सुविधा सम्पन्नता तथा अन्य संस्कृतियों के साथ अंतर्क्रिया के फलस्वरूप शिक्षित जनजातीय समुदाय अपनी सीमाओं से बाहर

निकलने लगे हैं एवं अन्य संस्कृतियों के सामान्य तत्त्वों को ग्रहण कर बराबरी या समानता स्थापित करने की कोशिश कर रहे हैं, जिसे सामाजिक मानवशास्त्री संस्कृतीकरण की प्रक्रिया कहते हैं।

आज भी हमारे देश में जनजातीय संस्कृति की अपनी विशिष्ट पहचान बनी हुई है। यह अपेक्षाकृत प्राचीनतम संस्कृति है, जिसका विकास मनुष्य-सभ्यता के आरम्भिक चरणों की कहानी कहता है। हालाँकि इस संस्कृति के विकास में भी काफी लम्बा समय लगा है। इस सम्बन्ध में 'चौमासा' के तत्कालीन सम्पादक डॉ. कपिल तिवारी का कथन है- 'मेरा मानना है कि जनजातीय संस्कृति और जीवन-पद्धतियाँ किसी एक दिन में विकसित नहीं हुईं, उसके बनने में हजारों वर्षों के उनके ज्ञानानुभव का सार लगा है। जो उनके स्वप्न और स्मृतियों तक में समाया हुआ है। ये सार ही उनकी जीवन शैली, उनके आचार-विचार, अवधारणा, परम्परा और आध्यात्म, धर्म को नियंत्रित करता है। जो हमें कौतूहल लगता है, वह शायद जनजाति जीवन का कोई न कोई अनुषंग हो सकता है। उनके जीवन में उसकी कोई न कोई प्रासंगिकता आज भी बची हुई है।..... आदिवासियों का प्राकृतिक जीवन है। आदिवासी जीवन अपने आपमें एक सम्पूर्ण इकाई होता है।..... जनजातीय समूहों के जीने के अपने नियम होते हैं, उनके धार्मिक विश्वास, अनुष्ठान और आज्ञाओं का पालन वे प्रायः अक्षरशः करते हैं। उनकी अपनी एक सामाजिक, आर्थिक और आध्यात्मिक व्यवस्था है, वे उसी परिधि में रहना चाहते हैं।³ उनका जीवन पूरी तरह प्राकृतिक उपादानों पर निर्भर रहता है। वे अपनी आवश्यकतानुसार खान-पान, पहनावा-ओढ़ावा या आवास तथा धार्मिक-सामाजिक कार्यों के लिए सीधे प्रकृति से खाद्य पदार्थ, पानी, शराब, फल-फूल, पशु-पक्षी आदि प्राप्त करते हैं। औद्योगिक सभ्यता द्वारा उत्पादित वस्तुओं के प्रति उनका विशेष आकर्षण नहीं होता। उनका 'देवार' या 'बैगा' जो कहे या जो कर्मकांड करे, वही उनके लिए अंतिम सत्य होता है। वे तर्क-बुद्धि से काम लेने की बजाय पारम्परिक आज्ञाओं, प्रथाओं और कर्मकांडों के अनुसार ही जीवनयापन करते हैं। यद्यपि ये आज्ञाएँ, प्रथाएँ या कर्मकांड जटिल नहीं होते। बहुत कम सामग्री के साथ उनके धार्मिक संस्कार सम्पन्न होते हैं। उनके अधिकांश पर्व-त्योहारों में भी कर्मकांडों पर ज्यादा जोर नहीं होता। बैगा या अन्य तयशुदा लोग इस औपचारिक कर्मकांड को सम्पन्न करते हैं और शेष जनजातीय सदस्य नृत्य-

गान या खान-पान का आनंद उठाते हैं। उनका जीवन 'जियो और जीने दो' की तर्ज पर सम्पन्न होता है। आदिवासी समुदायों के विभिन्न स्तरों पर जीने वाले समूह, जो जंगल या पहाड़ पर निवास करने वाले, स्थानान्तरित कृषि, शिकार या खाद्य-संग्रहण करने वाले हैं, वे अपनी पारम्परिक जीवन शैली तथा अपने काम के तरीकों को नहीं बदलते। वे नम्र और अल्पसंतोषी होते हैं। इनके परिवार प्राचीन प्रथाओं से बंधे होते हैं। उनका अपने शक्तिशाली परमात्मा के विधानों पर अटूट विश्वास होता है। उनका सर्वशक्तिमान के प्रति यह गहरा विश्वास और आदर किसी भी चीज के प्रति हो सकता है, जैसे - एक पत्थर का टुकड़ा, कोई पशु, कोई नदी, पहाड़, जंगल या कोई विचार।⁴

सरगुजा में भी कमोबेश यही स्थिति दिखाई देती है। हालाँकि इतिहास गवाह है कि सरगुजा में जनजातियों ने हमेशा अपने अस्तित्व को बनाए रखा था। 'सरगुजा का अतीत युग इतिहास में गौरवमय प्रतीत होता है। इसे अरण्य प्रदेश भी कहा जाता था। इसके जंगल और पहाड़ यहाँ की आदिम जातियों को हमेशा स्वतंत्र रखने में सहायक रहे हैं। उन्हें आर्य विजेता, अफगान और मुगल बादशाह न जीत सके और न वश में ला सके थे। अंग्रेजी शासन में इनकी स्वतंत्रता संकुचित हो उठी थी। उसे तोड़ने के लिए उन्होंने शासन के विरुद्ध बगावत भी की थी, पर असफल रहे।⁵ सन् 1941 की जनगणना के अनुसार उस समय सरगुजा में कुल गाँवों की संख्या 1741 थी। सरगुजा राज्य की 'ओरिजिनल सर्वे एण्ड सेटलमेंट ऑपरेशन' की अंतिम रिपोर्ट के अनुसार तत्कालीन जनसंख्या 501939 थी, जिसमें गोंड, कँवर, रजवार, भुईहार, कोरवा, मझवार, उराँव, भुइयाँ, कोड़ाकू, कोल, अगरिया, मुंडा, संधाल, चीक, बिंझवार, नागवंशी, खैरवार आदि जनजातियाँ तथा गैरआदिवासी जातियों में ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ, अग्रवाल, बनिया, अहीर, कोईर, कुनबी, हलवाई, कुम्हार, कहार, सोनार, नाई, जायसवाल, केशरवानी, कलार, तेली, कोलता, मुसलमान, धोबी आदि निवास करते थे।⁶

सामाजिक दृष्टिकोण

फादर जोन लकड़ा ने जनजातियों के निम्नलिखित सामाजिक कार्यों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है, जो उनकी विशेष सामाजिक मान्यताओं को रेखांकित करता है -

प्रत्येक परिवार का अपना घर, बारी, खेत आदि है। परिवार अपना काम-धंधा स्वयं सम्भाल लेता है। लेकिन कुछ काम ऐसे हैं कि उसे अकेला परिवार नहीं सम्भाल सकता है। टूटे हुए बाँध को तुरंत मरम्मत करना, जंगल से धरना लाना, रोपा रोपना आदि के लिए पूरे गाँव की मदद की जरूरत होती है। वे संगत द्वारा यह मदद करते हैं। उसी प्रकार शादी-ब्याह के समय लकड़ी, पत्ती, मड़वा लाने से लेकर भोजन तैयार करने, परोसने तक पूरे गाँव के सहयोग की आवश्यकता होती है। यह मदद गाँव वाले सहर्ष देते हैं। मछली मारने या शिकार खेलने जैसे मनोरंजन का काम पूरे गाँव के सहयोग से ही सफल हो सकता है। साझा मेहनत का फल आपस में बाँटा जाता है।

गाँव में किसी भी प्रकार का उत्सव मनाना सामूहिक होता है। आदिवासियों में व्यक्तिगत स्तर पर उत्सव मनाने के कोई मायने नहीं हैं। मौसमी त्योहार या शादी-ब्याह के अवसर पर या अन्य दिनों में सिर्फ मनोरंजन के लिए नाचना, गाना, बजाना सामूहिक होता है। शादी के अवसर पर तो खाना-पीना भी सामूहिक होता है। शादी के अवसर पर इतने-इतने बारातियों और न्योथारियों को खिलाना-पिलाना घर मालिक को बहुत भारी पड़ सकता है। इसलिए सभी न्योथारिया अपने साथ कुछ चावल, दाल और हँडिया भी लाकर शादी घर वालों को मदद स्वरूप सौंप देते हैं।

सभी परिवारों में घरेलू व्यवहार की सभी चीजें, विशेषकर बिरले ही व्यवहार में आने वाली चीजें (जांता, सीढ़ी, सिलोट, कोल्हू) उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी परिस्थिति में जरूरतमंद व्यक्ति दूसरों से उन चीजों के प्रयोग की माँग कर सकता है और माँगने वालों को दे दिया जाता है। सहर्ष देने वालों को नेक समझते हैं और बेवजह आनाकानी करने वालों या नहीं देने वालों को अच्छा नहीं समझा जाता है।शहरों में इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

समुदाय में एक-दूसरे के दुःख, विपत्ति आदि में सम्बेदनशील होना भी आदिवासी आध्यात्मिकता का उत्तम उदाहरण है। मौसम विशेष में गाँव के युवक-युवतियाँ संध्या समय मिलकर मनोरंजन के तौर पर नाच-गान करते हैं। यदि उनको खबर मिली कि गाँव ही में कोई व्यक्ति गंभीर रूप से बीमार है या किसी परिवार में मृत्यु हो गई है तो वे लोग नाच-गान का अपना कार्यक्रम

रद्द कर देते हैं। इस प्रकार वे बीमारों के प्रति मानवीय-संबेदन या सहानुभूति प्रकट करते हैं। मृतक के परिवार वालों को सांत्वना देने के लिए सप्ताह भर गाँव का कोई न कोई व्यक्ति आकर थोड़ी देर बात कर या मृतक की विशेषताओं के विषय में बात कर वापस चला जाता है।आदिवासी प्रायः सब कुछ सामूहिक रूप से करते हैं, लेकिन ताज्जुब की बात है कि वे सामूहिक रूप से प्रार्थना नहीं करते हैं। सामूहिक पूजा में भाग लेते समय भी वे सामूहिक प्रार्थना नहीं करते हैं। सिर्फ पाहन ही सबके नाम पर प्रार्थना करता है।

आदिवासी समाज में एक-दूसरे के लिए बाँटने की बहुत सुंदर प्रथा है। वे बड़ी या कीमती चीजें तो नहीं बाँट सकते, लेकिन वे छोटी सस्ती चीजें, जो उनके पास हैं, बाँटने का आंतरिक आनंद लेते हैं। किसी परिवार में यदि नई सब्जी या विशेष तरकारी पकाई गई है तो अपने पड़ोसी के लिए भी एक दोना पहुँचा दी जाती है, ताकि वे भी इसका स्वाद ले सकें। उसी प्रकार यदि कोई मेहमान आये तो उसको विदा देते समय खाली हाथ नहीं भेजते हैं, लेकिन कुछ अन्न, फल या कंद उसके अचरा में अवश्य बाँध देते हैं। शिकार खेलने के बाद जो भी शिकार उनको मिलता है, उसे वे आपस में बाँट लेते हैं। सभी शिकार खेलने वालों को अपना हिस्सा मिलता है, लेकिन यदि किसी परिवार में शिकार खेलने लायक कोई वयस्क पुरुष नहीं है, विधवा माँ का शायद एक नन्हा-सा बच्चा है तो उस नन्हें बच्चे को भी हिस्सा दिया जाता है, ताकि विधवा माँ भी गाँव के आनंद में सहभागी हो सके। उनका तर्क है कि यह नन्हा बच्चा बढ़कर शिकार खेलने जाएगा ही। जहाँ तक पीने का सवाल है, आदिवासी शायद ही अकेले पीते हैं। बाँटकर पीने ही में उनका असल आनंद है।

आदिवासी संस्कृति में अतिथि सत्कार के लिए उनके पैर धोना बहुत ही भावपूर्ण और अर्थपूर्ण प्रथा है। यहाँ पैर धोने का काम कोई तुच्छ काम नहीं है, यह काम किसी नौकर या धांगर के द्वारा नहीं किया जाता। चूँकि यह अधिक प्यार और आदर-सम्मान का चिह्न है, अतः यह काम परिवार में माँ जैसे किसी प्रियजन के द्वारा किया जाता है। यह प्रथा अतिथि का स्वागत करने उसे ग्रहण करने और उसे आदर देने का प्रतीक है। पैर धोना दिल के प्रेम की अधिकता को दर्शाता है।⁷

इस दीर्घ उद्धरण द्वारा स्पष्ट होता है कि मनुष्य मात्र को मनुष्य मानकर उस पर प्रेम करना, बराबरी का व्यवहार करना तथा परस्पर भावनात्मक दृढ़ता बनाए रखना भी उनकी सामाजिकता है। यहाँ कहीं भी हमें व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं, बल्कि सामूहिक सद्भाव दिखाई देता है। हालाँकि सुदूर ग्रामीण इलाकों में अन्य जातियों में भी उपर्युक्त विशेषताएँ मिलती हैं, परंतु जनजातियों जैसी पारम्परिकता तथा लोकविश्वासों के प्रति दृढ़ आस्था उनमें कम दिखती है। अन्य जातियाँ भौतिक विकास या समृद्धि की ओर आसानी से आकर्षित हो जाती हैं, परंतु आदिवासियों की अपनी जीवन शैली के कारण उनका मनो-सामाजिक आकर्षण इस ओर जल्दी नहीं हो पाता। उनकी अन्य विशेषताओं पर टिप्पणी करते हुए प्रसिद्ध मानवशास्त्री नदीम हसनैन ने लिखा है - ' भारतीय जनजातियों के बहुत से विशिष्ट लक्षण हैं। उनके युवागृह, बालकों एवं बालिकाओं में संस्थागत शिक्षा की अनुपस्थिति, जन्म, विवाह तथा मृत्यु के सम्बन्ध में विशिष्ट प्रथाएँ, हिंदुओं और मुसलमानों से भिन्न नैतिक संहिता, धार्मिक विश्वासों की विशिष्टताएँ जनजातियों को अन्य जातीय मान्यताओं से भी भिन्न करती हैं।'⁹

धार्मिक दृष्टिकोण

जनजातीय समूह अपने रहन-सहन और रीति-रिवाजों में गैरआदिवासी समूहों से पृथक् दिखाई देते हैं। अभी भी अपनी आदिम विशेषताएँ उन्होंने जीवित रखी हैं। वे आज भी अपने रीति-रिवाजों के प्रति एकनिष्ठ हैं, वे उनसे पृथक् नहीं होना चाहते, इसीलिए उनकी सोच और जीवन का दायरा अभी भी काफी संकुचित है। वे प्रकृति सम्बन्धी वैज्ञानिक खोजों से अवगत नहीं हैं, अतः प्रकृति उनके लिए आज भी आश्रय-स्थल है और वे उसकी आराधना करके उसे अपने अनुकूल रखना चाहते हैं। प्राकृतिक संसाधनों को देवतातुल्य मानकर पूजा-पाठ करना और उनकी कृपा बनी रहने के लिए आराधना करना आदिम धर्म की विशेषता है। सरगुजा के आदिवासियों में दो प्रकार की पूजा-विधियाँ प्रचलित हैं - श्वेत पूजा और रक्तपूजा। श्वेतपूजा में सिर्फ नारियल और चावल से पूजा की जाती है, परन्तु रक्तपूजा में पशु-पक्षियों की बलि देकर देवी-देवताओं को प्रसन्न करने की कोशिश की जाती है। पूजा न करने पर उन्हें डर लगता है कि देवता नाराज होकर उन्हें नुकसान पहुँचाएंगे।

सरगुजा जिले में अनेक आदिवासी समूह या जनजातियाँ हैं, वे भले ही अलग-अलग हों, परंतु गैरआदिवासियों से पृथक् पहचाने जा सकते हैं। खासकर उनके धार्मिक विश्वासों पर आधारित जीवन का तरीका लगभग एक-सा दिखाई देता है। जनजातियों के धार्मिक जीवन की प्रमुख विशेषता यह है कि इनके देवी-देवताओं में समानता है। सूर्य का देवता, पृथ्वी का देवता, पहाड़ों का देवता, नदी-नालों का देवता तथा कृषि का देवता आदि। इनके नाम अलग-अलग जनजातियों में भले ही अलग हों, परंतु सभी जनजातियों के देवी-देवताओं सम्बन्धी विचारों में अद्भुत समानता देखने को मिलती है।¹⁰ इस प्रवृत्ति को प्राकृतिक उपादानों के प्रति सम्मान प्रकट करने का तरीका भी कहा जा सकता है। आदिवासी समूहों के प्रकृति पर आश्रित जीवन को देखते हुए यह बात कही जा सकती है।

सरगुजा के जनजातियों में धर्म सम्बन्धी एक अन्य विशेषता यह भी दिखाई देती है कि प्रायः सभी जनजातियाँ भूत-प्रेतों तथा अपवित्र आत्माओं में गहरा विश्वास रखती हैं। उनकी मान्यता है कि ये आत्माएँ बीमारी, सूखा तथा अन्य विपत्तियों को उत्पन्न करती हैं। अतः इन आत्माओं को भगाने के लिए ये बैगा अथवा गुनिया की सहायता लेते हैं। प्रत्येक जनजाति का अपना बैगा होता है, जो पुरोहित भी माना जाता है तथा वह झाड़-फूँक द्वारा बुरी आत्माओं को भगाता है। इसी प्रकार प्रायः सभी जनजातियों में टोने-टोटके को भी माना जाता है। किसी भी प्रकार की बीमारी या कष्ट होने पर वे यह विश्वास करते हैं कि यह कार्य किसी 'टोनेही' द्वारा किया गया होगा। टोनेही का संदेह गाँव की बूढ़ी अथवा विधवा स्त्रियों पर किया जाता है।¹⁰ ऐसा शायद इसलिए भी किया जाता है, क्योंकि बूढ़ी अथवा विधवा स्त्री अन्य लोगों से असामान्य जीवन जीती हैं, समाज द्वारा उपेक्षित होती हैं, उसे प्रेम, करुणा या आत्मीयता ठीक से नहीं मिल पाती, जिसके फलस्वरूप असंतुष्टि उसका स्थायी भाव हो जाता है। वे हमेशा बड़बड़ाती रहती हैं, दूसरों को भला-बुरा कहती रहती हैं। इसलिए संदेह की नोक उनकी ओर ही झुकती है। बूढ़े या विधुर पुरुष के साथ समाज पृथक् व्यवहार नहीं करता, इसलिए उनमें यह समस्या प्रायः नहीं दिखाई देती। अतः उनका नाम जादू-टोने के साथ नहीं जोड़ा जाता, परंतु झाड़-फूँक करने वाले बैगा प्रायः पुरुष ही होते हैं।

आर्थिक दृष्टिकोण

जनजातियों का आर्थिक दृष्टिकोण अन्य जातियों के लोगों से पृथक दिखाई देता है। अभी भी संचय की प्रवृत्ति इनमें अपेक्षाकृत अन्य समाजों की तुलना में कम दिखाई देता है। 'यदि आज खाने को है, तो कल की चिंता क्यों करें'- यहाँ के लोगों का यह सिद्धांत है। लोगों की जरूरतें भी बहुत कम हैं, जिनकी पूर्ति सहज ही की जा सकती है। सरगुजा का आदिम समाज चार्वाक के भौतिकवादी दर्शन का अनुयायी है।¹¹ सुप्रसिद्ध विद्वान श्री प्यारेलाल गुप्त के इस उद्धरण से कुछ अलग बात सरगुजा में दिखाई देती है। आदिवासी अपनी पारम्परिक सोच में शराब, जिसे वे हँडिया (चावल की शराब) तथा महुआ की घर में बनी दारू कहते हैं, पीना पसंद करते हैं। अन्य विधियों से बनाई या बोटलबंद खरीद कर लाई गई

शराब को वे अच्छी निगाह से नहीं देखते। सभी के घरों में गिना-चुना सामान, बरतन एवं कपड़े होते हैं। आदिवासियों की यह अल्पसंतोषी प्रवृत्ति उनकी जातीय विशेषता के रूप में उनमें गहरे तक पैठी होती है। अनेक पढ़े-लिखे, नौकरीपेशा जनजातीय परिवारों में आज भी आपको न्यूनतम सामान दिखाई देगा। उसमें सरलता, उदारता एवं उपभोक्तावाद के प्रति उदासीनता दिखाई देगी।

हालाँकि धीरे-धीरे अब जिन आदिवासी समूहों की दूसरी या तीसरी पीढ़ी अपने समूह और मूल स्थान से दूर रह रही है, उनमें अपनी जातीय विशेषताओं का आग्रह और आकर्षण लुप्तप्राय होता जा रहा है। देश की औपचारिक शिक्षा-पद्धति सभी लोगों को एक जैसा बनने की ओर प्रेरित करती है। सरगुजा में जनजातियों की नई पीढ़ी में भी आसपास के बदलावों का असर दिखने लगा है।

संदर्भ

1. D.N.Majumdar : Races and Cultures in India – p. 355
2. एम.एल.गुप्ता एवं डी.डी. शर्मा : समाजशास्त्र – पृ. 546
3. डॉ. कपिल तिवारी : आशीर्वचन : आदिवर्त : छत्तीसगढ़ की जनजातियाँ- वसंत निरगुणे पृ. 01-02
4. Dr.Nityanand Patnaik : Folklore of Tribal Communities – p. 01-02
5. डॉ. सचिन मांडिलवार : सरगुजा दर्शन – पृ. 94-95
6. फादर जोन लकड़ा : आदिवासी आध्यात्मिकता : एक जीवन शैली – पृ. 52-56
7. नदीम हसनैन : जनजातीय भारत – पृ. 17
8. डॉ. सचिन मांडिलवार : सरगुजा दर्शन – पृ. 77
9. डॉ. मंजू त्रिपाठी : छत्तीसगढ़ की राजतंत्रीय व्यवस्था : सरगुजा समूह की रियासतें – पृ. 179
10. डॉ. सचिन मांडिलवार : सरगुजा दर्शन – पृ. 89

मालवी काव्य में प्रकृति

डॉ. कमलकिशोर वर्मा

यह सर्वविदित है कि मनुष्य प्रकृति की गोद में जन्म लेता है और प्रकृति की गोद में ही सदा के लिये अपनी आँखें मूँद लेता है। प्रकृति ने अपने अनेक उपहारों द्वारा मनुष्य को समृद्धशील बनाया है। कुएँ, तालाब, नदी, झील, पेड़-पौधे, बाग-बगीचे, वन, लहलहाते खेत, फल-फूल, पत्ते, वनस्पति आदि सभी कुछ प्रकृति की देन हैं। मनुष्य ने अपने तात्कालिक लाभ के लिये प्रकृति को घोर आघात और नुकसान पहुँचाया है। हरे-भरे पेड़ काटे जा रहे हैं। मोटर-वाहनों का धुआँ एवं कार्बन-मोनो ऑक्साइड हमारे स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डाल रहे हैं। बड़े-बड़े कारखानों का गंदा जल नदियों को प्रदूषित कर रहा है।

पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या पूरी धरती पर चिंता का विषय बनी हुई है। हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य कवियों/ साहित्यकारों पंत, निराला, प्रसाद, दिनकर आदि सभी ने प्रकृति को लेकर कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। मालवा जनपद के कवियों ने भी अपनी जीवन्त अभिव्यक्ति मालवी बोली में प्रदान की है। लोक-जीवन और प्राकृतिक वैभव से भरपूर अनेक रम्य चित्र स्थायी कवियों ने अपनी रचनाओं में उकेरे हैं-

पीपल कर पात-सी आई परबाती
कमलणी का ब्याव सारू जाग्या रे बाराती
विन्ध्या का माथा पे चंदन उग्यो रे
अब बेगा-बेगा चालो।

- श्री नरहरि पटेल

आसमानी बादलों को रंग बदलते कविता 'मौसम मन भावणों' की झलक दर्शनीय बन पड़ी है-

आसमानी बादलों ने लीली-लीली धरती
छोटी-मोटी बदली दिखे हरती-फिरती
समन्दर पे जइरी, पानी भरी ने लइरी
भिजाँयो रे आज घर आँगणो
चौमासो अइग्यो सुहावणो।

- श्री टीकमचंद भावसार बा

'गजरो' में छोटे-छोटे बाल गोपाल बरसात की अगवानी किस तरह कर रहे है? झलक देखिए-

कोट पे झालर लगी गई खाँखरा का पात की
बाल ने गोपाल अगवानी करे बरसात की
बेन-बेटी कने उनका पियर के लइ चली
बोल काँ तन के मारौं, जद सबर के लइ चली।

- डॉ. शिव चौरसिया/ श्री मोहन सोनी

कि सुणो धरती वाला-धरती सरको धीरज राखो
ने थोड़ो तमारी करनी को फल चाखो।
तमने म्हारा बदल को सींचा हुआ झाड़ काट दिया
जंगली चोपायना खे मारी ने छाँट दिया,
बादल रीझों ने भींजे तो कैसे भींजे?

- श्री आनंद राव दुबे

इसी प्रकार धीरज के साथ अपना धर्म पालन करते हुए कवि वृक्षारोपण की बात इस तरह कर रहे हैं-

तो धीरज से धरम करम जगाओ,
नवा पौधा लगाओ।

हरियाली के साथ इंसानों की जिंदगी को सुखी व्यतीत करते देखा गया है-

जदे झूमि ने अपनी मस्ती में बायरो चले
तो झाड़ हुण की हरी-भरी डाल घणी हले
ने ले रई ने पत्ता हुण असी केवे
के हरयाली में सबकी जिनगी घणी सुखी रेवे।
झाड़ हुण का बिना मनक जिनगी की नी चलेगी गाड़ी,

यो बिचारी ने मत मार जो एक भी हरा गोड़ पे कुराड़ी।

- श्री बालमुकुन्द

इन कवियों ने प्रकृति-सुन्दरी के अनेक रूपों का वर्णन अपनी रचनाओं में किया है और बिगड़ते हुए पर्यावरण पर अपनी पुरजोर चिंता जताई है। लगातार हो रही पेड़ों की कटाई ने हमारे पर्यावरण को बुरी तरह प्रभावित किया है। लगातार हो रही कम बारिश के कारण हमारी पैदावार प्रभावित हुई है। जनसंख्या वृद्धि के कारण आवास समस्या विकराल रूप ग्रहण कर चुकी है। प्राकृतिक संतुलन गड़बड़ा गया है। वर्षाकाल में श्रावण की शोभा को मालवी कवि ने देश को हँसता-गाता बतलाते हुए कहा है -

बादल उट्या बंसरी बाजी, सावण बन में छायो
भोली बहना उभँगी ऊने गीत रसीलो गायो
हरियाली देखी-देखी ने सबका मन लेहराया
झूलो पीपल डाल बंध्यो, पंचरंग लहरिया लहराया
होड़ की बादल से इनका काला रूपाया ई केस
यो हँसतो गातो म्हारो देश।

- मोहन सोनी

हमारी पुरातन परम्परा में ज्वार-बाजरे की रोटी, सरसों का साग हमारे खाने का जायका मजेदार बना देते थे। प्रकृति का खुला वातावरण कवि को किस प्रकार मन भावन लग रहा है। बानगी अवलोकनीय है-

जरा खली हवा में तो आवो
जुवार-बाजरा की रोटी खावो
देखो खेत में बिखर्यो हे धान
कोयल का हुई रहा है मीठा गान
मस्ती से मोर नाच रह्यो हे
घर आँगण सब लिप्या-पुत्या है
छकड़ा में नवा नार्या जुत्या है।

प्रकृति में चौमासे के आने पर काली बदली के घिर जाने और धरती पर मोती बरसाने की हृदय छूती झाँकी इस रचना में देखें-

कारी बदरी घिर-घिर आवे,
धरती पर मोती बरसाये

मरता ने अमरत पायो
आयो रे चौमासो आयो ।

- श्री हरीश निगम

मालवी कविता में जनसंख्या वृद्धि की ओर हमारा ध्यान
आकर्षित करते हुए कवि कहता है कि-

धीर धर्यो धरती माता को,
बढ़तो जइर्यो भार रे
हुई धरती छोटी मनक घणा रे,
बढ़ी रिया परिवार रे। मनक्या जरा विचार रे?
सड़क साँकड़ी हुई सेर की
घर गाँव से सटी गया
कुटम्ब कबीला जइ टूट्या
तो जंगला रूखड़ा कटी गया
झाड़ कट्या रूठी हरियाली
बिरखा की अद्वार रे। मनक्या जरा विचार रे?

- श्री आनंद राव दुबे

मालवी कवि ने वृक्षों को न काटने तथा अवसर मिलने पर
हमें वृक्षारोपण करने की प्रेरणा दी है-

हरा-भरा झाड़ काटने का
कदी नी करना चाइये सौदा
मोको मिलतेज लगाणा चइये
नवा-नवा झाड़ और पौदा ।

- श्री बालमुकुन्द बंशी

मालवी कवियों ने फल-फूल, पत्ती, नदी, झरना, उद्यान
आदि विषयों पर अनेक रचनाएँ लिखी हैं। एक कविता दर्शनीय
है-

हवा चले यहाँ ठंडी-ठंडी अमरत ऊपर से
सदा यौँ चौमासो बरसे
इन देस में देव सरग का आणे के तरसे
हमारे लगे घणी प्यारी
या 'पगडंडी' हमारी ।

- श्री नरेन्द्र सिंह

मालवा का लोक पर्व - संजा

प्रकाश कड़ोतिया

मालवांचल मध्यप्रदेश का हृदय स्थल है। यहाँ के अनुकूल प्राकृतिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं सामाजिक वातावरण के साथ ही वहीं लोक संस्कृति, लोक साहित्य एवं लोक संगीत भी समृद्ध है। लोक संगीत के अंतर्गत गीत, वाद्य एवं नृत्य से विभिन्न उत्सवों पर जन-आनंद अभिभूत होता है। मालवांचल में लोक कथाएँ, लोक पर्व आदि उसी तरह व्याप्त हैं, जिस तरह अन्य अंचलों अथवा अन्य प्रदेशों में। इनमें एक लोक पर्व है - संजा लोक पर्व!

मालवांचल में संजा-पूजन श्राद्ध पक्ष में हर वर्ष भादव माह की पूर्णिमा से आश्विन माह की अमावस्या तक किया जाता है। यह पर्व बालिकाओं द्वारा बड़ी आस्था एवं उमंग से मनाया जाता है। प्रतिदिन शाम को गोबर और मौसम की फूल-पत्तियों से संजा मांडी (बनायी) जाती है तथा सामूहिक रूप से संजा-गीत गाये जाते हैं। आरती-पूजन सम्पन्न किया जाता है। बालिकाओं द्वारा संजा-आकृतियाँ प्रतिदिन बदल-बदलकर बनायी जाती हैं। संजा के सोलह दिन तक गीतों को गाकर प्रतिदिन आरती की जाती है और प्रसाद बाँटा जाता है। संजा पूरे पर्व मालवांचल में कुँवारी-कन्याओं एवं किशोरियों द्वारा बड़ी आस्था के साथ मनाया जाता है। मालवा की भाँति अन्य अंचलों एवं प्रदेशों में संजा को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है, जैसे - निमाड़ में- संझा फूली, बुन्देलखण्ड में- सुअटा पर्व, राजस्थान में- संझया, महाराष्ट्र में- गुला बाई, हरियाणा में - सांझी झूला, मिथिला प्रदेश में- सांझी झूला।

संजा लोक-पर्व में चित्रकला, कविता, मूर्तिकला एवं गीत-संगीत का मधुरम समावेश है। इस पर्व का हर कलाकर्म अनूठी छाप छोड़ता है। संजा का बनाना या माँड़ना, चित्रांकन करना, सजावट करना सभी का अपना-अपना महत्त्व है।

संजा लोक-पर्व का महत्त्व अलग-अलग अंचलों एवं प्रदेशों में कथाओं के आधार पर लोक आस्थाओं के साथ बहुआयामी है, जो सम्बन्धित स्थान की परम्पराओं में निहित है।

इस सांस्कृतिक त्योहार को कुँवारी लड़कियाँ अच्छा 'वर' पाने के लिए संजा पूजन एवं व्रत-उपवास के माध्यम से करती हैं। जिस प्रकार पार्वती जी ने भगवान शंकर को संजा व्रत के द्वारा प्राप्त किया था, उसी प्रकार अच्छे वर की चाहत में संजा पूजन हर वर्ष श्राद्ध-पक्ष में बड़ी आस्था के साथ करती हैं। राजस्थान में एक लोक गाथा के आधार पर लंगड़ा खोड्या ब्राह्मण और संझया नामक की कन्या के विवाह का उल्लेख है। दोनों के लग्न होने पर संजा ससुराल में जो यातनाएँ और तानाकशी सहन करती है, उसी का वर्णन संजा के साहित्यिक एवं सांगीतिक माध्यम से उजागर होता है।

मालवांचल में मुख्य रूप से उज्जैन में- यह संजा लोकपर्व बड़ी आस्था से मनाया जाता है। पुराने शहर के गली मोहल्लों में जैसे- अब्दालपुरा, जयसिंहपुरा एवं उर्दूपुरा में आज भी संजा की मनोहारी आकृतियाँ बनाई जाती हैं एवं सोलह दिवसों तक पूजन-अर्चन किया जाता है।

संजा आकृति बनाने के लिए सर्वप्रथम गाय का गोबर लाकर आँगन की कच्ची या पक्की दीवार पर कैनवास बनाया जाता है और उसी के अंदर हर दिन संजा की अलग-अलग आकृति रीति-रिवाज के अनुसार बनाई जाती है। संजा गीत गाकर पूजन किया जाता है। सर्वप्रथम कैनवास के अंदर एक तरफ चाँद-सूरज की आकृति और दूसरी तरफ ध्रुव तारा बनाई जाती है, जो सोलह दिन तक रोजाना बनायी जाती है। विभिन्न क्षेत्रों में संजा की आकृतियों को स्थानीय प्रभावों के अनुसार बनाया जाता है।

सोलह दिन की आकृतियाँ इस प्रकार हैं-

चाँद-सूरज एवं ध्रुव तारे की आकृति प्रतिदिन अनिवार्य बनाई जाती है।

पहला दिन - चाँद-सूरज और पंखा, दूसरा दिन- बिजोरा या पूनम पाटला, तीसरा दिन- घेवर या छबड़ी, चौथा दिन- चौपड़ (एक प्रकार का खेल) या बिजोरा, पाँचवा दिन- कुँवारा-कुँवारी या घेवर, छठा दिन- छबड़ी या चौपड़, सातवाँ दिन - सातिया

(स्वस्तिक) या सप्तऋषि, आठवाँ दिन- आठ पंखुड़ी, नौवाँ दिन - डोकरा-डोकरी (बूढ़ा-बूढ़ी), दसवाँ दिन- दीपक या पंखा, ग्याहरवाँ दिन - केल का पेड़, बारहवाँ दिन - खजूर का पेड़ या घुघरा, तेरहवाँ दिन -पंखा या रिद्धि-सिद्धि, चौदहवाँ दिन- किला कोट या खोड्या ब्राह्मण, पंद्रहवाँ दिन- किला कोट या जाड़ी जसोदा-पतली पेमा, सौलहवाँ दिन- किलाकोट (अमावस्या)।

इन सभी आकृतियों को हर दिन अलग-अलग रूप में सुन्दर फूल-पत्तियों एवं चमकीली पन्नी द्वारा निर्मित किया जाता है। रोज आकृतियों को मिटाकर दूसरे (अगले) दिन की सामग्री में मिला दिया जाता है और पुनः आकृति बनाई जाती है। बड़े उत्साह के साथ अबोध कन्याएँ एवं स्वप्नशील-महिलाएँ हर शाम संजा की आरती-पूजन करती हैं। संजा के गीत गाकर प्रसाद वितरित करती हैं। संजा के गीतों को सभी सहेलियाँ एक साथ एकत्रित होकर क्रमवार गाती हैं। विवाह होने के पश्चात महिलाएँ प्रथम वर्ष उनके मायके में आकर संजा पर्व को मनाती हैं। संजा को उजमने (मनाने) अवश्य आती हैं, और संजा का आभार व्यक्त करती हैं कि आपके आशीर्वाद से अच्छा पति मिला है। सोलह दिन पूजन-अर्चन कर सुसुराल चली जाती हैं।

संजा की आकृति-भित्ति चित्र, भित्ति अंलकरण, लोकगाथा एवं संजा लोक गीत का वर्णन- मध्यप्रदेश आदिवासी लोककला अकादमी, भोपाल (म.प्र.) के माध्यम से डॉ. शिवकुमार 'मधुर' ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

भाषा-प्रभाव

सम्पूर्ण मालवांचल के लोकांचल में संजा गीतों को ग्रामीण एवं शहरी स्थानों में मालवी भाषा (बोली) में ही गाया जाता है। अलग-अलग प्रांत के अनुसार भाषा एवं बोली का महत्त्व होता है। मालवी बोली में 'श' अक्षर नहीं बोला जाता है। बल्कि सभी 'स' बोले जाते हैं। अनेक मालवी शब्दों को संजा गीतों के नीचे 'सहज' के अंतर्गत स्पष्ट किया गया है।

संजा में संगीत का स्वरूप

संजा गीतों में शास्त्रीय संगीत विश्लेषण के आधार पर प्रमुख दो, तीन एवं चार स्वर ही उपयोग में मिलते हैं। शास्त्रीय संगीत के नियमों के अनुसार किसी भी राग में कम से कम पाँच

स्वर होना आवश्यक होता है, तभी किसी राग का निर्माण हो सकता है। कहीं एकाध संजा-गीत में पाँच स्वर मिलते हैं, लेकिन राग का स्वरूप राग के चलन के अनुसार स्पष्ट नहीं होता है। कहीं-कहीं कुछ रागों का आभास जरूर होता है, जैसे- शिवरंजनी एवं जयजयवंती आदि। संजा-गीतों में ध सा रे ग स्वर समुदाय अधिक और सा रे स्वर-समुदाय सबसे कम मिलता है। स्वरों का उपयोग मंद सप्तक और मध्य सप्तक के म या प स्वरों तक ही निहित है। तार सप्तक के स्वरों का उपयोग किसी भी गीत में नहीं पाया जाता है।

ताल-विवेचन

ताल के संदर्भ में विवेचना करने पर प्रमुख ताल- दादरा, कहरवा एवं दीपचंदी का उपयोग ही मिलता है, जिनका वर्णन इस प्रकार है -

ताल दादरा - छह मात्रा की होती है -

1	2	3	4	5	6
धा	धी.	ना	धा	ती	ना
ग			0		

ताल कहरवा-आठ मात्रा की होती है-

1	2	3	4	5	6	7	8
धा	गे	न	ति	न	क	धि	न
ग				0			

ताल दीपचंदी-चौदह मात्रा की होती है -

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
धा	धिं	s	धा	धा	धिं	s	ता	तीं	s	धा	धा	धिं	s
ग				2					0				3

इस प्रकार संजा गीतों में ताल-विवेचन के अनुसार दादरा, कहरवा और दीपचंदी तालों का उपयोग ही मिलता है।

पहला - संजा गीत

पेली आरती पेली आरती
रई रमझोल रई रमझोल
भई रे भतीजा की अबछब जोड़
संजा! थने पूजूं चंपाकलियाँ
सिंगासन मेलूं सांटो
तम लो संजा बई बांटो
दुजी आरती - तीजी आरती
चौथी आरती-पाँचवी आरती
रई रमझोल, रई रमझोल।

सहज -रमझोल = जगमगाना, मेलू = रखना, सांटो = गाना, थने = तुम्हे, अबछब = निराली।

पहली आरती जगमगाती ज्योतिर्मयी हो। भाई और भतीजे की निराली जोड़ी हो, संजा को चम्पा कलियों से पूजना और सिंहासन पर गाना रखकर संजा बाई का हिस्सा देना- आरती का विवरण है। इसी प्रकार दूसरी आरती, तीसरी आरती, चौथी आरती और पाँचवी आरती बोलकर गाने को आगे बढ़ाया जाता है।

दूसरा - संजा गीत

संजा बई का लाडा जी
लुगड़ो लाया लाडा जी
ऐसो कई लाया जारी को
गोटा-गोट किनारी को
संजा बई तो गोल-मोल
लुगड़ो लाया झोल-मोल
सीमा बई का लाडा जी
लुगड़ो लाया लाडा जी
ऐसो कई लाया जारी को
गोटा-गोट किनारी को
सीमा बई तो गोल-मोल
लुगड़ो लाया झोल-मोल

सहज - लाडा = दुल्हा या पति, लुगड़ा = साड़ी, गोटा गोट = चमकीली रिबिन।

संजा बाई की सखी संजा के पति से विनती करती है कि

बाजार जाओ तो जरीदार साड़ी लेकर आना। संजा बाई गोल-मटोल है। उसके लिए अच्छा लहंगा लेकर आना।

तीसरा - संजा गीत

संजा तो मांगे हरो-हरो गोबर
कां से लऊँ बई हरो-हरो गोबर ?
म्हारा बीराजी गवली घरे जाय,
ले बई संजा हरो-हरो गोबर।
संजा तो मांगे लाल-लाल फुलड़ा,
कां से लऊँ बई लाल-लाल फुलड़ा?
म्हारा बीराजी माली घरे जाय,
ले बई संजा लाल-लाल फुलड़ा।
संजा तो मांगे दूद-पतासा,
कां से लऊँ बई दूद-पतासा?
म्हारा बीराजी कन्दोई घरे जाय,
ले बई संजा दूद-पतासा।
संजा तो मांगे कंकू चावल,
कां से लऊँ बई कंकू चावल ?
म्हारा बीराजी गंधी घरे जाय,
ले बई संजा कंकू चावल।

सहज - गवली = ग्वाला, घरे = घर, फुलड़ा = फूल, हलवाई = हलवाई,
कन्दोई = मिठाई बनाने वाला।

संजा के आह्वान पर गोबर, लाल रंग के अच्छे फूल, दूध बताशे और कुमकुम चावल की मांग की जाती है। हर वस्तु के लिए विशेष कारण बताकर एवं विशेष व्यक्ति के यहाँ जाकर लाया जाना- गीत का विवरण है।

चौथा - संजा गीत

संजा तू बड़ा बाप की बेटी
तू खाये खाजा रोटी
तू पेरे मानक मोती
रजवाड़ी चाल चाले
गुजराती बोली बोले,
संजा एवड़ो वो
माथे बेवड़ो वो।

सहज- खाजा रोटी = एक प्रकार की मीठी रोटी, बेवड़ो = पानी का घड़ा।

इस गीत के अंतर्गत संजा की सहेलियाँ कहती हैं कि तुम बड़े पिता की लड़की हो, अच्छा मीठा खाना खाती हो, महंगे माणक-मोती पहनती हो, गुजराती बोली बोलती हो और सिर पर घड़ा रखकर रजवाड़ी चाल चलती हो।

पाँचवा - संजा गीत

संजा तू थारा घरे जा
के थारी माँ मारेगा-कूटेगा
के डेली में डचुकेगा
चाँद गयो गुजरात
के हिरनी हाँसेगा
हिरनी का बड़ा-बड़ा दाँत
के छोरा-छोरी डरपेगा।

सहज - हाँसेगा = हँसना, छोरा छोरी = लड़का लड़की, डरपेगा = डरेंगे,
डचुकेगा = पटक पटक कर मारना।

संजा से सखियाँ कहती हैं कि संजा तुम तुम्हारे घर जाओ। तुम्हारी माँ मारेगी, कूटेगी, देहरी में डचकेगी। चाँद गया गुजरात, और हिरनी हाँसेगी। हिरनी के बड़े-बड़े दाँत देखकर बच्चे डर जायेंगे।

छठा - संजा गीत

संजा बई का सासरिया से
हाती बी आया घोड़ा बी आया,
म्याना बी आया, पालकी बी लाया
तम जावो संजाबई सासरिये।
हाती पायगे बंदावाँ, घोड़ा ठाणे बंदावाँ
म्याना मेले उतारां, पालकी छज्जे उतारां,
हुं तो नी जऊँ दऊजी सासरिये।

सहज - हाती = हाथी, म्याना = मुगलकालीन पालकी, मेले = महल,
छज्जा = छत, ठाणे = घुड़साल, बी = भी, दऊजी - घर के बड़े, पायगा = जंजीर से बाँधना।

संजा के ससुराल से हाथी भी आया, घोड़ा भी आया, म्याना भी लाया, पालकी भी लाया। संजा बाई ससुराल चले जाओ। संजा अपने घर वालों से कहती है कि घोड़ा घुड़साल में और हाथी को जंजीर से बाँध दो एवं म्याना और पालकी घर की उतार दो। मैं ससुराल नहीं जाऊँगी।

सातवाँ - संजा गीत

खुड़-खुड़ रे म्हारा खोड़्या बामण
संजा के लेवा आयो रे
म्हारी संजा को माथो जरा-सो
टीको क्यों नी लायो रे?
लायो थो भई लायो थो
पण बाटे भूली आयो रे।
खुड़-खुड़ रे म्हारा खोड़्या बामण
संजा के लेवा आयो रे
म्हारी संजा का कान जरा-सा
सुरल्या क्यों नी लायो रे ?
लायो थो भई लायो थो
पण बाटे भूली आयो रे।
खुड़-खुड़ रे म्हारा खोड़्या बामण
संजा के लेवा आयो रे
म्हारी संजा की नाक जरा-सी
नथनी क्यों नी लायो रे ?
लायो थो भई लायो थो
पण बाटे भूली आयो रे।
खुड़-खुड़ रे म्हारा खोड़्या बामण
संजा के लेवा आयो रे
म्हारी संजा को गल्ले जरा-सो
टुस्सी क्यों नी लायो रे ?
लायो थो भई लायो थो
पण बाटे भूली आयो रे।
खुड़-खुड़ रे म्हारा खोड़्या बामण
संजा के लेवा आयो रे
म्हारी संजा का हाथ जरा-सा
गजरा क्यों नी लायो रे ?
लायो थो भई लायो थो
पण बाटे भूली आयो रे।
खुड़-खुड़ रे म्हारा खोड़्या बामण
संजा के लेवा आयो रे
म्हारी संजा का पाँव जरा-सा
बिछिया क्यों नी लायो रे ?

लायो थो भई लायो थो

पण बाटे भूली आयो रे।

सहज - लेवा = लेना, म्हारी -- मेरी, माथो = सिर, बाँटे = रास्ते में, पण = परन्तु, सुरल्या = कान में पहनने का आभूषण(झुमका), टुस्सी = गले में पहनने का हार, बिछिया = पैर की अंगुलियों में पहनने का आभूषण, बामन = ब्राह्मण, खुड़ खुड़ = बेचैन।

इस गीत के अंतर्गत संजा बाई की सहेलियाँ बेचैन खोड़्या ब्राह्मण अर्थात संजा के पति को सम्बोधित करते हुए संजा के लिए समस्त नारी-श्रृंगार की वस्तुएँ यानी सिर का टीका, कान के झुमके, गले का हार, हाथों के गजरे एवं पैरों के लिए बिछिया आदि सुहागन श्रृंगार की सभी चीजे क्यों नहीं लाने की शिकायत कर रही हैं। लेकिन खोड़्या ब्राह्मण उन्हें समझाते हुए कह रहे हैं कि श्रृंगार की सभी वस्तुएँ लाया था, लेकिन रास्ते में भूल आया हूँ।

आठवाँ - संजा गीत

मगरे बेठी चिरकली
उड़ावों क्यों नी दादाजी
आँगण बेठ्या पामणा
जिमावो क्यों नी दादाजी
संजाबाई चाल्या सासरे
मनावो क्यों नी दादाजी।

सहज - चिरकली = चिड़िया, मगरे = छत, पामणा = मेहमान, सासरे = ससुराल, चाल्या = जाना, जिमाओ = खाना खिलाना।

इस गाने में संजा के परिवार की कन्याएँ घर के बुजुर्ग (दादाजी) को कह रही हैं कि घर की छत पर चिड़िया बैठी है, उसे क्यों नहीं उड़ाते (भगाते)। आँगन में मेहमान बैठे हैं, उन्हें खाना क्यों नहीं खिलाते। इसी प्रकार संजाबाई ससुराल जा रही है, उसे क्यों नहीं मनाते-दादाजी।

नौवाँ - संजा गीत

काजल टीकी लोे भई, काजल टीकी लोे
काजल टीकी लइने, म्हारी संजाबाई के दो
संजाबाई को पीयर सांगानेर
पद्म पदारिया गढ़ी अजमेर
चाँद थारी चाकरी गुलाम थारो देस

छोड़ी म्हारी चाकरी, पदारो थाँका देस।

सहज - टीकी = बिंदिया, पीयर = मायका, चाकरी = नौकरी, पदारो = जाना, पदम = चरण, देस = देश।

उक्त गीत में संजाबाई को काजल-बिछिया लाकर देना बताया गया है। संजा का मायका सांगानेर में एवं उसके चरण कमल अजमेर में भी पड़े। चाँद तुम्हारा नौकर और देश तुम्हारा गुलाम है। मेरी नौकरी छोड़कर अर्थात् चिंता छोड़कर अपने देश जाओ।

दसवाँ - संजा गीत

नानी-सी गाड़ी, रुड़कती जाय,
रुड़कती जाय।
जी में बैट्या संजाबाई,
छोटी-सी गाड़ी, रुड़कती जाय,
रुड़कती जाय।
जी में बैट्या संजाबाई,
घाघरो घमकाता जाय
चूड़लो घमकाता जाय
बिछिया बजाता जाय।
नथनी भलकाता जाय।

सहज - नानी = छोटी, रुड़कती = धीरे-धीरे गाड़ी का चलना, घमकाता = गोल घूमना, भलकाता = हिलना(दमकना), घाघरा = घेर वाला पेटीकोट।

संजा छोटी सी गाड़ी में बैठी हुई है और गाड़ी शनैः- शनैः (धीरे-धीरे) चल रही है। श्रृंगारिक रूप का वर्णन करते हुए- संजा का लहंगा-लहरा रहा है, चूड़ा चमक रहा है, बिछिया बज रही है, नथनी हिल-हिल कर दमक रही है।

ग्याहरवाँ - संजा गीत

संजा के दरबार चम्पो, फूल र्यो म्हारी माय
सुरजा जी तोड़े फूल लाड़ी बऊ
माल गुँथे म्हारी माय
गुँथियो गुँथियो हार संजा रे
सीस चढ़े म्हारी माय।

सहज - चम्पो - चम्पा का फूल, माल -माला, लाड़ी बऊ - बहू या पत्नी, माय - माँ, गुँथियो - गुँथना, सीस - सिर।

इस गीत के अन्तर्गत संजा के आँगन के बागान में चम्पा का फूल खिल रहा है। सूरजजी फूल तोड़ रहे हैं और उनकी पत्नी माला गुँथ रही हैं। गुँथी हुई माला को संजा के सिर पर चढ़ा रही है अर्थात् हार पहना रही है।

बारहवाँ - संजा गीत

या पोथी म्हारो कुण कुण बीरो
बाँचे रे भम्मरिया
या पोथी म्हारो चाँद-सूरज
बीरो बाँचे रे भम्मरिया
चाँद-सूरज की बऊ के
ओढ़नो नी आवे, पेनो नी आवे
संजा नणद के बुलावो रे भम्मरिया
संजा नणद की ऊंची नाक, नीची नाक
काली पाटी, लाल चूड़ो,
मोतियां से मांग भरावो रे भम्मरिया।

सहज - पोथी = पुस्तक, कुणकुण = कौन-कौन, बाँचे = पढ़ना, ओढ़नो = ओढ़ना, पेनो = पहनना, कालीपाटी = काले केश बनाना।

इस गीत के अन्तर्गत संजा की सहेलियाँ आपस में प्रश्न-उत्तर करते हुए- कहती हैं कि इस पुस्तक को कौन-कौन से भाई पढ़ेंगे। उत्तर में- चाँद-सूरज भैया पढ़ेंगे लेकिन चाँद सूरज भैया की पत्नी को वस्त्र ओढ़ना, पहनना नहीं आता है, इसलिए संजा ननद को बुलाना चाहिए। सहेलियाँ व्यंग्य करते हुए कहती हैं कि संजा ननद की ऊँची-नीची नाक है, हाथ में लाल चूड़ियाँ हैं एवं काले केशों को बनाने वाली संजा की माँग मोतियों से भरवा दो। इस गीत में चाँद-सूरज की जगह सहेलियाँ अपने-अपने भाईयों के नाम और संजा के नाम की जगह एक दूसरे के नामों को जोड़कर गीत को आगे बढ़ाती है।

तेरहवाँ - संजा गीत

गाड़ी नीचे जीरो बोयो, सात सहेलियाँ जी,
गाड़ी रुड़की कूपल फूटी, सात सहेलियाँ जी,
कूपल की म्हने भाजी रांदी, सात सहेलियाँ जी,
वा भाजी म्हने बीराजी के मेली, सात सहेलियाँ जी,
बीराजी के म्हार खाटी-खाटी लागे, सात सहेलियाँ जी,
वा भाजी म्हने भँस्या के दइदी, सात सहेलियाँ जी,

भेंस्या ने म्हारे दूद दइदियो, सात सहेलियाँ जी,
 दूद की म्हने खीर बनायी, सात सहेलियाँ जी,
 वा खीर म्हने बीराजी के मेली, सात सहेलियाँ जी,
 बीराजी के म्हारा मीठी-मीठी लागे, सात सहेलियाँ जी,
 बीराजी ने म्हारे चूनड़ ओड़ाई, सात सहेलियाँ जी,
 चूनड़ ओड़ी पाणी चाली, सात सहेलियाँ जी,
 पाणी चाली कांटो भाग्यो, सात सहेलियाँ जी,
 कांटे भाग्यो लोई निकल्यो, सात सहेलियाँ जी,
 लोई निकल्यो चूनड़ से पोछिये, सात सहेलियाँ जी,
 वा चूनड़ म्हने धोबी के दइदी, सात सहेलियाँ जी,
 धोबी ने म्हारे धोई-धोई दइदी, सात सहेलियाँ जी,
 वा चूनड़ी म्हने रंगरेज के दइदी, सात सहेलियाँ जी,
 रंगरेज ने म्हने रंग-रंग दइदी, सात सहेलियाँ जी,
 वा चूनड़ म्हने दरजी के दइदी, सात सहेलियाँ जी,
 दरजी ने म्हारे कोथलो सी दियो, सात सहेलियाँ जी,
 कोथला में म्हने रूपया भरिया, सात सहेलियाँ जी,
 रूपया लइने बाजार चाली, सात सहेलियाँ जी,
 वीना रूपया से म्हने चूड़ो पेरियो, सात सहेलियाँ जी,
 चूड़ो पेरियो बिछिया पेरिया, सात सहेलियाँ जी,
 चूड़ो चमके संजा बइजी भलके, सात सहेलियाँ जी,
 बिछिया बाजे सास गाजे, सात सहेलियाँ जी।

सहज - बोयो = उगाया, म्हने = मैंने, रांदी = पकाई, दईदी = दे दी,
 निकल्यो = निकला, लोई = खून, मेली = परोसना, दरजी = सिलाई करने वाला,
 कोथला = बड़ा ढीला बटुआ, गाजे = गरजना या गुस्सा होना, कूपल = अंकुरित
 होना।

इस गीत रचना में सात सहेलियाँ आपस में एक दूसरे को सम्बोधित करते हुए गाती हैं कि गाड़ी नीचे जीरा उगाया है। गाड़ी रूड़कने पर कोपल फूटी और कोपल की मैंने सब्जी बनाई। उस सब्जी को भैया को परोसा, भैया को खट्टी लगी, उस सब्जी को मैंने भैंस को दे दिया, भैंस ने मुझे दूध दे दिया, उस दूध की मैंने खीर बनाई। खीर मैंने भैया को खिलायी, भैया को वह मीठी लगी और भैया ने मुझे चुनर ओढ़ाई। चुनर ओढ़कर पानी लेने गई, वहाँ रास्ते में पैर में काँटा लग गया और खून निकला, खून को मैंने चुनर से पोंछा। चुनर को मैंने धोबी को धोने के लिए दी, उसने वह रंगरेज को दे दी, रंगरेज ने रंग कर दर्जी को दे दी, दर्जी ने एक बड़ा बटुआ सिल दिया। उस बटुए में मैंने रुपये रखे और बाजार गई,

वहाँ से मैंने चूड़ा-बिछिया-नथनी आदि श्रृंगार की वस्तुएँ खरीद कर पहनी। यह सब देखकर सासू जी बहुत नाराज हुईं।

चौदहवाँ - संजा गीत

म्हारा आँगन में केल उगी, केल उगी,
 उग्यो चौरासी डाली, उग्यो चौरासी डाली,
 म्हारा बीराजी चढ़वा लाग्या, चढ़वा लाग्या,
 चढ़जो ऊँची-सी डाली, चढ़जो अच्छी-सी डाली
 म्हारा देवरजी चढ़वा लाग्या, चढ़वा लाग्या,
 चढ़जो पतली-सी डाली, चढ़जो सूखी-सी डाली
 म्हारा बीराजी के भूक लागी, भूक लागी,
 दऊँ रे लाडू ने पेड़ा, दऊँ रे सीरो ने पूरी
 म्हारा देवरजी के भूक लागी, भूक लागी,
 दऊँ रे सूका-सा टुकड़ा, दऊँ रे सूका-सा टुकड़ा।

सहज - केल = केले का पेड़, उग्यो = उगना, भूक = भूख, लाडू = लड्डू, सीरा = गाढ़ा पेय पदार्थ, सूका = सूखा।

इस गीत के अंतर्गत देवर और भाभी के मध्य भेदभाव को दर्शाया गया है। संजा कहती है कि मेरे आँगन में केले का पेड़ है, जिसमें चौरासी डाली है। वह अपने भाई से कहती है कि चढ़ना अच्छी-ऊँची सी डाली और वहीं देवर से भेदभाव करते हुए कहती है कि देवर जी सूखी और कमजोर डाली पर चढ़ना। इसी प्रकार खाने-पीने की वस्तुओं की सुविधा भाई को और असुविधा देवर के प्रति गलत धारणा प्रदर्शित करता है।

पंद्रहवाँ-गीत

हुं कोट चढ़ा चढ़ झाँकूँ
 म्हारो कुण सो बीरो आयो ?
 म्हारो चाँद-सूरज बीरो आयो,
 घोड़ा पे बेठी आयो
 घोड़ा का पाछे भाभी,
 भाभी का गोद में कूको,
 कूका का माथे टोपो
 टोपा में हीरा मोती
 वी लाड़ लड़ाता आयो।

सहज - हुँ - मैं, झाँकू - देखना, कोट - किला(छत), पाछे - पीछे,
 कूका - बच्चा (भतीजा), टोपी - केप, लाड़ - प्यार।

इस रचना के अंतर्गत संजाबाई कहती हैं कि मैं किले पर चढ़कर देखती हूँ, मेरा कौन-सा भाई आ रहा है? देखने पर चाँद-सूरज भाई आ रहा है एवं साथ में घोड़ा भी है, जिसके पीछे भाभी हैं। भाभी की गोद में बच्चा (भतीजा) है, जिसके सिर पर हीरा-मोती जड़ित टोपी है। वो उसे लाड़-प्यार करते आ रहे हैं।

सौलहवाँ - संजा गीत

नाना-नाना छबल्या मंगाईदो
 म्हारा बीराजी
 सासरिया में खेलेंगा।
 छोटा-छोटा भमर
 घड़ई दो म्हारा बीरा जी
 सासरिया में पेरंगा,
 सासरिया का खोटा लोग,
 खाय खजूरा बेचे बोर,
 बोर की गुठली लड़ग्या चोर,
 चोर का घर में नाचे मोर
 मोर-मोरनी उड़ी गया
 संजा बई की सासू के झूड़ी गया।

सहज - नाना-नाना = छोटा-छोटा, भंमर = आभूषण, खोटा = खराब,
 खजूरा = खजूर, घड़ई = बनाना, झूड़ी = पीटना (मारना)।

इस गीत के अंतर्गत छोटे-छोटे खिलौने एवं आभूषण भाई से मंगवाने का आग्रह संजा करती है। कहती है कि ससुराल में खिलौनों से खेलेंगे और आभूषण पहनेंगे। सुसुराल के लोग अच्छे नहीं हैं, वह खजूर खाते हैं और बेर बेच देते हैं। बेर की गुठली चोर ले जाते हैं और चोर के घर में मोर नाचते हैं। मोर मोरनी संजा बाई की सासू को मार-पीटकर उड़ जाते हैं। इस गाने को एक दूसरे के नाम लेकर आगे बढ़ाकर गाया जाता है।

सतरहवाँ - संजा गीत

संजा का पाछे मेंदी को झाड़,
 मेंदी को झाड़,
 एक-एक पत्ती चुनती जाय,
 चुनती जाय,
 वई से आया मामा-मामा,

रेसम साळू लाया-लाया,
 चलो जेठानी पाणी-पाणी,
 पाणी का रस्ते कांटा-कांटा,
 सासू ने मारिया चांटा-चांटा।

सहज - झाड़ = पेड़, मेंदी = मेहंदी, मारिया = मारना, चांटा = थप्पड़।

संजा के घर के पीछे मेहंदी का पेड़ है, संजा एक-एक पत्ती चुनती है। उधर से संजा के मामा रेशमी साड़ी लेकर आ रहे हैं। संजा जेठानी के साथ पानी लेने जा रही है और रास्ते में उसे काँटा चुभ गया है। इस कारण संजा की सासूजी नाराज होकर संजा को चांटे ही चांटे मारती है।

अठाहवाँ - संजा गीत

संजा का सासरे जावांगा
 खांटो-रोटो खावांगा
 संजा की सासू भुखड़ली
 घर में बैठी फूटी नली
 ऐसो दुवां दारी ने चिमटा नी
 काम कराऊंगा तड़का में
 मैं बैठुंगा गादी पे
 थारे बैठाऊंगा खुटी पे।

सहज - खांटो रोटो = खटाई युक्त रोटी, भुखड़ली = भूखी, तड़का = धूप।

इस गीत को सभी सहेलियाँ संजा पूजन के अंत समय में गाती हैं-संजा के ससुराल जायेंगे और खाटी रोटी खायेंगे। संजा की सासूजी भूखी हैं, जो घर में फुर्सत में बैठी रहती हैं। संजा कहती है- उसे चिमटे से मारकर धूप में काम कराऊँगी और उसे खूँटी पर बैठाऊँगी और मैं गादी पर बैठूँगी। इस प्रकार बारी-बारी से नाम जोड़कर गीत आगे बढ़ाया जाता है।

उन्नीसवा - संजा गीत

चटक चांदनी-सी रात
 फुलां भरी रे परात
 एक पांचों उखड़यो
 एक तारो टूटी गयो

म्हारी संजा बई उदास।
चटक चांदनी-सी रात
फुलां भरी रे परात
दो पांचा उखड़िया
दो तारा टूटी गया
म्हारी संजा बई उदास।

सहज - चटक = धवल चांदनी, परात = थाल, पांचा = एक प्रकार का सूखा फल (खेलने का)।

गीत का संदर्भ धवल चाँदनी सी रात और उसमें फूलों से भरी थाल से है। एक पांचा या एक ध्रुव तारा आकाश से टूट जाने पर संजा उदास हो जाती है। संजा पूजन में पाँचों एवं तारों की संख्या संजा मांडने के दिनों के हिसाब से बढ़ती जाती है।

बीसवाँ - संजा गीत

संजा जीमले वो चुठले
अकेली मत जा
साते सीमा के लई जा।
सीमा जीमले वो चुठले
अकेली मत जा
साते नीतू के लई जा।
नीतू जीमले वो चुठले
अकेली मत जा
साते हेमा के लई जा।

सहज - जीम ले = खाना खा ले, चुठले = पीकर, मत = नहीं, साते = साथ में।

संजा जब सुसराल जाने के लिए तैयार हो जाती है, तब सहेलियाँ गीत के रूप में संजा को कहती हैं कि संजा खाना खाकर या भोजन करके जाना। अकेली मत जाना, साथ में सीमा को ले जाना। इसी प्रकार नामों को जोड़कर आगे गीत गाया जाता है।

इक्कीसवाँ - संजा गीत

संजा की बाई संजा ने मौकलो
करो संजा की आरती
पाना-फूला धरी चमेली
केसर भरियो थाल जी।
पिंटू की बाई पिंटू ने मौकलो
करो संजा की आरती
पाना-फूला धरी चमेली
केसर भरियो थाल जी।
चिंटू की बाई चिंटू ने मौकलो
करो संजा की आरती
पाना-फूला धरी चमेली
केसर भरियो थाल जी।

सहज - बाई = माँ, मौकला = भेजो, पाना = पान, फुला = फूल, थाल = थाली, धरी = रखी।

संजा की अंतिम शयन आरती के समय यह गीत गाया जाता है- संजा की माँ संजा को भेजो, संजा की आरती करना है। पान, फूल, चमेली और केसर से भरा थाल है, जिससे संजा की आरती करना है। इस प्रकार पिंटू की माँ, चिंटू की माँ आदि नाम जोड़कर गीत बढ़ाया एवं गाया जाता है।

भीली मिथकथाएँ

डॉ. अशोक डी. पाटिल

आदिवासियों के पास लोककथाओं और मिथ कथाओं का भण्डार है। लोककथाएँ उनके जीवन के विभिन्न पक्षों को अभिव्यक्त करती हैं। लोककथाओं को कहने और सुनने का सिलसिला अतीत से अब तक निरन्तर चला आ रहा है। आदिवासियों की अपनी बोली तो होती है, परन्तु लिपि नहीं। इसलिये आदिवासियों का कथा साहित्य अलिखित और वाचिक है। लोककथाएँ वाचिक परम्परा में पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रही हैं। इसलिये समय, स्थान और लोककथा सुनाने वाले व्यक्ति के प्रभाव से लोककथाओं के मूल पाठ में न्यूनाधिक परिवर्तन दिखाई देते हैं। लोककथा लोगों के याददाश्त में दर्ज रहती है। हम जानते हैं कि सभी व्यक्तियों की स्मरणशक्ति एक समान नहीं होती। यही कारण है कि किसी एक ही लोक कथा को जब भिन्न-भिन्न व्यक्ति सुनाते हैं, तब उनमें कमोबेश अन्तर दिखाई देते हैं। इस अन्तर का एक कारण यह भी है कि कथा सुनाने वाला व्यक्ति कथा को दूसरों से अधिक प्रभावी रूप में प्रस्तुत करना चाहता है। इसलिये कल्पनाशील व्यक्ति कथा में नयापन लाने के लिये तथा श्रोताओं पर अपनी छाप छोड़ने के लिये मूलपाठ में न्यूनाधिक परिवर्तन कर देता है। मूल कथा में वह कुछ नए प्रसंग, अनुभव, कहावतों और पहेलियों को भी जोड़ देता है। इस प्रकार लोककथा की सफल प्रस्तुति कथा कहने वाले व्यक्ति के बौद्धिक स्तर, उसकी साहित्यिक अभिरूचि, वाक्पटुता, उसका शब्दज्ञान और उसकी कल्पनाशीलता पर निर्भर करती है। इसी प्रक्रिया में वैयक्तिक भिन्नता के कारण एक ही लोककथा के कई रूप प्रचलन में आ जाते हैं।

लोककथा की रोचकता इस बात पर भी निर्भर करती है कि उसकी प्रस्तुति का तरीका और शैली कैसी है? पारम्परिक लोककथा में कुछ परिवर्द्धन या परिवर्तन कर एक व्यक्ति उसे अधिक रूचिकर बना देता है, जबकि उसी कथा को किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा

आधी-अधूरी या बे-सिर-पैर की जोड़-तोड़कर सुनाने पर वह न केवल नीरस लगती है, बल्कि वह श्रोताओं के मन में अनेक जिज्ञासाओं को जन्म देती है। जिज्ञासाओं का समाधान न होने पर श्रोता उसे गप्प मानकर लोककथा सुनाने वाले का उपहास करते हैं।

लोककथाएँ मनोरंजन के साथ-साथ लोक शिक्षा के सामाजिक दायित्व का निर्वाह भी करती हैं। अतीत में बालकों एवं युवाओं को शिक्षित करने के लिये जनजातीय समाज में कोई औपचारिक संस्थाएँ नहीं थीं। तब वाचिक साहित्य जैसे कथा, मिथ, गीत, कहावतें और पहेलियाँ, लोकनाट्य आदि ही जनजातीय समाजों में बच्चों एवं युवाओं को शिक्षित करने का कार्य करता था। लोकसाहित्य के इन विविध माध्यमों ने आदिवासी समुदाय का मनोरंजन करने और उन्हें शिक्षित करने के साथ ही सामाजिक नियंत्रण स्थापित करने, संस्कृति को जानने और समझने तथा उसे पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित करने में भी उल्लेखनीय योगदान दिया है। लोकसाहित्य की इस उपादेयता को भील आदिवासियों में प्रचलित एक लोककथा के माध्यम से सहज समझा जा सकता है। इस लोककथा में यह संदेश निहित है कि अत्याचार करने वाले व्यक्ति का, चाहे वह राजा ही क्यों न हो- अन्त बुरा होता है। अतः व्यक्ति को चाहिये कि वह असत्य सम्भाषण न करे, घमण्ड न करे तथा दूसरों पर अत्याचार न करे। इसी में उसका और लोक का कल्याण निहित है। लोककथा इस प्रकार है-

अतीत में अंग नाम का एक वीर, उदार और शांतिप्रिय राजा था। उसकी मृत्यु के बाद उसके वंशजों ने भी उसके वंशजों के अनुसरण किया। इस प्रकार राजा अंग और उसके वंशजों के राज्य में प्रजा सुखी और संतुष्ट थी। परन्तु ऐसा अनन्त काल तक नहीं चल सका। आगे चलकर उसके वंशजों में एक राजा ऐसा भी हुआ, जो अहंकारी और क्रोधी था। धन-सम्पदा की उसके पास कोई कमी नहीं थी। विशाल राज्य और अपार धन के बावजूद उसे संतोष नहीं था। अपना कोष बढ़ाने के लिये उसने प्रजा पर इतने कर लगा दिये कि प्रजा भूखी मरने लगी। राजा वैन के अत्याचारों से प्रजा त्राहि-त्राहि कर उठी, परन्तु इससे उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यही नहीं राजा वैन ने आसपास के छोटे राज्यों को भी अपने राज्य में मिला लिया। राजा वैन के अत्याचारों से त्रस्त होकर प्रजा घर-बार छोड़कर वन में चली गई।

प्रजा के प्रवेश से वन में कोहराम मच गया। इससे तपस्वियों की तपस्या में विघ्न पड़ने लगा। उन्होंने प्रजा से वन में आने का कारण पूछा। प्रजा ने अपनी व्यथा उन्हें सुनाई और सहायता करने की प्रार्थना की। तपस्वी प्रजा की सहायता करने के लिये तैयार हो गए। उन्होंने राज दरबार में जाकर राजा को समझाने का प्रयास किया, परन्तु क्रोधी और अहंकारी राजा वैन ने ऋषि, मुनियों का उपहास किया। यही नहीं उन्हें परामर्श दिया कि वे प्रजा को समझाएँ कि वह राजा नहीं साक्षात् भगवान है, इसलिये प्रजा को राजा वैन की पूजा-अर्चना करना चाहिये। राजा वैन की बातों से ऋषि-मुनियों का क्रोधित होना स्वाभाविक था। उन्होंने राजा वैन को उसके सर्वनाश का श्राप दिया। इस श्राप का असर तो होना ही था। शीघ्र ही राजा वैन की मृत्यु हो गई।

राजा वैन निःसंतान था। इसलिये उसकी मृत्यु के बाद राज्य राजाविहीन हो गया। राजा न होने के कारण राज्य में चोर-लुटेरों की बन आई। इसलिये राजा वैन की मृत्यु के बावजूद प्रजा के कष्ट कम न हुए। प्रजा ने फिर से तपस्वियों से निवेदन किया कि बिना राजा के उनका जीवन असुरक्षित हो गया है। इसलिये उनकी रक्षा का वे ही कुछ उपाय करें। तपस्वियों ने प्रजा को आश्चस्त किया कि वे कुछ न कुछ उपाय अवश्य करेंगे।

सोच-विचार के बाद भी तपस्वियों को कोई मार्ग न सूझा तो वे महादेव की शरण गए और उनसे इस समस्या का निराकरण करने की प्रार्थना की। महादेव को उन्होंने वैन के अत्याचारों की कथा सुनाई और कहा कि वैन का विनाश तो वे कर चुके हैं, पर अब राजाविहीन राज्य में अराजकता और लूट-पाट मच गई है। इसे कैसे दूर किया जाए? महादेव ने उनकी सहायता करने का वचन दिया। महादेव ने मृत राजा वैन की देह से एक पुरुष की रचना की और नए राजा के रूप में उसे तपस्वियों को सौंप दिया। इस प्रकार राज्य में खुशहाली फिर लौट आई और प्रजा सुख से रहने लगी।

भील आदिवासियों में उनकी उत्पत्ति से सम्बन्धित एक मिथ कथा प्रचलित है। यह मिथ कथा इस प्रकार है- बात बहुत पुरानी है। जंगल तब भीलों से आबाद नहीं थे। एक बार एक ऋषि वन में तपस्या के लिये उपयुक्त स्थान की तलाश में विंध्याचल पर्वतांचल में भ्रमण कर रहे थे। वनांचल के पर्वत, वन और नदियों

ने उन्हें मोह लिया। वे आश्वस्त हुए कि इस स्थान पर वे बिना किसी विघ्न-बाधा के तपस्या कर सकते हैं। वे वहीं ठहर गए। वन में तपस्या सहित उनकी समस्त दिनचर्या निर्विघ्न रूप से सम्पन्न होने लगी। पर वन में उनका इस प्रकार उन्मुक्त विचरण वन देवता को पसंद न आया। अब तक वन पर वन देवता का ही एकाधिकार था। इस एकाधिकार में ऋषि हस्तक्षेप करने लगे। वन देवता को यह भय भी सताने लगा कि कहीं अन्य तपस्वी भी ऋषि का अनुसरण कर वन में डेरा न जमा लें। इस समस्या के निराकरण के लिये उसने ऋषि को वन से खदेड़ने का निश्चय किया। पर वह समझ नहीं पा रहा था कि यह कैसे किया जाए। उसने वायु देव से सहायता करने का निवेदन किया। वायु देव इसके लिये तैयार हो गए। उन्होंने कहा कि वे प्रचण्ड तूफान उत्पन्न करेंगे। वन देवता ऐसी व्यवस्था करें कि ऋषि के आस-पास के पेड़ प्रचंड वायु से इतने अधिक झुक जायें कि वे ऋषि को स्पर्श करने लग जायें। इससे ऋषि की तपस्या में विघ्न उत्पन्न होगा और ऋषि उस स्थान को त्याग कर किसी दूसरे स्थान पर चले जाएँगे। वहाँ भी वायुदेवता तूफान पैदा कर ऋषि को स्थान त्यागने के लिये विवश कर देंगे। वायुदेवता ऐसा तब तक करेंगे, जब तक त्रस्त होकर ऋषि वन को छोड़ कर कहीं दूर न चले जायें। वन देवता को यह उपाय पसंद आया। योजनानुसार एक दिन बहुत तेज आंधी तूफान आया। वायु के वेग से पेड़ बहुत नीचे तक झुक गए। वे इतने नीचे आए कि उनकी शाखाएँ ऋषि को स्पर्श करने लगीं। पेड़ पौधों के स्पर्श से ऋषि का ध्यान भंग हुआ। ऋषि ने क्रोध से पेड़ को देखा। ऋषि की आग्नेय दृष्टि पड़ते ही पेड़ जलकर राख हो गया। ऋषि पुनः ध्यानमग्न हुए। तब दूसरे पेड़ ने भी ऋषि की तपस्या में विघ्न डाला। ऋषि ने उसे भी भस्म कर दिया। ऋषि के क्रोध से इस प्रकार धीरे-धीरे अनेक वृक्ष जल कर नष्ट हो गए। अब तो वनदेवता घबरा गए। इस तरह तो ऋषि सारे जंगल को ही नष्ट कर देंगे। वनदेवता ने वायुदेवता से तूफान रोकने का निवेदन किया। वनदेवता और वायुदेवता दूसरा उपाय सोचने लगे। जब बहुत सोचने पर भी उन्हें कोई उपाय नहीं सूझा तो वे महादेव के पास गए और उनकी सहायता करने का निवेदन किया। महादेव ने सहायता करने का वचन दिया।

ऋषि के कोप से जल कर नष्ट हुए वन की राख से महादेव ने पुरुष और स्त्री की एक जोड़ी बनाई। उस युगल में उन्होंने प्राणों

का संचार किया। फिर उन्होंने वनदेवता को आदेश दिया कि जिस मार्ग से ऋषि आते जाते हैं, उस मार्ग पर एक गहरा गड्ढा खोदें। वनदेवता ने ऐसा ही किया। महादेव ने उस युगल को उस गहरे गड्ढे में छुपने का आदेश दिया। फिर महादेव ने उस गड्ढे को पत्तों से ढंक दिया।

प्रातःकाल ऋषि नित्य कर्म के लिये कुटिया से बाहर निकले। पत्तों से ढंका गड्ढा ऋषि को दिखाई नहीं दिया और वे उस गड्ढे में गिर गए। गड्ढे में छुपे हुए युगल ने शोर मचाया और चीख चिल्लाकर ऋषि को आतंकित करने लगे। ऋषि जैसे- तैसे गड्ढे से बाहर निकले और पहाड़ की तरफ सरपट भागे। वे वहीं रहकर तपस्या करने लगे और फिर कभी लौटकर वन में नहीं आये। इस प्रकार महादेव ने उसकी समस्या हल कर दी।

ऋषि के जाने के बाद स्त्री-पुरुष का वह जोड़ा गड्ढे से बाहर आया। उसने वनदेवता से निवेदन किया कि उसे कोई काम बतायें या उन्हें महादेव के पास जाने दें। युगल की बात से वनदेवता चिंतित हुए। उन्हें भय सताने लगा कि यदि युगल महादेव के पास लौट गया तो फिर कोई ऋषि आकर ऐसी समस्या उत्पन्न कर सकते हैं। फिर वन की रक्षा कैसे होगी? इसलिये उन्होंने महादेव से प्रार्थना की कि वे उस युगल को उनके पास ही रहने दें। महादेव ने बात मान ली। महादेव ने इस युगल को धनुष और बाण दिया, ताकि वे अपनी और वन की रक्षा कर सकें। वन में उपलब्ध फल-फूल, कन्द-मूल और पशु-पक्षियों का शिकार कर वह युगल वनदेवता के संरक्षण में सुख से रहने लगा। इसी युगल से भील आदिवासियों का जन्म हुआ। इस प्रकार भील जनजाति का महादेव के द्वारा सृजन किया गया।

यह मिथ कथा एक ओर भीलों की उत्पत्ति को प्रगट करती है, वहीं दूसरी ओर यह वनों पर भीलों की निर्भरता और वनों की रक्षा में उनके योगदान पर भी प्रकाश डालती है। अप्रकट रूप में यह मिथ वनसंरक्षण में भीलों की भूमिका की ओर इंगित करता है। भील जनजाति की उत्पत्ति से सम्बन्धित इस मिथ कथा के तारतम्य में ही उनके गोत्रों की उत्पत्ति के विषय में भी एक मिथ कथा भीलों में प्रचलित है। कथा इस प्रकार है-

तपस्वी को वन से बाहर करने के लिये महादेव के द्वारा सृजित युगल के अनेक बच्चे हुए। वीर और निडर होने के कारण

वे निर्भय होकर वन में रहने लगे। उन पर कोई नियंत्रण न होने के कारण वे उत्पात करने लगे। उन्होंने जंगल को तहस-नहस करने और पशु-पक्षियों के शिकार में कोई कसर न रखी। उन बच्चों के आतंक से वनदेवता नाराज हो गए। उनके उत्पात से रक्षा करने का उन्होंने महादेव से निवेदन किया। उनके द्वारा रचित युगल की संतानों के आतंक की बात सुनकर महादेव को बहुत क्रोध आया। क्रोधित होकर उन्होंने तीसरा नेत्र खोल दिया। अब क्या था? प्रलय मच गया। चारों ओर पानी ही पानी हो दिखाई देने लगा। वह युगल और उसकी संतानें इस प्रलय में नष्ट हो गए, परन्तु उनमें से भाई-बहन का एक जोड़ा बच गया। वह पुआल के ढेर पर सो रहा था, इसलिये पानी में वे डूब नहीं पाए। पुआल पानी पर तैरता रहा और भाई-बहन का जोड़ा प्रलय से बेखबर पुआल के उस ढेर पर सोता रहा।

कुछ समय बाद तूफान शांत हुआ। उसके साथ बाढ़ भी धीरे-धीरे उतर गई। पुआल का वह ढेर भी बाढ़ का पानी उतरने के साथ धरती पर आकर ठहर गया। भाई-बहन की नींद खुली, तब उन्हें प्रलय और विनाश का पता चला। अपने आपको अकेला देखकर वे घबरा गए। भूख से भी वे बेहाल हो रहे थे। तभी उनकी नजर पास ही पोखर में तैर रही मछली पर पड़ी। मछली को देख उन्हें राहत मिली कि चलो कोई और भी इस धरती पर है। उन्होंने स्वयं के बेसहारा होने और भूख लगने की बात मछली को बताई। उस जोड़े की व्यथा सुनकर मछली को बहुत दुःख हुआ। उसने निश्चय किया कि वह उनकी सहायता अवश्य करेगी। पर कैसे? प्रलय में तो सब कुछ नष्ट हो चुका था। वह भाई-बहन की भूख शांत करने के लिये सामग्री की खोज में यहाँ-वहाँ दौड़ती रही, पर उसे कुछ न मिला। अन्ततः हार-थक कर उसने तय किया कि वह स्वयं का बलिदान कर उनकी भूख मिटाएगी। पर उस युगल ने इसे स्वीकार नहीं किया। विनम्रता से उन्होंने कहा- हम भूखे भले ही रह जायें, पर उसका मांस नहीं खाएँगे। मछली ने बहुत अनुनय-विनय की, पर उस युगल ने उसकी एक न सुनी। कुछ दिन और बीत गए। धीरे-धीरे धरती का दलदल भी सूख गया।

एक दिन खाने की खोज में भटकते-भटकते मछली को एक खोह में मक्के के कुछ दाने दिखाई दिये। उसकी खुशी का पारावार न रहा। मछली उन्हें उस स्थान पर ले गई। भाई-बहन ने मक्के से रोटी बनाई और उसे खाने ही वाले थे कि कहीं से एक

कौआ आया और उनके हाथ से रोटी छुड़ाकर उड़ गया। भाई-बहन और मछली देखते रह गए। दोनों फिर भूखे के भूखे।

वह कौआ महादेव का दूत था। उसकी चोंच में रोटी देखकर महादेव समझ गए कि प्रलय में कोई बच गया है। उन्होंने काग दूत से इस विषय में पूछा। काग दूत ने महाप्रलय में उस युगल के बचने की कथा महादेव को सुनाई। महादेव का क्रोध अब तक शांत हो गया था, इसलिये उस युगल के बचने की बात सुनकर वे क्रोधित नहीं हुए। महादेव चिंतित थे कि प्रलय के बाद अब पुनर्निर्माण कैसे हो। वन-पर्वतों की रक्षा कैसे की जाए? एक युगल के बचने की बात सुनकर महादेव के मन में विचार आया कि क्यों न उस युगल से मानव सृजन किया जाए? पर यह कैसे संभव है? वे तो भाई-बहन हैं। फिर क्या किया जाए? बहुत सोच के बाद महादेव के मन में एक विचार आया। यदि युगल भूल जाए कि वे भाई-बहन हैं तो फिर कोई समस्या नहीं रहेगी। यह सोचकर महादेव प्रसन्न हुए। उन्होंने तत्काल एक भयंकर तूफान उत्पन्न किया। उस तूफान में भाई-बहन बिछड़ गए। तूफान से वे इतने भयभीत हो गए कि उनकी याददाश्त चली गई। जब तूफान रूका और वे मिले, तब वे एक दूसरे को पहचान नहीं पाए। इससे महादेव प्रसन्न हुए। उन्होंने उस युगल का विवाह रचाया। उस युगल से अनेक संतानें हुईं। यही भील कहलाए। वे वन में रहकर वन की रक्षा कर अपना गुजर-बसर करने लगे। इस प्रकार भील जनजाति अस्तित्व में आई।

अपनी उत्पत्ति और महादेव के साथ सम्बद्धता को व्यक्त करने वाली और भी मिथ कथाएँ भील जनजाति में प्रचलित हैं। बिखरे हुए भील समुदायों में एकता का संचार करने में यह मिथ कथाएँ उपयोगी रही हैं। सामाजिक संगठन और सामाजिक एकता का विकास करने में मिथ कथाओं और लोक कथाओं की अपनी उपादेयता है। उत्पत्ति के विषय में एक और मिथ कथा भीलों में प्रचलित है।

भील आदिवासियों में कुछ लोककथाओं का महत्त्व मात्र लोकरंजन है। ऐसी ही एक लोककथा यहाँ प्रस्तुत है- वन भ्रमण करते समय एक बार महादेव बहुत थक गए। विश्राम के लिये वे उपयुक्त स्थान खोजने लगे। उनके काग दूत ने उन्हें पास ही एक अच्छी गुफा होने की जानकारी दी। महादेव तत्काल वहाँ पहुँचे।

गुफा देख उन्हें प्रसन्नता हुई और आश्चर्य भी। इस घने वन में इतनी स्वच्छ और सुन्दर गुफा कहाँ से आई? अवश्य ही इसमें कोई रहता होगा। तभी यह इतनी स्वच्छ और सुंदर है। कौन होगा इसका स्वामी? वे यह विचार कर ही रहे थे कि तभी एक अपूर्व सुन्दरी उनके सामने प्रगट हुई। चेहरे पर मधुर मुस्कान के साथ उसने महादेव की चरण वन्दना की। महादेव उस पर मोहित हो गए। महादेव सोचने लगे कि यह सुंदरी कौन है? इस वन में वह कैसे आई? कहीं यह गुफा उसकी ही तो नहीं है? यदि है, तो वे विश्राम कहाँ करेंगे? इतने घने वन और हिंसक पशुओं के बीच वह कैसे रहती होगी? इसके अभिभावक कौन हो सकते हैं? महादेव के मन में उठ रहे ये प्रश्न उस सुंदरी से छुपे न रह सके। उसने महादेव की जिज्ञासा को शांत करने के लिये विनम्रतापूर्वक कहा- 'हे देवों के देव, महादेव! मैं वनदेवता की पुत्री हूँ। यह वन-उपवन मेरा आवास है। वन मेरा परिधान और श्रृंगार है। वन में विचरण कर रहे पशु-पक्षी मेरे बंधु-बांधव हैं। इनसे भला मैं क्यों डरूँ? सच है, यह गुफा मेरी ही है। पर, आप इसमें विश्राम कर सकते हैं। यहाँ आपको कोई कष्ट नहीं होगा।' महादेव उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। उस लावण्यवती बाला के प्रभाव से महादेव की सारी थकान न जाने कहाँ चली गई। उस सुंदरी ने महादेव के आहार के लिये वन के मधुर फल प्रस्तुत किये। महादेव उसके सौंदर्य, उसके स्वभाव, उसकी विनम्रता और सेवा भावना से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने वनदेवता के सम्मुख उनकी इस कन्या के साथ विवाह का प्रस्ताव रखा। वनदेवता की प्रसन्नता का पारावार न रहा। महादेव ने उसके साथ विवाह किया। महादेव से इस सुंदरी को अनेक बच्चे हुए। इन बच्चों से विभिन्न जातियाँ अस्तित्व में आईं। इन बच्चों में एक बच्चा श्यामवर्णी था। देखने में भी वह सामान्य ही था। वह क्रोधी भी बहुत था, पर वह श्रेष्ठ धनुर्धारी था। एक बार किसी बात पर क्रोधित होकर उसने महादेव के नन्दी को आहत कर दिया। इस पर महादेव का नाराज होना स्वाभाविक था। उन्होंने उसे घर से निकाल दिया। उसके क्रोधी स्वभाव के कारण कोई भी उसे अपने साथ रखने को तैयार न हुआ। दीन-हीन होकर वह वन में भटकता रहा। वन में उपलब्ध फल-फूलों को एकत्रित कर और वन्य पशुओं का शिकार कर वह जैसे-तैसे जीवन यापन करने लगा। उसके दिन कष्ट और अभाव में बीतने लगे। भील महादेव के इसी पुत्र की संतान हैं।

यह सत्य है कि मिथ कथाओं के माध्यम से आदिवासी स्वयं को देवजगत से जोड़कर प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि अधिकांश लोककथाओं और मिथकथाओं का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य लोक का मनोरंजन करना होता है। गल्प या गप्प लोककथाओं का एक प्रारूप है। गल्पकथाएँ तो मात्र मनोरंजन परक ही होती हैं। एक गल्पकथा में भील कृषक, उसकी फसल, पक्षियों के साथ उसका सहसम्बन्ध और उनके पारस्परिक तालमेल का बहुत सुन्दर चित्रण हुआ है। गल्पकथा इस प्रकार है-

एक बार एक भील किसान ने खूब परिश्रम किया। उसकी मेहनत रंग लाई। खेत लहलहाने लगा। जब फसल पकने को हुई तो किसान की चिन्ता बढ़ गई। चिन्ता यह थी कि यदि रात में चोर आए तो फसल की रक्षा कैसे की जाए? इतने बड़े खेत की रखवाली वह अकेला कैसे कर सकता है? इसी चिन्ता में वह घुलने लगा। वह कमजोर हो चला। उसकी यह पीड़ा नहीं चिड़िया से देखी न गई। उसने सोचा, खेत से किसान और उसके परिवार का ही नहीं, बल्कि उसका और अन्य पशु-पक्षियों का भी भरण पोषण होता है। इसलिये खेत की सुरक्षा करना किसान का ही नहीं, उसका भी कर्तव्य है। इस विचार से वह बहुत रोमांचित हुई। उसने खेत की रखवाली में किसान की सहायता करने का निश्चय किया। नहीं चिड़िया ने उड़ान भरी और किसान को देखते ही वह उसके कंधे पर बैठ गई। आत्मविश्वास के साथ उसने किसान से कहा- 'किसान भाई, दुखी क्यों होते हो। तुम्हारी चिन्ता मैं समझती हूँ। तुम इसी बात से चिन्तित हो कि तुम्हारे खेत-खलिहान की रखवाली कैसे होगी? तुम चिन्ता मत करो। खेत की रखवाली मैं करूँगी। कौतूहल से किसान ने पूछा- 'तुम तो स्वयं नहीं हो। तुम भला चोरों का सामना कैसे करोगी?' चिड़िया ने कहा- 'अरे भाई! सभी काम ताकत से नहीं होते हैं। कुछ काम जुगत से भी तो होते हैं। मैं जुगत का इस्तेमाल कर तुम्हारे खेत की रखवाली करूँगी।' किसान का कौतूहल फिर भी शांत नहीं हुआ। उसने पूछा- 'वह कैसे?' चिड़िया ने कहा- 'सुनो! जब खेत में चोर आएँगे, तब मैं शोर मचा कर तुम्हें जगा दूँगी। बस, फिर तो तुम चोरों को भगा ही दोगे। ठीक है न?' किसान को चिड़िया की बात पर हँसी आ गई। हँसते हुए उसने कहा- 'नहीं जान। तुम्हारी चीं-चीं में इतना दम कहाँ कि थके-माँदे मुझ मानुस को जगा दे।' किसान के व्यंग्य से

चिड़िया आहत भी हुई और निराश भी। अब वह क्या करे? वह गहरे सोच में पड़ गई। वह पेड़ की एक शाखा पर इसी सोच में बैठी हुई थी कि वहीं एक कौआ भी आकर बैठ गया। चिड़िया को उदास देख उसने उससे उसकी उदासी का कारण पूछा। चिड़िया ने उसे किसान की चिन्ता और उसकी सहायता करने में अपनी असमर्थता की समस्या बताई। चिड़िया की बात सुन कौआ विचारमग्न हुआ। काफी सोच-विचार के बाद उसने चिड़िया से कहा- 'बहन, तुम चिन्ता न करो। किसान की सहायता मैं करूँगा। तुम तो जानती ही हो कि मेरी आवाज बहुत बुलन्द है। चोर आने पर जब मैं काँव-काँव करूँगा तो किसान जरूर जाग जाएगा। इस तरह मैं उसके खेत की रखवाली करूँगा।' चिड़िया खुश हो गई। वह कौए को लेकर किसान के पास गई। दोनों किसान के चबूतरे पर बैठ गए। कौए ने किसान के समक्ष उसकी सहायता करने की पेशकश की। किसान असमंजस में पड़ गया। कौए को लगा कि शायद किसान को चिड़िया के समान उसकी आवाज पर भी भरोसा नहीं है। उसने आत्मविश्वास के साथ किसान को आश्वस्त करते हुए कहा- 'तुम चिन्ता मत करो। मेरी आवाज चिड़िया से ज्यादा तेज है। मेरी काँव-काँव में बड़ा जोर है। मेरी आवाज में दम है। मेरी काँव-काँव इतनी जबरदस्त होती है कि तीन कोस तक सुनाई देती है।' किसान ने सिर पकड़ लिया। चिंतित होकर उसने कहा- 'न बाबा ना। तुम्हारी आवाज कर्कश है। मेरे बच्चे, मेरी बकरियाँ, मेरी मुर्गियाँ सब डर जाएँगे। तुम तो रहने ही दो।' इसका उत्तर कौआ भला क्या देता? किसान की बात से कौआ और चिड़िया को गहरी निराशा हुई। वे उड़कर फिर पेड़ पर जा बैठे।

किसान को चिन्तामग्न देख उसका मुर्गा आकर उसके पास बैठ गया। किसान में और उसमें घर-गृहस्थी की और सुख-दुःख की बातें हुईं। बात-बात में किसान ने मुर्गे को अपनी समस्या बताई और यह भी बताया कि चिड़िया और कौआ उसकी मदद करना चाहते हैं, पर उसने मना कर दिया। मुर्गे ने सहानुभूति जताते हुए कहा- 'भाई, मैं तुम्हारी चिन्ता समझता हूँ। पर मेरे रहते तुम क्यों चिन्ता करते हो? मैं हूँ ना तुम्हारे साथ। मेरी आवाज बुलन्द है। कर्कश भी नहीं है। तुम, तुम्हारे बच्चे, तुम्हारी बकरियाँ और मुर्गियाँ सब तो जानते हैं मुझे। मेरी आवाज उनके लिये नई नहीं है। मेरी आवाज से वे क्यों डरेंगे? तुम निश्चिंत रहो। मैं खेत की रखवाली करूँगा। जब चोर आएंगे तो मैं बांग देकर तुम्हें खबर कर

दूँगा।' मुर्गे की बात किसान को जँच गई। वह आश्वस्त हुआ।

इस तरह कुछ दिन तक सब ठीक ठाक चलता रहा। पर ऐसा कब तक चलता? पकी फसल देखकर चोरों का मन ललचाने लगा। एक रात वे चोरी की नियत से किसान के खेत में घुस गए। मुर्गा तो चौकन्ना था ही। वह बांग देकर किसान को जगाने की कोशिश करने लगा। दिन भर की मेहनत से थका-मांदा किसान गहरी नींद में सोया था। किसान के खर्राटों में मुर्गे की बांग दब गई। किसान उसे सुन नहीं पाया और उसकी गहरी नींद खुल नहीं पाई। अब मुर्गा किसान की खाट के पास जाकर चीखने चिल्लाने लगा। पर किसान कहाँ सुनने वाला था? मुर्गा निराशा नहीं हुआ। उसने अपनी कोशिश जारी रखी।

मुर्गे की चीख चिल्लाहट से चोर चिन्तित हुए। कहीं ऐसा न हो कि मुर्गे की हरकत से किसान जाग जाए और उनका सारा खेल ही चौपट हो जाए। मुर्गे को चिल्लाने से रोकने का चोरों ने बहुतेरा प्रयत्न किया। पर मुर्गा कहाँ मानने वाला था। चोरों ने सोचा, चोरी तभी संभव है, जब मुर्गे को चुप करा दिया जाए। पर कैसे? सीधी सी बात है। मुर्गे की बोलती बन्द कर दी जाए। उन्होंने उसे पकड़ा और गर्दन मरोड़ दी। अब इस मुर्गे का क्या किया जाए? सोच किस बात का? पकाओ और हजम कर लो। आनन-फानन में यह सब हो गया। फिर निश्चिंत होकर उन्होंने फसल काटी, पोटलियों में बांधी और अन्धेरे में गायब हो गए। पर वे बहुत दूर न जा सके। थोड़ी दूर ही जा पाए थे कि भोर का समय हुआ। भोर का समय और मुर्गा बांग न दे, ऐसा कैसे हो सकता है? मुर्गा चोरों के पेट में हो या बाहर, इससे क्या फर्क पड़ता है? उसे तो अपना काम करना ही था। सो, वह चोरों के पेट में ही जोर-जोर से बांग देने लगा- कुकडुं कू.....। मुर्गे की बांग से चोर चौंक गए। गाँव पास ही था। चोरों के पेट में मुर्गे का चीखना बढ़ता ही जा रहा था। चोर चिन्ता में पड़ गए कि यदि मुर्गे की बांग से गाँव वाले जाग गए तो वे मुसीबत में पड़ जाएंगे। क्या किया जाए? उन्होंने तय किया कि मुर्गे से मुक्ति पाना जरूरी है। पर कैसे? साथी ने कहा- अपने पास हंसिया तो है ही। अपना पेट काट कर मुर्गे को निकाल बाहर करो और उसकी गर्दन मरोड़ दो। बस फिर क्या था। आनन-फानन में उन्होंने मुर्गे को पेट से बाहर किया। बाहर करते ही वह सरपट भागा। चोर भी उसे पकड़ने के लिये लपके। पर मुर्गा उनके हाथ न आ रहा था। कभी वह सरपट दौड़ता तो कभी उड़ कर किसी डाल

पर बैठ जाता। देखते ही देखते वह चोरों की पहुँच से दूर हो गया। चोर दौड़ते-दौड़ते हाँफने लगे। पेट चीरा होने से कमजोर तो हो ही गए थे। कहाँ तक दौड़ते? मूर्ख तो थे ही। मूर्ख होने के कारण ही चोरों ने यह जुगत तो भिड़ाई थी कि अपना पेट काटकर मुर्गे को बाहर कर दो, पर उनकी मोटी अकल में यह बात नहीं आई थी कि पेट कट जाने पर वे भी तो मर जाएंगे। यही हुआ। चोर मुर्गे को पकड़ पाते, इसके पहले ही वे धराशायी हो गए।

मुर्गा बिना देर किये किसान के पास पहुँचा। उसे सब बताया। यह भी कि चोर मर चुके हैं और किसान का चोरी किया अनाज चोरों की पोटलियों में सुरक्षित है। किसान ने अपनी लाठी उठाई और मुर्गे के पीछे चल पड़ा। चोरों को मरा हुआ और अपने अनाज को सुरक्षित देखकर उसकी खुशी का पारावर न रहा। उस दिन से किसान और मुर्गे में दोस्ती हो गई। तभी से भील मुर्गा-मुर्गी पालने लगे।

निमाड़ी और भुआणी संत परम्परा

डॉ. अनिता हाड़ा

सामाजिक विखण्डन के समय में संतों ने भारतीय जनमानस को मार्ग दिखाया। उनके उपदेशों ने श्रेष्ठ औषधि के रूप में कार्य करके आमजन की चेतना को जागृत किया। इन संतों ने ईश्वर की साकार व निराकार दोनों रूपों में उपासना करने का मार्ग बताया। आध्यात्मिक दृष्टि से यह काल स्वर्णयुग था। डॉ. श्रीराम परिहार के अनुसार 'संतों ने सांस्कृतिक एकता स्थापित करने में रेखांकित करने योग्य भूमिका निभायी है, संतों ने लोगों को जोड़ा और उनके साहित्य ने करोड़ों हृदय को।' इन संतों ने भक्ति का उपदेश अपने-अपने स्थानों पर रहकर ही दिया। सांस्कृतिक जागरण का पुनीत कार्य इन संतों ने ही किया। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में 'नर्मदा की उपकंठ भूमि अति प्राचीन संस्कृति की धात्री रही है, इस महीमाता की क्षीर धारिणी मुद्रा से मानव का सर्वतोमुखी जीवन धन्य हुआ है।' विन्ध्याचल और सतुपड़ा पर्वत श्रेणियों के बीच माँ नर्मदा की गोद में किलकारियाँ भरता हुआ सुन्दर निमाड़ क्षेत्र है। हरसूद से लेकर होशंगाबाद तक का क्षेत्र भुआणा कहलाता है। निमाड़ी और भुआणी संत साहित्य अत्यंत समृद्धशाली है। मध्यकाल में संत सिंगाजी जैसे महान् संत हुए जिनकी वाणी ने इस निमाड़-भुआणा अंचल को निर्गुण भक्तिधारा से अनुगूँजित किया। सम्पूर्ण भारत में भक्ति की चाँदनी बिखरी हुई थी। संत भक्ति के द्वारा जनता को मोक्ष प्राप्ति का मार्ग दिखा रहे थे। डॉ. श्रीराम परिहार के अनुसार 'उत्तर भारत में संत कबीर भरे बाजार में खड़े होकर घर फूँकने की बात कह रहे थे। जिंदगी को फक्कड़पन से जीते हुए आत्मज्ञान को तलाश करते रहे थे और अमर हो जाने का ऐलान कर रहे थे। संत नामदेव पंढरपुर में बिठोवा (विट्ठल भगवान) के गुणगान कर रहे थे। बाद में नामदेव निर्गुण भक्ति की ओर उन्मुख हुए। उसी सौ-पचास वर्षों के आसपास मध्यप्रदेश के निमाड़ में संत

सिंगाजी निरगुनिया भजन गा रहे थे।' भक्ति रूपी धारा सभी को जोड़ रही थी और इस पवित्र धारा में जनमानस डुबकी लगाकर स्वयं को उजला करने की कोशिश कर रहा था। निमाड़ और भुआणा की संस्कृति के निर्माण में संत साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है। डॉ. श्रीराम परिहार के अनुसार- ब्रह्मगिरि से पहले निमाड़ क्षेत्र में कई संत हुये। 'निमाड़ में अद्वैतवाद व निर्गुण परम्परा की स्थापना का श्रेय आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य को है। उन्होंने ओंकारेश्वर तीर्थ में आचार्य गोविन्द भगत्वपाद के चरणों में बैठकर विद्याध्ययन लिया। शास्त्रों में पारंगत होकर काशी के विद्वानों को शास्त्रार्थ में परास्त किया। शंकराचार्य ने पंडित मंडन मिश्र को भी शास्त्रार्थ में परास्त किया। मिश्रजी ने जगद्गुरु का शिष्यत्व स्वीकार कर स्वामी सुरेश्वरानंद के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने निमाड़ में निर्गुण धारा व अद्वैतवाद का प्रचार किया।'

निमाड़ अंचल में संत परम्परा की सरिता धारा प्रवाहित करने का शुभ कार्य जगद्गुरु शंकराचार्य ने किया। इनके बाद में निमाड़ व भुआणा में कई संत हुये, जिन्होंने साहित्यिक योगदान से निमाड़ी-भुआणी संत साहित्य की परम्परा को समृद्ध किया। बाबूलाल सेन के अनुसार- 'शंकराचार्य स्वामी के तृतीय शिष्य आत्मानंद, आत्मानंद के शिष्य हरिहरानंद, हरिहरानंद के शिष्य विमलानंद, विमलानंद के शिष्य ज्ञानानंद, ज्ञानानंद के शिष्य भवानंद, भवानंद के शिष्य आत्मानंद, आत्मानंद के शिष्य जगतानंद, जगतानंद के शिष्य शकतानंद, शकतानंद के शिष्य सदानंद, सदानंद के चार शिष्य चतुर्थ औघड़नाथ।' बाबूलाल सेन के अनुसार ही-औघड़नाथ के शिष्य भिखारीनाथ, भिखारीनाथ के शिष्य लालनाथगिरि, लालनाथगिरि के शिष्य जगन्नाथगिरि, जगन्नाथगिरि के शिष्य ब्रह्मगिरि, ब्रह्मगिरि के छः शिष्य प्रथम मनरंगिर, मनरंगिर के दो शिष्य प्रथम सिंगाजी और द्वितीय श्यामगिरि। इस प्रकार शंकराचार्य ने निमाड़ में जिस संत-साहित्य की परम्परा की ज्योति प्रज्वलित की थी। उसे उनके शिष्यों ने हमेशा ज्योतिमय बनाये रखा। औघड़नाथ जी ने भिखारीनाथ को, भिखारी नाथ ने लालनाथ गिर को, लालनाथ गिर ने जगन्नाथ गिर को अपना शिष्य बनाया। जगन्नाथ गिर पूर्वी निमाड़ में भामगढ़ के पास ग्राम कपूरिया में निवास करने लगे, वहीं इन्होंने खुशलाल

नामक बालक को अपना शिष्य बनाया और यही बालक आगे चलकर योगीराज ब्रह्मगिरि के नाम से विख्यात हुये। संत ब्रह्मगिरि को निमाड़ी संत साहित्य का आद्य प्रवर्तक माना जाता है। इनका कार्यकाल वि.सं. 1455 से 1575 माना गया है। ये कबीर के समकालीन थे। लालगिरि महाराज ने विधि-विधान से खुशलाल का नाम ब्रह्मगिरि करके समाधि ले ली। अंत में ब्रह्मगिरि ने जगन्नाथगिरि को अपना गुरु मान लिया। ब्रह्मगिरि महाराज के एक गीत ने साधारण से एक गवली के जीवन में अमूल परिवर्तन ला दिया था। पद्मश्री रामनारायण उपाध्याय ने ब्रह्मगिरि के विषय में लिखा है- 'यद्यपि उनकी रचनाओं में निमाड़ी का वैसा स्वरूप नहीं निखरा है, जैसा कि सिंगा की रचनाओं में है, फिर भी निमाड़ी भाषा में सर्वप्रथम रचना करने का श्रेय इन्हें ही है।' निर्गुण काव्य धारा की दृष्टि से ब्रह्मगिरि के इस पद का महत्त्व कबीर के पदों से किसी भी प्रकार न्यून नहीं है-

*हम परदेशी पावणां दो दिन का मेजबान ।
आखिर चलना आंत को निगुरण घर जाणां ॥
नाद से बिंदू जमईया, जेसा कुंभ का कच्चा ।
काचा कुंभ ना रहे, एक दिन होएगा विनासा ॥
खाणां पीणां सो आपणां, दिया लिया सो साथ ।
एक दिन अचरज होएगा, उठ लागोगे बाट ॥
ब्रह्मगिरि निसरित भयो, करी ब्रह्म की सेवा ॥*

इस प्रकार संत ब्रह्मगिरि ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश दिया। संत मनरंगिरि रामनगर के निवासी थे। इनके मुख से ब्रह्मगिरि का भजन सुनकर सिंगा युग-युगान्तर के संत बन गये। डॉ. कृष्णपाल हंस लिखते हैं- 'उनके विषय में इतना ही ज्ञात है कि एक दिन जब सिंगाजी किसी जातीय निमंत्रण पर हरसूद से जा रहे थे। तब मार्ग में उनके कान में मनरंगिरि के द्वारा गाये जाने वाले भक्तिपूर्ण गीत की कुछ पंक्तियाँ पड़ गई, उसे सुनकर सिंगाजी इतने प्रभावित हुए कि वे उसी समय मनरंगिरि के पास पहुँचे और उनसे दीक्षा देने के लिये प्रार्थना की, किन्तु मनरंगिरि ने सिंगा को केवल उपदेश देकर रामनगर चले गये। सिंगाजी ने कुछ समय पश्चात् रामनगर जाकर उनसे दीक्षा ग्रहण की। उनके उपदेशानुसार घर-द्वार त्याग कर एकमात्र ईश्वर चिन्तन में लग

गये।' इस प्रकार इनके भक्तिपूर्ण भजन को सुनकर सिंगाजी इतने भाव विभोर हो उठे कि उन्होंने तत्काल उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। इनके भजन को सुनकर सिंगाजी को वैराग्य प्राप्त हुआ। निमाड़ी लोक साहित्य में संत सिंगाजी दैदीप्यमान नक्षत्र के समान आज भी जगमगा रहे हैं। निमाड़ी साहित्य में उनका अपूर्व स्थान है। संत सिंगा निमाड़ के लोक जीवन की आध्यात्मिक धुरी हैं। संत सिंगा ने ग्यारह सौ भजनों की निमाड़ी में रचनाकर निमाड़ी भाषा के साथ-साथ समस्त निमाड़ को गौरवान्वित किया। निमाड़ के प्रत्येक गाँव में सिंगाजी के भजन आज भी प्रचलित हैं। निमाड़ की प्रत्येक भजन मंडली में संत सिंगा के भजन गाये जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सिंगाजी के भजनों के बिना यहाँ का सारा संगीत ही अधूरा है। जनसाधारण के लिये सिंगाजी एक महान संत के साथ-साथ अलौकिक व्यक्तित्व हैं। बाबूलाल सेन के अनुसार- 'लोक मान्यता है कि श्रृंगी ऋषि ने सिंगाजी के रूप में वि.सं. 1576 में ग्राम खजूरी में भीमाजी गवली के यहाँ जन्म लिया। इनकी माता का नाम गवराबाई था। इनके परिवार में भाई लिम्बाजी, बहिन किसना बाई, पत्नी यशोदा बाई तथा चार पुत्र-कालू, भोलू, सडू और दिपा थे। कालूजी के पुत्र व सिंगाजी के पौत्र दलुदास इनके अनन्य भक्त थे। सिंगाजी के निर्वाण की तिथि सम्वत् 1616 मानें तो उस समय उनकी उम्र 41 वर्ष थी।' खेमदास ने अपनी 'परचुरी' में समाधि लेने की घटना का अलग वर्णन किया है, इसमें कहा है- 'सिंगा को अपने गुरु का संदेश मिला कि अब तुम्हें देह त्यागकर समाधि ले लेना चाहिए। गुरु ने सावन शुक्ल पूर्णिमा को देह त्यागने को कहा था। सिंगाजी ने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर उससे पूर्व ही सावन शुक्ल नवमी को अपने परिजनों की उपस्थिति में समाधि ले ली।' डॉ. श्रीराम परिहार के अनुसार-

*गुरुभाई संदेशो लायो सिंगाजी स्वामी आनंद पायो।
श्रावण पून्यो छूटे देही, गुरु ने लिख पठायो एही।
श्रावण सुदी नवमी सार, ता दिन स्वामी न कियो विचार।
भयी स्वामी अन्तरध्यान, निकसी जीत में जीत समान।
रोये कुटुम कबेलो घर नारि, सिष सखा आदिक अपार।*

सिंगा का संत जीवन एक वर्ष रहा होगा। इस अल्प समय में उन्होंने जो कुछ कहा, वह इतिहास के पन्नों पर अमर से गया।

उनके भजन आज जन-जन के मुख पर हैं। संत सिंगा से जुड़ी कई चमत्कार पूर्ण घटनाएँ हैं, जिससे जनमानस आकर्षित होता चला गया और वह उन्हें पूजने लगा। उनकी रचनाओं से ऐसा लगता है कि वे दार्शनिक रूप से कबीर से पूर्णतः प्रभावित थे। श्री रामनारायण उपाध्याय लिखते हैं कि सिंगाजी की रचनाओं को देखकर ऐसा लगता है, मानो हम कबीर से मिल रहे हों, वही फकड़पन, वही 'अनहद का नाद' वही 'शब्द की झंकार' वही 'त्रिकुटी महल' वही 'शून्य में नयन' और वही 'अखंड ज्योति भरपूर'। संत सिंगा ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना की है। वे आत्मा में परमात्मा के दर्शन का रहस्य बताते हुए कहते हैं कि 'जैसी रचना बाहर की है, वैसी ही रचना भीतर है। जैसे देह जमीन है, इसमें सिर आकाश है, नयन चाँद-सूर्य है, त्रिगुण नदियाँ हैं- भय, भ्रम का बादल है। अनहद गरजना है षटकमल घटचक्र है और सोहम् पुरुष इसका परमेश्वर है।' इस प्रकार छोटे शब्दों में सहज सरल उपमानों के सहारे आपने अव्यक्त ब्रह्म का विराट दर्शन कराया। काव्य रचना की दृष्टि से संत सिंगाजी निमाड़ी लोक साहित्य के प्रमुख कवि हैं, इनके भजन निमाड़ के साथ-साथ बैतूल, छिंदवाड़ा, होशंगाबाद, मालवा एवं झाबुआ जिले के कुछ भागों में भी गाये जाते हैं। संत सिंगा और उनके भक्तिपूर्ण पदों के प्रति ग्रामीण जनता के मन में अटूट श्रद्धा है।

सिंगाजी सच्चे अर्थों में लोक कवि थे। उन्होंने भी कबीर के समान कागज व कलम को स्पर्श नहीं किया। उनके पद पीढ़ी दर पीढ़ी गाये जाते हैं। पं. माखनलाल चतुर्वेदी ने सिंगाजी को नर्मदा की तरह सुन्दर, प्राणवर्धक और युग की सीमा रेखा बनाने वाले संत निरूपित करते हुये लिखा है- 'सिंगाजी के गीतों के दीपक लेकर निमाड़ के किसान सुदूर आसमान पर चमकने वाले सूरज व चाँद की आरती उतारा करते हैं। वे सिंगाजी के गीत, दीपों की शिखा को अन्य संतों के चरणों पर हिलता-डुलता देखते हैं, किन्तु वे अपना मस्तक सिंगा रूपी प्रकाश पुंज पर ही चढ़ाते हैं।' इस प्रकार सिंगाजी इतने लोकप्रिय थे, किन्तु इसके बाद भी उन्होंने अपने पीछे किसी मत की स्थापना नहीं की। निर्गुण विचारक होने के बाद भी उन्होंने अपने विचारों को मत के संकुचित घेरे में बांधने को पसंद नहीं किया। इस तरह सिंगाजी निमाड़ अंचल के

संतों में सबसे महान थे, जो आज भी जन-जन के द्वारा पूजे जाते हैं। उनके पद आज भी श्रद्धा के साथ गाये जाते हैं, वे एक दैदीप्यमान नक्षत्र के समान निमाड़ अंचल में आज भी जगमगा रहे हैं। कालूजी महाराज संत सिंगा के ज्येष्ठ पुत्र थे, कालूजी बाल्यावस्था से ही आध्यात्मिक रुचि रखते थे। उनके पदों को देखकर कह सकते हैं कि दैन्य की जिस भावभूमि पर खड़े होकर संत शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास ने 'विनय पत्रिका' का सृजन किया है, उसी स्तर से उसी तन्मयता से दलुदास ने सिंगाजी का प्रशस्ति गान किया है। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है। हम अनादिकाल से देखते आ रहे हैं कि भक्तजनों की आवश्यकताएँ सीमित होती हैं। पेट के लिये दो रोटी, तन ढंकने के लिये कपड़ा। इसके अलावा ईश्वर की पूजा-अर्चना करके वे अपना जीवन-यापन करते हैं, उनकी सिर्फ इतनी ही चाहत होती है।

*सिंगाजी स्वामी आरजी सुणजो,
कोई का दागदार मत कीजो।
नर-नारायण देह दीनी है,
गुरु म्हारी पल-पल खबरा लीजो।
तीन पाव या तन खऽ दीजो,
गुरु मखऽ अपणो करी खऽ राखजो।
भरी सभा मऽ साख राखजो,
गुरु मखऽ तन भरी वस्तर दीजो।
सुमुरण भजन आरती पूजा,
गुरु मखऽ भक्ति खेती दीजो।
कहे जन दलु सुणो भाई साधू।
म्हारी असी सदा निभावजो
कोई का दागदार मत कीजो।*

दलुदास के पदों की संख्या पंद्रह सौ बताई जाती है, किन्तु वर्तमान में इतने पद उपलब्ध नहीं हैं। इस प्रकार दलुदास ने भक्तिपूर्ण पदों के माध्यम से समस्त निमाड़ अंचल को प्रभावित किया है, उनकी रचनाओं में निमाड़ी का स्वरूप निखरता गया है। खेमदास सिंगाजी के अनन्य भक्त थे। श्री वसंत निरगुणे के अनुसार- 'खेमदास लोक बोली निमाड़ी के पहले संत कवि जिन्हें शिरोमणि सिंगाजी के समग्र जीवन चरित्र लिखने का श्रेय है, वह भी

सिंगाजी के समाधि लेने के लगभग 135 वर्ष पश्चात् खेमदास ने 'सिंगाजी की परचुरी नामक ग्रंथ की रचना की थी।' सिंगाजी की परचुरी पढ़कर ही सिंगाजी के विषय में समस्त जानकारी मिलती है। 'परचुरी' से तात्पर्य 'परिचय' या 'परचा' दोनों होते हैं। श्री रामनारायण उपाध्याय के अनुसार 'निमाड़ी में 'परचा' शब्द चमत्कार के लिये प्रचलित है। हमारे यहाँ परम्परा रही है कि साधक से एक न एक चमत्कार को जोड़ दिया है, वे चाहे रामकृष्ण हों, चाहे सूर, तुलसी, किसी का भी जीवन चमत्कारों से खाली नहीं है। संत सिंगाजी के विषय में खेमदास की लिखित 'परचुरी' से बहुत जानकारी मिलती है। संत खेमदास के जन्म-मृत्यु व माता-पिता के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती है, ये सब अतीत के गर्भ में समाये हुये हैं।

श्री वसंत निरगुणे के अनुसार- संत खेमदास ने इस परचुरी की रचना वि.सं. 1751 में की थी, जिसकी प्रतिलिपि श्री गोर्वधनदास ब्राह्मण ने की थी। इसी प्रति के आधार पर श्री रामनारायण उपाध्याय ने इसका पुनर्लेखन करके उसे 'संत सिंगाजी-एक अध्ययन' नामक पुस्तक में प्रकाशित किया। खेमदास जी सिंगाजी के पौत्र होने के साथ-साथ सिंगा के अनन्य भक्त थे। यह सत्य है कि सिंगा की परचुरी की रचना खेमदास नहीं करते तो सिंगा के विस्तृत जीवन चरित्र को हम नहीं जान पाते। खेमदास जी ने संत सिंगा का समस्त जीवन चरित्र 'परचुरी' में लिखकर निमाड़ी लोक-साहित्य को अमूल्य धरोहर भेंट की है, जो सदैव स्मरणीय रहेगी।

संत जगन्नाथगिर-मनरंगगिर के शिष्य थे। डॉ. कृष्णलाल हंस ने उन्हें सिंगा का समकालीन माना है। इनके जीवन-मृत्यु आदि के विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। संत सिंगा के विपरीत ये पढ़े-लिखे संत थे। उन्होंने जो भी काव्य रचना की, वह सुव्यवस्थित और सुस्पष्ट है। इनके पदों से पता चलता है कि ये संत सिंगा व निर्गुण काव्य धारा के पोषक थे। जगन्नाथ गिर ने मौन साधक बनकर साधना की है। सगुण काव्यधारा के प्रचारकों में श्री रंकनाथ जी का स्थान सर्वोपरि है। सम्वत् 1932 में 84 वर्ष की आयु में आपका स्वर्गवास हो गया। निमाड़ के जनमानस के मुखारविंद से इनके पदों को आज भी सुना जाता है। निमाड़

अंचल की संत परम्परा ने रंकनाथ को सगुण काव्यधारा का प्रवर्तक माना है। तो दूसरी ओर संत दीनदास जी राम-भक्ति काव्य धारा के प्रचारकों में सर्वोपरि स्थान रखते हैं। आपका जन्म हरदा जिले के रहटगाँव में सम्वत् 1892 में मकड़ाई रियासत के अंतर्गत ग्राम सिराली में नरोत्तम शुक्ल के यहाँ हुआ था। ये नार्मदीय ब्राह्मण थे। इनका वास्तविक नाम सदाशिव था। दीनदास नाम उनके गुरु के द्वारा दिया गया है, इनका मन रामभक्ति में रमने लगा था। इन्होंने रंकनाथ जी को अपना गुरु मानकर उनसे दीक्षा ले ली थी। बाबूलाल सेन के अनुसार- 'रंकनाथ जी इनके यहाँ कई दिनों तक ठहरे, एक दिन जब दीनदास राम की पूजा में तल्लीन थे, तब रंकनाथ जी ने हँसते हुये इनसे कहा कि मेरा कृष्ण बड़ा उदार और दयालु है, मैं उनसे जो माँगता हूँ, वह मुझे वहीं दे देता है। क्या तेरा राम भी कुछ दे सकता है। दीनदास ने नम्रता से उत्तर दिया- महाराज मेरा राम मुझे क्या नहीं दे सकता, पर मुझे उससे अधिक कुछ माँगने की आवश्यकता ही नहीं होती। मुझे प्रतिदिन एक रुपये की आवश्यकता होती है और वह मुझे दे दिया करते हैं। आप जब से पधारे हैं, मैंने उनसे अपनी एक रुपये रोज की मजदूरी भी नहीं ली, देखिये वह उनके चरणों के पास रखी है। रंकनाथ ने देखा राम की मूर्ति के पास बाईस रुपये रखे हैं, उन्हें आये बाईस दिन ही हुये हैं। यह देखकर रंकनाथ आश्चर्य चकित हो गये। इनके राम निमाड़ी पदों में सम्पूर्ण रूप से विद्यमान हैं, उनके पदों में राम की महिमा का मधुर वर्णन है। इस विषय पर कालूजी का कहना है-

*कालू उठ उधमकर, बैठे बने न वीर।
तन सरवर मन माछली, खेलो कालू कीर।।*

कालूजी ने भी तुलसीदास के समान जहाँ अनादर हो, वहाँ नहीं जाना चाहिए। इस विचार को उन्होंने निम्न रूप में व्यक्त किया है-

*घर आये आदर नहीं, गये छिपाये भुज।
कालू तहाँ जाइये, परमेसर की सूझ।।*

जिस तरह वन-उपवन की मनमोहक सुगंध भ्रमर को आकर्षित कर लेती है, उसी प्रकार सांस्कृतिक माया-मोह भी

अच्छे-अच्छे लोगों को अपने मोहपाश में जकड़ लेता है। इन चीजों से व्यक्ति को दूर रहना चाहिये। कालूजी ने आमजन को यही सलाह दी। कालूजी महाराज माँ नर्मदा के अनन्य भक्त थे। वे पल-भर को भी माँ नर्मदा का स्मरण करना नहीं भूलते थे। माँ नर्मदा भी उनकी इस भक्ति से प्रसन्न थी। इस प्रकार कालूजी महाराज ने भी अपनी रचनाओं के माध्यम से भक्ति के द्वारा ईश्वर प्राप्ति का सरल मार्ग प्रशस्त किया। संत दलुदास-कालूजी के पुत्र और सिंगाजी के पौत्र थे। उन्होंने सिंगा का ही गुणगान व उनकी ही अनन्य भक्ति की। वे स्वभाव से अत्यन्त विनम्र संवेदनशील भक्त कवि थे। दलुदास निर्गुण काव्य धारा के सिंगाजी के बाद सबसे प्रमुख संत कवि ठहरते हैं। श्री रामनारायण उपाध्याय ने लिखा है- 'दलुदास स्वभाव से अत्यन्त विनम्र व श्रद्धालु थे। उनकी रचनायें क्या हैं, मानों संत सिंगा के प्रति एक विनम्र श्रद्धांजलि हैं।' सिंगाजी की निर्गुण काव्य धारा के पश्चात् निमाड़ में सगुण काव्य धारा को प्रवाहित करने का श्रेय रंकदास को जाता है। ये उन्नीसवीं शताब्दी के लोकप्रिय कवि हुये हैं। रंकनाथ के बचपन का नाम कृष्णानंद था। इनका जन्म हरदा जिले के नजरपुर ग्राम के श्री काशीराम के यहाँ वि.सं. 1848 में हुआ। इनके पिता बाद में कुड़ावा जाकर बस गये। सत्रह वर्ष की अल्पायु में इनके पिता का देहावसान हो जाने पर परिवार के पालन-पोषण का भार इनके कंधों पर आ गया, ये नार्मदीय ब्राह्मण थे। जगन्नाथगिर गंगागिर के शिष्य और कृष्ण के उपासक थे। इनके जीवन में एक अद्भुत घटना घटित हुई। श्री वसंत निरगुणे के अनुसार- 'एक दिन गंगागिर नामक संन्यासी ने इनसे श्रीमद्भागवत की कथा सुनाने का आग्रह किया। इन्हें कथा सम्बन्धी कुछ नहीं आता था, इसलिये अपनी असमर्थता प्रकट कर दी, लेकिन वे नहीं माने और उन्होंने संध्या समय श्रीमद्भागवत के श्रोताओं को एकत्र कर लिया और फिर गंगागिर ने कृष्णानंद जी को जबरदस्ती आचार्य के आसन पर बैठाया और पीठ पर हाथ रखकर कहा- कथा आरंभ करो। व्यास गादी पर बैठते ही कृष्णानंद को श्रीमद्भागवत की पूरी कथा का संज्ञान हो गया और वे धारा प्रवाह भागवत कथा विद्वतापूर्ण ढंग से कहने लगे। इस घटना से कृष्णानंद जी के जीवन में बड़ा परिवर्तन आया। इन्होंने गंगागिर से दीक्षा ग्रहण कर ली। कृष्णानंद फिर रंकनाथ के नाम से कृष्ण की उपासना में

लीन हो गये। ये बहुभाषाविद् थे, इसलिए इनकी निमाड़ी रचनाओं पर दूसरी लोक-भाषाओं का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है, इनके पदों में शांत रस की प्रधानता है। निमाड़ अंचल के जीवन में रामभक्ति का संचार किया। इनकी रचनाओं में उस समय की आंचलिक हिन्दी का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। दीनदास जी का निधन कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी को संवत् 1956 यानी सन् 1899 में हुआ। उन्होंने रामभक्तिमय जीवनयापन किया। ये भी संत सिंगा के शिष्य थे। नर्मदांचल के संतों में सिंगाजी व दलुदास के पश्चात् यदि कोई संत कवि लोकप्रिय हुआ है, तो वे हैं धनजीदास। इन्होंने निमाड़ी में अनुपम रचनायें की हैं। 'ये जाति के नाईं थे और गोगाँवा के समीप एक गाँव में इनका जन्म हुआ था। कुंदा नदी के किनारे आज भी इनकी समाधि बनी हुई है।' इन्होंने कई लोक कथाओं की रचना की है, जिनमें 'अभिमन्यु विवाह', 'सुभद्रा-विवाह', 'रुकमणि-हरण', 'बाललीला', 'गोवर्धन-लीला', 'रामलीला', 'राधा-मंगल', 'पूतनावध', 'कंसवध', 'लीलावती' किन्तु सबसे अधिक प्रसिद्ध 'मोती लीला' है। यह 175 पदों का सम्पूर्ण काव्य है। रामनारायण उपाध्याय के अनुसार-'मोतीलीला में आपने एक धार्मिक कथा के आधार पर अत्यंत ही मौलिक व नवीन कल्पना संजोई है। भक्ति, भाषा, उपमा और अलंकार की दृष्टि से यह एक सम्पूर्ण रचना है। इसमें आपने रूठी हुई राधा को मनाने के लिये मोतियों के व्यापारी के रूप में कृष्ण का वर्णन किया है।'

संत धनजीदास की निमाड़ी भाषा अत्यंत ही सुगठित व पूर्णरूप से सशक्त है। उनके पदों में श्रोताओं को बाँधकर रखने की अपनी एक अनूठी क्षमता है। धनजीदास ने अपनी रचनाओं में निमाड़ी का सुंदर रूप में प्रयोग किया है। वे एक महान संत थे। डॉ. कृष्णलाल हंस ने अपने शोधग्रंथ निमाड़ी लोक साहित्य के आधुनिक काल का प्रारंभ साधु फकीरानाथ से किया है। ये खरगोन के पास अमरखली नामक ग्राम के निवासी थे। 'खण्डवा से 1911-12 में प्रकाशित 'जाति सुधार' नामक पत्र में आपकी भक्तिपरक रचनायें प्रकाशित हुई हैं। आपने समाज सुधार व धार्मिक जागृति से ओत-प्रोत रचनाओं का निमाड़ी भाषा में लेखन किया, जिसका लोक जीवन पर सीधा असर पड़ता है। फकीरानाथ

निमाड़ी भाषा में काव्य सृजन कर आमजन में लोकप्रिय हो गये थे।

नर्मदांचल के संत कवि कबीर व सिंगाजी की निर्गुण धारा को अविरल गति से प्रवाहमान बनाये रखने में संत बुखारदास का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है। बुखारदास जी का जन्म वैशाख कृष्णपक्ष एकादशी स. 1868 ई. में खातेगाँव के ग्राम संदलपुर में हुआ था। ये भी कबीर के समान अनपढ़ थे। इन्होंने हरदा के ग्राम पाटारावाली में लकड़ी चीरने का काम किया। आपने भी अन्य संतों के समान बाह्य आडम्बरों का पूर्ण रूप से विरोध किया। स्वामीदास बाबा को अपना गुरु बनाया और निर्गुण मत का प्रचार-प्रसार करने के लिये सिंगाजी के अनुयायी हो गये। इनके समय में निर्गुण धारा क्षीण अवस्था में पहुँच चुकी थी। अतः उसे पुनर्स्थापित करने का श्रेय संत बुखारदास को दिया जाता है। ये बातचीत के माध्यम से अपने ज्ञान की अभिव्यक्ति करते थे। जीवन व जगत के समस्त रहस्यों को खोलते थे। इन्होंने निमाड़ी भाषा को अपनाकर अपनी साहित्य साधना की। संत बुखारदास ब्रह्मचारी थे, फिर भी इन्होंने किसी को गृहस्थी त्यागने की बात नहीं की। इन्होंने जनमानस को समझाया कि बिना गृहस्थी को त्यागे महान् संत बना जा सकता है। पाप और पुण्य के सम्बन्ध में इन्होंने अपने विचार आमजन के समक्ष रखे। उनके विचार इस सम्बन्ध में इस प्रकार थे- 'परोपकार ही धर्म है परपीड़न पाप। शक्ति और पुरुषार्थ पुण्य है, कमजोरी पाप। स्वतंत्रता पुण्य है, परतंत्रता पाप। स्वार्थ रहित प्रेम पुण्य है, घृणा करना पाप। परमात्मा और अपने आपमें विश्वास रखना पुण्य है, संदेह करना पाप और एकता का ध्यान पुण्य है तथा अनेकता देखना पाप।' उनकी आरती का स्वरूप भी भिन्न है। उनका निर्गुण ब्रह्म आत्मा में निवास करता है। उनकी आरती के कुछ पद -

*पंगविन पंथ निकट चलजाई, बिन मुख रखना आरती गाई।
सागर सीप स्वाति बिन मोती, तेल दिया बिन निर्मल ज्योती।
इंगला पिंगला सुखमन सारी, त्रिकुटी महल में सेज सवारी।
कहे परमहंस संतन का चेला, ये आरती करे सद्गुरु मेरा।*

पश्चिमी निमाड़ में बड़वानी के पास ग्राम दवाना में संत

भावसिंह बाबा की समाधि बनी हुई है। यहाँ प्रतिवर्ष उनकी याद में कार्तिक मास की सप्तमी से एक माह का मेला लगता है। बाबूलाल सेन के अनुसार—‘दवाना के समीप ग्राम रणगाँव में कल्याण सिंह नामक क्षत्रिय राजपूत रहते थे। वे निःसंतान थे, उनकी पत्नी सुंदर ग्राम खजूरी में सिंगाजी के पास गई। सिंगाजी ने इन्हें वंश-वृद्धि की बेल बाँधकर कहा— तुम्हारी कोख से अद्भुत बालक जन्म लेगा। जिस प्रकार सीप में स्वाति नक्षत्र की एक बूँद मोती हो जाती है, उसी प्रकार सुंदर बाई की कोख रूपी सीपी में भी एक मूल्यवान बूँद का अस्तित्व समा गया।’ बाबूलाल सेन के अनुसार— ‘वि.सं. 1952 में श्रावण मास की नाग पंचमी बुधवार के दिन मृगशिरा नक्षत्र में भावसिंह इस धरातल पर अवतरित हुए। पुत्ररत्न की प्राप्ति पर कल्याण सिंह के घर आनंद के बधाये गाये गये।’ भावसिंह बाबा ने गुरु सिंगाजी से शिक्षा-दीक्षा लेकर जीवन-पर्यन्त उनके बताये मार्ग पर चले। उनके मुखारबिंद से निकले उपदेशात्मक शब्द भजनों के रूप में ढलने लगे। उनके उपदेशात्मक भजनों के कारण वे अतिशीघ्र जनप्रिय हो गये। हजारों श्रद्धालु उनके अनुयायी बन गये और देव के समान पूजे जाने लगे। भावसिंह का एक निर्गुण पद इस प्रकार है—

मैं तेरा तू मेरा रे साईं, मैं तेरा तू मेरा।
 सब चिड़िया रेन बसेरा रे, भाई मैं तेरा तू मेरा।
 एक ब्रह्म का सकल पसारा, जीव बड़ा बहुतेरा रे।
 पाँचतत्त्व का बणा ये पिंजरा, वहाँ लगाया डेरा रे। भाई..
 पाँचतत्त्व का बणा ये पिंजरा, वहाँ लगाया डेरा रे। भाई..
 एक ही सूरज करे प्रकाशा, एक चन्द उजीला रे।
 एक ही बादल एक ही पाणी, बीच चमके चौकेरा रे। भाई..
 तू ही माता तू ही पिता, तू ही वीरा हमारा रे।
 तू ही बणावे तू ही मिटावे, थारी लीला अपरम्पार रे। भाई..
 गुरु ज्ञान दो हो एक जाल, मिट जाये आंधियारा रे। भाई..
 कहे भावसिंह सुणों भाई साधू, मिटे जनम-जनम का फेरा रे।
 मैं तेरा तू मेरा रे साईं, मैं तेरा तू मेरा।

संत भावसिंह बाबा ने निर्गुणी पदों की रचना करके संत साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया है। संत लालदास का जन्म लगभग 250 वर्ष पहले खरगोन जिले के ग्राम सुरपाला में

हुआ था। ये कृष्ण के उपासक थे। इन्हें अपनी तपस्या के बल पर अपने अंतिम समय के विषय में पता चल गया। इसीलिए अपने सम्बन्धियों को अपने विचारों से अवगत कराते हुये आपने कहा कि मैं जीवित समाधि लेना चाहता हूँ। और समाधि का स्थान निश्चित करके उन्होंने समाधि ले ली। समाधि वाले स्थान पर इनके चरण चिह्न स्थापित है। संत लालदास ने भी अन्य संतों के समान अपने जीवन में चमत्कार दिखाकर जनमानस को आश्चर्यचकित किया है। संत लालदास विनम्र और सरल व्यक्तित्व के धनी थे। संत लालदास ने अनेक पदों की रचना की। उनके उपदेशात्मक पदों से लोक जीवन अत्यधिक प्रभावित हुआ। उनके उपदेशों को अपने जीवन में उतारकर जनमानस ने अपने जीवन को संवारा है। लालदास नर्मदांजल के महान् संत थे। नर्मदांचल के संत कवियों में संत बोंदरूजी का अपना एक विशिष्ट स्थान है। बाबूलाल सेन के अनुसार— ‘ग्रामझिरी (पं. निमाड़) के वयोवृद्ध गायक तथा आशु कवि दगडू दादा ‘भजनानंदी’ ने संत बोंदरूजी की जीवन लीला और भजन नाम की एक पुस्तक सन् 1975 में प्रकाशित की है, जिसमें बोंदरूजी के व्यक्तित्व व साहित्य पर प्रकाश डाला गया है। इसमें बताया है कि संत बोंदरू का जन्म हरदा जिले में सन् 1765 में हुआ था। इनके पिता का नाम गोपाल व माता का नाम राधाबाई था। इनके पिता गोपालभाई ने एक बार हरदा में पधारे संतों की तन-मन से सेवा-सुश्रुषा की। प्रसन्न होकर संतों ने गोपाल भाई को निर्गुण जाप का मंत्र देकर आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे यहाँ एक पुत्र उत्पन्न होगा, जो भगवान का परम भक्त होगा। इस आशीर्वाद के फलतः वि.सं. 1765 में मृगशिरा नक्षत्र में बोंदरूजी का जन्म हुआ। गोपाल भाई अपनी पत्नी से कहते थे कि यह संसार तो सपनों की माया जैसा है। इस माया के भुलावे में नहीं आना चाहिए, ईश्वर का भजन सदा करते रहना चाहिए।

निश्चय ही पिता की बातों का असर उन पर भी पड़ा, वे अपनी बाल्यावस्था से ही भगवान की भक्ति में लीन हो गये। पति की अकस्मात् मृत्यु के बाद राधाबाई अपने ग्यारह वर्षीय पुत्र को लेकर अपने भाई अमरसिंह के पास ग्राम नागझिरी (पं. निमाड़) आ गई। श्री बाबूलाल सेन के अनुसार—‘एक बार एक साधु दरवाजे पर आये और भोजन माँगा तो बोंदरूजी ने जितना भोजन

घर पर बना हुआ था। वह पूरा खाना साधु को खिला दिया, भोजन करने के बाद साधु आशीर्वाद देकर चले गये। थोड़ी देर में उनकी माँ लौटी और उन्होंने कहा- चलो बेटा खाना खा लो, तो बोंदरूजी ने कहा कि माँ मैंने सारा भोजन एक साधु को खिला दिया है, अब तुम दूसरा भोजन बनाओ। जब माँ ने चूल्हे के पास जाकर देखा तो उन्हें वहाँ बना हुआ भोजन मिला। माँ-बेटे समझ गये कि भगवान साधु रूप में आये थे। बोंदरूजी साधु को ढूँढने निकले, लेकिन भगवान नहीं मिले तो वे पछताने लगे। माँ ने कहा कि बेटा जो साधु रूप में आये, वे भगवान ही थे। वे अपने ही अन्दर हैं, उन्हें यहाँ-वहाँ क्यों ढूँढते हो। वि. सं. 1790 में उन्होंने अपने शिष्यों को उपदेश दिया और समाधिरूप हो गए, किन्तु उनके समाधिरूप होने पर भी कई चमत्कार पूर्ण घटनायें हुई हैं, जो आज भी जनमानस के मन पर अपना सीधा प्रभाव डालती हैं। वे भगवान के नाम स्मरण में विश्वास रखते थे। उनके कई भजन जनमानस की जिह्वा पर विद्यमान हैं। संत बोंदरूजी एक महान् संत थे। उनका संत साहित्य में अद्वितीय स्थान है। अठारहवीं शताब्दी में नार्मदीय समाज में संत आत्माराम बाबा का जन्म हुआ, जिनका यश सम्पूर्ण मध्यभारत में फैला है। इनका जन्म हरदा जिले के

गाँव अहलवाड़ा में कड़वाजी के यहाँ मार्ग शीर्ष पूर्णिमा वि.सं. 1783 में हुआ। आपके बड़े भ्राता आशाराम बाबा थे। इनकी आध्यात्मिक ज्ञान में रूचि देखकर इनके पिता ने इनका विवाह कर दिया, किन्तु पुत्र और पत्नी की मृत्यु के बाद ये वैरागी हो गये और कृपारामजी महाराज से दीक्षा लेकर उनके शिष्य बन गये। नर्मदा तट पर कठोर तप करके कई सिद्धियाँ प्राप्त की। बारह वर्षों तक बिल्व पत्रों पर रहे। वे नर्मदा पर चादर बिछाकर योग करते थे। आत्माराम बाबा ने कई भजनों की रचना की, जिन्हें ग्रामीण जन आज भी मेले के अवसर पर गाते हैं। चैत सुदी ग्यारस विक्रम संवत् 1884 ई. को दिन के बारह बजे समस्त भक्तों और शिष्यों के बीच भजन कीर्तन करते हुये समाधि हेतु आसन जमाया और अपने प्रिय शिष्य को आदेश दिया कि जिस समय समाधि के अंदर से ॐ शब्द की ध्वनि आये, उसी समय तुम अपने हाथ से समाधिस्थल का द्वार बंद कर चरण पादुका स्थापित कर देना। उनके बाद गुरुगादी पर खुश्यालदास बैठे। उनकी समाधि पर पौष सुदी पूर्णिमा को विराट पशु मेला लगता है। आत्माराम बाबा ने कई पदों की रचना करके संत साहित्य के भंडार में वृद्धि की।

परम्परा में निहित विश्वास

डॉ. मोनिका सिंह

जितनी प्राचीन पृथ्वी है, उतना ही पुराना लोक है। जहाँ-जहाँ तक पृथ्वी का विस्तार है, वहाँ लोक की सत्ता है। लोक शब्द अंग्रेजी के फोक शब्द का पर्यायवाची है। मनुष्य की उस सत्ता का नाम लोक है, जहाँ जाति-पाँति, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, शासक-शासित, सबल-निर्बल, ग्राम्य-नगर, देशी-विदेशी, गोरे-काले, स्त्री-पुरुष, शिक्षित-अशिक्षित, धर्म-सम्प्रदाय तथा क्षेत्रीयता आदि की समस्त सीमायें टूट जाती हैं। सारे बंधन खुल जाते हैं। लोककला में वह शक्ति है जो मन को मुक्त करती है। लोक जीवन को लय, सहजता और कोमलता प्रदान करती है। ये लोककलाएँ रेखाओं में उभरती हैं, कहीं सुरों में फूटती हैं, कहीं शब्दों में गूँजती हैं, कहीं अभिनय में और कहीं नृत्य की थिरकन में हमारा मन मोह लेती हैं। लोककला में क्षेत्रगत स्थानीयता एवं जातिगत विशेषतायें समाहित होती हैं। अलग-अलग स्थानों के मनुष्यों के रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज में भिन्नता होती है। किसी क्षेत्र की विशेष परम्परा, जीवन-चर्या और प्राकृतिक परिवेश ही लोककला के सर्जक होते हैं।

भारतवर्ष की अनुपम संस्कृति, कला और सभ्यता ने इसे विश्व की प्राचीनतम संस्कृति से सुशोभित किया है। हर प्रांत की सभ्यता, संस्कृति, कला, रहन-सहन इसे विभिन्नता का देश घोषित करते हैं। बोली जातिगत विविधता के बावजूद संस्कृति की धारा अनवरत् प्रवहमान है।

सूचना प्राद्यौगिकी के इस युग में आमजन अपनी सांस्कृतिक निकटता से राहत महसूस करते हैं। अपनी संस्कृति की जड़ों से अपनेपन का एहसास होता है। यही एहसास ही उन्हें नवीन सृजन शक्ति देता है और ऊर्जावान बनाता है। यद्यपि भारत देश के हर प्रांत

की संस्कृति समृद्ध है, तथापि छत्तीसगढ़ राज्य की संस्कृति अद्वितीय और विलक्षण है। वन्य और खनिज सम्पदाओं से सम्पन्न इस राज्य ने एक ओर औद्योगिक क्षेत्र में क्रांति का सूत्रपात किया है, तो दूसरी तरफ अपनी सांस्कृतिक जड़ों को भी मजबूती दी है। रायगढ़ से राजनांदगाँव और सरगुजा से बिलासपुर तक फैले इस भू-भाग में अनेक कलाओं की अभिव्यक्ति होती है। आदिवासी संस्कृति की विलक्षणता और सम्भ्रांत वर्ग की विशेषता इसे एक नये रूप में प्रस्तुत करती है।

बस्तर और सरगुजा संभाग आदिवासियों का गढ़ है। वहाँ की संस्कृति में वन्यदेवता की प्रधानता है। इसीलिए सम्पूर्ण सांस्कृतिक धुरी इनके इर्द-गिर्द घूमती है। फसल बोने से लेकर फसल काटने तक के कार्यों में वन्य देवों की आराधना होती है। आदिवासी संस्कृति की मासूम भावनाओं का प्रदर्शन उनकी लोककलाओं और मान्यताओं में दिखाई देता है।

ये मान्यताएँ लोककथाओं, लोकगीतों, लोकनृत्यों के द्वारा सामाजिक परिवेश में दिखाई देती हैं। इन मान्यताओं का उद्देश्य समाज को गतिशील बनाये रखने के साथ-साथ उन्हें नैतिक रूप से पोषित करना भी है। पीढ़ी दर पीढ़ी ये कलायें या मान्यतायें हस्तांतरित होती हैं और एक परम्परा का रूप धारण कर लेती हैं। इन परम्पराओं का मुख्य उद्देश्य समाज को समृद्ध, प्रतिष्ठित और उन्नति के शिखर पर ले जाना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कलाओं या कथाओं का उपयोग किया जाता है, जिसकी जड़ बचपन से ही रख दी जाती है। बाल सुलभ प्रवृत्ति इसे कहानी या गीत के रूप में सहर्ष स्वीकार करती है, वह भी बिना किसी तर्क-वितर्क के। इन कथाओं का उद्देश्य बच्चों के मन-मस्तिष्क में उच्च नैतिक मूल्यों की स्थापना करना होता है। इसीलिए इनके उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये कथाओं-गीतों का सहारा लिया जाता है, जिससे उद्देश्य प्राप्ति का आकर्षण बना रहे।

छत्तीसगढ़ की लोकसंस्कृति के तीन स्वरूप हैं- प्रकृति प्रेम, कठोर श्रम और सहजता। सम्पूर्ण लोक संस्कृति इन्हीं तीन स्वरूपों पर आश्रित है। वन्य और खनिज सम्पदा से परिपूर्ण छत्तीसगढ़ राज्य की संस्कृति, प्रकृति के संसर्ग में विकसित हुई है। सुरक्षित घने जंगल और पहाड़ों से आच्छादित होने के कारण यहाँ कि संस्कृति में विविधता है। ऊँचे पर्वतों एवं अरण्य होने के

कारण यह क्षेत्र आगंतुकों के लिये दुर्गम रहा है। इसी कारण यहाँ कि परम्परा तथा सांस्कृतिक विशेषाएँ भारत के अन्य क्षेत्रों की तुलना में भिन्न है।

प्राचीन भारतीय राजवंशों के प्रभाव से संस्कृति को विविध आयाम प्रदान किये हैं। फिर भी यहाँ की संस्कृति में मूल निवासी गोंड की प्रधानता रही है, जिनकी सहजता, सौम्यता, धार्मिक भावना और सहिष्णुता ने छत्तीसगढ़ की संस्कृति को प्रतिष्ठित किया है। छत्तीसगढ़ जनजातीय बाहुल्य प्रदेश है, जहाँ 40 जनजातियाँ एवं उनके उपसमूह निवास करते हैं। प्रत्येक जनजाति की अपनी भाषा, रहन-सहन, परम्पराएँ, मान्यताएँ एवं सांस्कृतिक विशेषतायें हैं।

छत्तीसगढ़ की लोक परम्पराएँ जितनी अद्वितीय है, उतनी अनुपम भी। लोक विश्वास और संस्कृति की मान्यता उसे परम्परा का रूप दे देती है और आमजन इसे सहज स्वीकार करते हैं। सभी मान्यताओं और परम्पराओं के पीछे कोई-न कोई वैज्ञानिक आधार या विश्वास होता है, परंतु हर परिस्थिति में उसके विश्वास एवं विज्ञान को सिद्ध कर पाना सम्भव नहीं होता है।

छत्तीसगढ़ी में व्याप्त शकुन-अपशकुन, टोना-टोटका आदि मान्यताओं जीवन के किसी न किसी पक्ष के मंगल-अमंगल तथा कार्यसिद्धि की भावना समाहित है। विश्वास की यह परम्परा आज भी किसी न किसी रूप में प्रचलित हैं।

धर्म हमारे जीवन का अभिन्न अंग है। हमारा सम्पूर्ण जीवन धार्मिक कृत्यों तथा विधि-विधानों से ओत-प्रोत रहता है। छत्तीसगढ़ में जितने पर्व और व्रत मनाये जाते हैं। उतने व्रत शायद ही किसी राज्य में मनाये जाते होंगे। इन व्रतों में विधि-विधान, पूजा-अर्चना का सहज और सात्विक रूप हमारे सामने आता है। 'धान का कटोरा' होने के कारण यहाँ अनेक व्रत- त्योहार प्रचलित हैं, जो विभिन्न प्रकार की धार्मिक भावनाओं, सामाजिक रीति-रिवाजों तथा कृषि से सम्बन्धित हैं। यहाँ प्रचलित कुछ त्योहारों का वर्णन किया गया है, जिसमें निहित धारणाएँ वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रदर्शन करती हैं।

हरेली

सावन के आरम्भ के साथ ही तीज-त्योहार की श्रृंखला

आरम्भ हो जाती है। यह पर्व सावन महीने की अमावस्या को पूरे छत्तीसगढ़ में मनाया जाता है। इस पर्व पर किसान अपने-अपने कृषि यंत्रों की पूजा कर फसल बोने की तैयारी करते हैं। बच्चों के लिए गेड़ी बनायी जाती है। गेड़ी बनाने के लिए बाँस एवं नारियल की रस्सी का उपयोग किया जाता है। पहले गाँव में सड़क का विकास नहीं होने से लोग एक दूसरे के घर जाने के लिए गेड़ी का उपयोग करते थे। गेड़ी के लिए बाँस जरूरी है, इसलिए प्रत्येक घर में बाँस लगाया जाता था। बाँस से निर्मित कागज, पत्तियों का उपयोग कृमिनाशक के रूप में किया जाता है।

वर्षा ऋतु कई बीमारियों का आमंत्रण लेकर आती है। हर घर में नीम के पत्ते लगाये जाते हैं। नीम स्वास्थ्यवर्द्धक होने के कारण विषाणुओं के प्रभाव को कम करती है। हरेली के दिन घर-घर में नीम के पत्ते लगाना एक परम्परा का रूप बन चुका है। बारिश से होने वाली बीमारियों से बचाना इसका मुख्य कारण है।

कमरछठ

भाद्र कृष्णपक्ष षष्ठी से हल-मूसलधारी बलराम जी के जन्म का सम्बन्ध है। इस अवसर पर छत्तीसगढ़ी महिलायें यह व्रत करती हैं। अपने संतान के स्वास्थ्य और दीर्घायु होने की कामना करती हैं। जल से भरे सागरी (तालाब) में शिव-पार्वती की पूजा-अर्चना की जाती है। इस दिन पसहर चावल का सेवन किया जाता है, जो पानी वाली जगह में बिना हल की जुताई के अपने आप होता है। स्थानीय परिवेश में यह विश्वास प्रचलित है कि हलधारी बलराम जी का जन्मदिन होने के कारण इस दिन बिना हल जुताई के चावल का उपयोग करना चाहिए और हलषष्ठी की पूजा की जानी चाहिए। इस पर्व में निहित विश्वास के साथ ही यह वैज्ञानिक धारणा प्रचलित है कि बिना हल जुताई वाला चावल सुपाच्य होता है तथा इसका सेवन वर्ष में एकबार अवश्य करना चाहिए।

बहुला चौथ

भाद्र कृष्णपक्ष की चतुर्थी के दिन त्योहर मनाया जाता है। इस दिन गायों की पूजा-अर्चना की जाती है। इस संदर्भ में कथा प्रचलित है कि बहुला नाम की गाय किसी जंगल में चरते-चरते बहुत दूर निकल गई। बाद में उसे याद आया कि आज पंडिताइन

का व्रत है और वह उसका इंतजार कर रही होगी। रास्ते में उसे शेर, चीता आदि जानवर रोकते हैं और वह कहती है कि मैं अपना कार्य कर वापस आऊँगी तो मुझे खा लेना और वह वापस आती है। किन्तु सभी उसे खाने से मना कर देते हैं। तब से यह त्योहार प्रचलित है। इस दिन गाय की पूजा-अर्चना की जाती है, इसलिये इस दिन भैंस के दूध-दही और घी का सेवन किया जाता है।

धार्मिक परम्परा में वैज्ञानिक सोच को समावेशित करने के लिये इसे व्रत का रूप दे दिया गया है। भारतीय संस्कृति ने गाय में चौरासी लाख देवताओं को समावेशित माना गया है तथा गाय के दूध, दही और घी को अमृत तुल्य माना गया है। परन्तु सम्भवतः उसे विश्राम देने के उद्देश्य से इस दिन उसका दोहन नहीं किया जाता, इसलिए यह परम्परा धार्मिक सामाजिक भावनाओं पर आधारित है।

नागपंचमी

नागपंचमी के दिन घर-घर में नाग का चित्रांकन कर उसकी पूजा की जाती है। हमारी परम्पराओं की यह अद्भुत विशेषता है कि इसमें प्रकृति, सजीव-निर्जीव सभी को प्रतिष्ठा प्रदान की है और हो भी क्यों ना, ये हमारे जीवन में उपयोगी जो हैं। नागपंचमी के दिन खेत-खलिहानों में नाग के लिए लाई और दूध का प्रसाद रखा जाता है। इस दिन खेतिहर किसान नाग-देवता से आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। हमारे राज्य के अधिकांश लोग खेत या जंगलों में निवास करते हैं। जहाँ उनका प्रायः नागों से सम्पर्क होता है। लोकमानस में नाग के दंशों और विष की भय भावना का निराकरण करना ही नागपूजा का मुख्य उद्देश्य है।

लोकोक्ति में निहित वैज्ञानिक तथ्य

कुछ परम्पराओं-मान्यताओं की पूर्ति हमारी कहावतों एवं मुहावरों से भी होती है, जिसे स्थानीय भाषा में 'हाना' कहा जाता है। समय और परिस्थिति पर आकर्षक ढंग से वार करते हुए उद्देश्य की पूर्ति कर देना ही लोकोक्तियों का मुख्य कार्य होता है। छत्तीसगढ़ की परम्पराओं का उद्देश्य केवल मनोरंजन और नैतिक शिक्षा तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इस परम्परा में वैज्ञानिक कारण भी छिपे हैं। इनके वैज्ञानिक तथ्यों की उपयोगिता के

कारण ही इन्हें लोक-परम्पराओं के रूप में स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ -

सावन साग न भादों दही,
क्वारं करेला कार्तिक मही।
अगहन जीरा माघे मिश्री,
फागुन चना पौसे घी।
चैते गुड़ बैसाखे तेल,
जेठे पंथ आषाढे बेल।

छत्तीसगढ़ के स्थानीय परिवेश में छिपे रहस्यों को जानने के लिये इन पंक्तियों का अर्थ समझना आवश्यक है। तभी इसके वैज्ञानिक रहस्य को जाना जा सकता है। हिन्दी मासों के नाम निम्नानुसार हैं- चैत्र, बैसाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, सावन, भाद्र, क्वारं, कार्तिक, अगहन, पूस, माघ और फागुन।

इन बारह मासों में ऋतुचक्र के अनुसार सावन-भाद्र-क्वारं वर्षा ऋतु का, अगहन-माघ-पूस शीत ऋतु का और चैत्र-बैसाख-ज्येष्ठ ग्रीष्म ऋतु का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस पंक्ति में मनुष्य के आहार-विहार के बारे में निर्देशित किया गया है कि सावन के मास में हरी सब्जियों (साग) का सेवन नहीं करना चाहिए। बरसात के दिनों में पृथ्वी पर तरह-तरह के पेड़-पौधे स्वयं उग आते हैं, जिनमें से कुछ विषैले होते हैं और कुछ विषैला प्रभाव दूसरे साग-सब्जियों पर डालते हैं। जिससे हरी साग-सब्जियाँ प्रदूषित हो जाती हैं। यदि इस प्रदूषित सब्जियों का प्रयोग किया तो शरीर अस्वस्थ हो जाएगा। यह मान्यता छत्तीसगढ़ संस्कृति की वैज्ञानिक सोच को परिलक्षित करती है। यद्यपि यह विश्वास के आधार पर प्रचारित तथ्य है, परंतु इसमें वैज्ञानिक तथ्य भी समाहित है।

इसी क्रम में भाद्र मास में दही का प्रयोग वर्जित किया गया। बरसात के दिनों में उग आई घास और दूसरे पेड़-पौधे का सेवन गाय, बकरी जैसे पालतू जानवर करते हैं। इनसे प्राप्त होने वाले दूध में उन विषैले तत्त्वों की मात्रा होती है। जब इनका प्रयोग आमजन करते हैं। तो ये विषैले तत्त्व हमारे शरीर में पहुँच जाते हैं। इसीलिए भाद्र मास में दही-दूध का उपयोग वर्जित किया गया है।

क्वारं मास अथवा सितम्बर, अक्टूबर का मध्य। यह मास दो ऋतुओं वर्षा और शीतऋतु का संधिकाल होता है। वर्षा ऋतु में मौसम में नमी और आर्द्रता की कमी रहती है। जबकि शीतऋतु में हवा में आर्द्रता बढ़ जाती है। करेले की प्रकृति गर्म होती है, साथ ही पित्तकारक होता है। इसलिए क्वारं मास में करेले का प्रयोग वर्जित होता है। कार्तिक मास में मही (मठा) का प्रयोग वर्जित है। मौसम के अनुकूल स्वस्थ रहने के लिए किन वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए। इससे सम्बन्धित तथ्य भी स्थानीय परिवेश में समाहित है।

सावन हरै, भादों चिता (चित्रक)।
क्वारं मास गुड़ खाओ मीता।।

अर्थात् सावन के महीने में हरी का सेवन करना चाहिये, क्योंकि यह बरसात के दिनों में होने वाली बीमारियों से हमारी रक्षा करता है। पेट जिससे सभी बीमारियाँ जनित होती हैं, उसे यह सुपाच्य बनाता है। क्वारं मास में गुड़ खाने से शरीर स्वस्थ रहता है। इसी तरह-

कार्तिक मूली अगहन तेल,
पूस में दूध से रखे बैर।
माघ मास घी खिचड़ी खाय,
चैत्र मास में नीम सेवती।
बैसाखहि खाय बासमती,
जेठ मास में दिन में सोय,
ताको ज्वर आषाढ़ में रोय।

भारत में कलाओं की सदियों पुरानी परम्परा है। अनेक रूपों में कला ने इस धरती पर अपनी छाप छोड़ी और निरंतरता में वह सदैव जन-जन को तृप्त करती रही है। कला की इस दीर्घ परम्परा में हमारा आज का समय भी शामिल है। युग परिवर्तन के साथ सांस्कृतिक परिवर्तन भी होता है और कला कई बार परिवर्तित स्वरूप में दिखाई देती है। परंतु मूल में वही चेतना प्रवहमान होती है, जो उसकी प्रकृति होती है। छत्तीसगढ़ की लोकसंस्कृति में यहाँ की सांस्कृतिक विरासत एवं सृजनशीलता का समावेश है, इसलिए हमारी सांस्कृतिक पहचान को बनाये रखने के लिए अपनी परम्पराओं को महत्त्व देना आवश्यक है। ये परम्पराएँ

निर्वाह मात्र का कारण नहीं है, वरन् इनके मनाये जाने में ठोस वैज्ञानिक कारण एवं विश्वास निहित है। जो जीवनोपयोगी होने के साथ-साथ ज्ञानदायक है। पुरातनता में ही आधुनिकता की खोज सम्भव है।

मानव जाति के इतिहास में नवीन प्रयोग एवं तथ्य पुरातन की नींव पर ही आधारित होती है। सैकड़ों वर्षों के अनुभव से बनी प्रथाओं में बहुत कुछ ऐसा होता है, जिसे हम ग्रहण कर

सकते हैं। जिसका उपयोग हम नवीन सृजन के लिए कर सकते हैं। परम्परा से प्रेरणा लेकर ही हम नूतन की रचना करते हैं। छत्तीसगढ़ क्षेत्र की इन लोक-परम्पराओं को वैज्ञानिक ढंग से सोचने और आत्मसात् करने की आवश्यकता है। ताकि हम अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़े रहें, आधुनिकता की बयार में हमारी संस्कृति का क्षरण न हो, वरन् नवीन प्रमाणों से उसका सम्वर्धन हो। ऐसा करने से लोक संस्कृति की प्रतिष्ठा से समाज में स्वास्थ्य विचार, शांति, सहिष्णुता तथा सहृदयता का विस्तार होगा।

संकीर्तन : गाती-नाचती प्रार्थनाएँ

विनय उपाध्याय

घर्षण, मिश्रण और प्रदूषण के इस दौर में दुर्भाग्य से जीवन को शांति और सम्बल देने वाली भक्ति की लोकतांत्रिक चेष्टा भी काफी हद तक प्रभावित हुई है। पवित्र आस्था और निर्मल आनंद का संचार करने वाला भक्ति संगीत जब फूहड़ सिने गीतों की पेरोडी का चोला पहनकर हमारा मानस प्रदूषित करने पर आमादा हो और जगरातों के नाम पर शोर भरी निरर्थक भक्ति की चकाचौंध भोली भीड़ को अपने व्यापार का जरिया बना रही हो, तब शायद ये जरूरी है कि हम उस विरासत को भी याद करें, जहाँ जीवन का विश्राम है। सच्ची अन्तर्लय खोजने की राहें हैं।

एक ऐसा ज्योति कलश, जो हमें भक्ति के शील, पावनता, वैभव और उसके विश्वास की अमृत धाराओं का आचमन कर दिव्य आनंद के लोक में पहुँचाने की ताकत रखता है। भारतीय लोक की मान्यता में 'संकीर्तन' एक ऐसी ही सहज विधि रही है, जिसमें द्रवित और अभिभूत करने की विलक्षण क्षमता है। 'संकीर्तन' किसी भी समय के साथ ठहर जाने वाली प्रवृत्ति नहीं है। यह अपने सूफियाना अंदाज में सरहदों के पार तक फैली हुई है। मणिपुर के संकीर्तन से लेकर पाकिस्तान के सिंध, उत्तर भारत के ब्रज क्षेत्र, सौराष्ट्र-गुजरात और मध्यभारत के लोक अंचलों तक भक्ति के इतने रूप, रंग, अभिव्यक्तियाँ और उक्तियाँ हैं, कि अचंभा होता है।

संकीर्तन आध्यात्मिक अनुभूति को कला के जरिए अभिव्यक्त करने का अवसर देता है। हालांकि प्रार्थना संगीत का यह रूप आज भी बाजार से अछूता है, यह पॉपुलर म्यूजिक की पकड़ में अभी नहीं आया, वरना इसके स्वरूप को बिगड़ते देर नहीं लगती।

लोक से शास्त्र तक संकीर्तन का एक विशाल वितान रहा है। वैदिक मंत्रोच्चार से लेकर बुल्लेशाह की कव्वालियाँ, कबीर की साखियाँ-दोहे, सूर-तुलसी और मीरा के पद..... और इन सबके साथ अज्ञात-अनाम पुरखों के मन के गोमुख से फूटती रही है भक्ति की गंगा। हम विराट को कितने ढंग से पुकारते-मनुहारते हैं, कितने ही रूपों में उसे अवतरित और चरितार्थ करने की कोशिश करते हैं। कितनी ही भाषाओं और बोलियों में उस रहस्य को नामांकित करते हैं, जो मानवीय अस्तित्व या उसकी चेतना पर आदिकाल से छाया है और जिससे आज तक छुटकारा नहीं मिल सका है और जो आज भी हमारी आत्मा में रचा-बसा है।

यकीनन प्रार्थना की अभिव्यक्ति का नाम है 'संकीर्तन'। संकीर्तन अहोभाव है विराट के प्रति धन्यवाद है। संकीर्तन एक गीत है, भाव भंगिमा है, तरंग है। नाचती-गाती प्रार्थना का उत्सव है। यह देह और आत्म की आनंदित लय-ताल का नाम है। भारत के संकीर्तन के कलारूपों पर गौर करें तो यह शब्द और ताल के मेल से खुद में खो जाने की आनंद-रस से छलछलाती विधि है। वह कला जो देह, मन और आत्मा की त्रयी को एक सूत्र में बांधती है।

गौर करें उस स्पंदन को, आवेग को जो आज भी विभिन्न रूप-छवियों के जरिए भारतीय लोक की आत्मा में महफूज है। भारत के पर्वतीय प्रदेशों में मणिपुर मणिरत्न की तरह कुदरती खूबसूरती से जितनी धन्यता का हकदार रहा है, कमोबेश उतना ही भाग्यशाली वह अपनी गौरवशाली संस्कृति के कारण है। मणिपुर के 'महारास' में हमें इस राज्य की समृद्ध लोक कला और संस्कृति के दर्शन होते हैं। यहाँ संकीर्तन के महाभाव को कई कलारूपों में देखा जा सकता है। यहाँ 'महारास' की मिसाल ली जा सकती है।

मणिपुर का 'महारास' वैष्णवी संस्कृति का सबसे उदात्त कलारूप है, जिसमें भक्ति और श्रृंगार की अभिव्यक्ति आध्यात्मिक आनंद के लोक में पहुँचा देती है। यह मणिपुरी नट संकीर्तन से प्रेरित रचना है जिसमें संगीत, नृत्य, गीत और ताल अपनी समग्रता में एक अनूठे सौन्दर्यशास्त्र की सृष्टि करते हैं। महारास अपने नाम के अनुरूप कृष्ण-राधा और उनकी सखियों के दिव्य रास भाव की नृत्याभिव्यक्ति है। चाँदनी से सराबोर शरद की रात देखते-देखते एक ललित कविता में बदल जाती है। कृष्ण और उनकी

रसिक प्रिया एक मिथक में बदल जाते हैं और समूची सृष्टि के सौन्दर्य का केन्द्र बन जाते हैं। मणिपुर के महारास का सबसे उजला पहलू अपने प्रदेश की पारम्परिक वेशभूषा और आभूषण हैं। नृत्य की गतियाँ और अंग संचालन मंथर और सुकोमल। यह सब कुछ एक पवित्र अनुष्ठान का रूप धारण कर लेता है। इस नृत्य की परम्परा, लोक और शास्त्र दोनों ही दृष्टियों से समान प्रतिष्ठा पा चुकी है।

मणिपुर के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक परिवेश में 'पुंग चोलम' संगीत और नृत्य का ऐसा मणिकांचन कला रूप है, जिसमें भक्ति की अंतर्लय मनुष्य को एक दिव्यता के लोक में पहुँचाती है। पुंग मणिपुर का पारम्परिक ताल वाद्य है और चोलम से आशय देह की विभिन्न मुद्राएँ हैं। यानि ताल की ध्वनि पर देह का स्पंदन। मणिपुर में पुंग चोलम का सम्बन्ध वहाँ के नट संकीर्तन संगीत और शास्त्रीय नृत्य से रहा है, जिसका प्रचलन 18वीं शताब्दी से पहले का माना जाता है। पहले यह संगीत-नृत्य मंदिरों तक सीमित था, लेकिन कालांतर में पारिवारिक सामाजिक कर्मकाण्डों और पर्व-उत्सवों के दौरान इसे भक्ति तथा आनंद के लिए एक जरूरी साधन के बतौर अपनाया जाने लगा है। ताल के विभिन्न आवर्तनों के साथ शरीर की अत्यंत कोमलकांत मुद्राएँ विस्मय जगाती हैं।

मणिपुरी 'संकीर्तन' भी इस राज्य का एक ऐसा ही वैभवशाली, उदात्त कला रूप है, जिसमें वैष्णवी संस्कृति अपने समूचे सौन्दर्यबोध के साथ उद्घाटित होती है। आध्यात्मिक पृष्ठभूमि से जोड़कर देखें तो इसके केन्द्र में कृष्ण का गुणगान संगीत, नृत्य, गीत और ताल की समग्रता में एक सम्मोहन रचता है। यह संकीर्तन एक सात्विक अनुष्ठान है। वेशभूषा से लेकर संगीत और देह गतियों और भाव-मुद्राओं तक पवित्रता का संचार होता है। कह सकते हैं कि देह की आनंदित लय-ताल का नाम है- मणिपुरी संकीर्तन।

पूर्वोत्तर की सरहद में बसे आसाम प्रदेश की गौरवशाली समृद्ध संस्कृति और परम्परा में अनेक ऐसे कला रूपों का समावेश है, जिन्हें वहाँ के पूर्वज मनीषियों ने लंबी साधना के बाद गढ़ा। इस दृष्टि से पन्द्रहवीं सदी स्वर्ण काल मानी जाती है। इस शताब्दी में श्रीमंत शंकरदेव एक ऐसे महापुरुष के रूप में उभरे, जिन्होंने

विशेषकर अंकिया नाट्य और कई नृत्य रचनाओं का संगीत तैयार किया। उन्हीं के समकालीन एक और कलावंत माधवदेव थे। इनका योगदान भी आसाम की अनेक लोकधर्मी सांस्कृतिक और कलात्मक चेतना को समुन्नत करने में रहा। उन्होंने अपने प्रदेश के जनसमुदाय में साहित्य तथा संगीत के माध्यम से आध्यात्मिक रूझान जगाने ऐतिहासिक भूमिका निभाई। 'भोरताल' माधवदेव की ही कल्पना और संज्ञान की कलात्मक परिणति है। इसे आसाम की सात्र संस्कृति का नया संस्करण भी कहा जा सकता है। इस नृत्य में बोरगीत का प्रयोग होता है। जबकि मृदंग के अलावा झांझ, रिदम को साधने का काम करती है। भोरताल एक ऐसा अलौकिक अनुष्ठान है, जिसमें कविता, संगीत और देह का दिव्य योग भक्ति की उदात्त भावभूमि तैयार करता है।

गोवा की भक्ति परम्परा में प्रार्थना की कविता और प्रार्थना के संगीत का सुयोग है। मध्यकालीन संत-कवियों के प्रेरक पदों को चुनकर उन्हें पारम्परिक संगीत शैलियों में जन समुदाय के बीच प्रस्तुत करने का चलन रहा है। महाराष्ट्र के संकीर्तन की स्पष्ट छाप गोवा की इस आध्यात्मिक विधि पर भी पड़ी है। संत कबीर के अभंग से लेकर पंत मोरो पंत, ज्ञानेश्वर, तुकाराम और तुलसीदास तक सोलहवीं सदी के महान कवियों की रचनाएँ समाज प्रबोधन के लिए इस संकीर्तन में प्रयोग की जाती हैं। एक अर्थ में यह आध्यात्मिक सत्संग का सद्मार्ग है। साधकों ने इस भक्ति रचनाओं को गाने के लिए 'आर्या' और 'ओवी' जैसी संगीत शैलियों को अपनाया है।

उड़ीसा की संकीर्तन परम्परा में 'घट पटुआ' अर्धनारीश्वर की उपासना की एक कलात्मक विधि है, जिसका आधार एक पौराणिक मिथक है जो भक्ति और सौन्दर्य का आध्यात्मिक भाव जगाता है। लोक मान्यता है कि ताड़कासुर का वध करने के लिए जब हजारों साल पहले उड़ीसा के लोगों ने देव प्रार्थना की तो शिव-शक्ति ने अर्धनारीश्वर के रूप में प्रकट होकर चैत्र माह की मीन संक्रांति के दिन इस आसुरी शक्ति से उन्हें मुक्त कर शांति की प्रतिष्ठा की। उड़ीसा के गाँवों में हर वर्ष चैत्र माह अर्धनारीश्वर की आराधना का होता है। यानि भगवती, जगमाता, आदिमाता के प्रति अपनी अनन्य आस्था की अभिव्यक्ति का लोकरूप है 'घट पटुआ'।

घट का अर्थ है- घड़ा और 'पटुआ' से आशय विशेष प्रकार के पारम्परिक श्रृंगार से है, जिसे एक पुरुष धारण करता है। इस अवतार के बाद उसे 'घट पटुआ' सम्बोधित कर देवी के रूप में पूजा जाता है। पखावज और घट की लयबद्ध ध्वनि के साथ 'घट पटुआ' की थिरकती देह वातावरण में अलौकिक अनुभूति जगाती है। यह तंत्र भीतिक नृत्य है, जिसमें भक्त का समर्पण उसे अनुभूति के उच्च शिखर पर ले जाता है।

इठलाती नदियों और नीली पहड़ियों के आसाम प्रदेश की कलाओं ने भारत के उत्तर-पूर्व की सांस्कृतिक धड़कनों को अपने दामन में सहेज रखा है। इन कलाओं के प्रणेता, पोषक वहाँ के अनेक पूर्वज मनीषी हैं, जिनकी स्मृति आज भी वहाँ के जन-जीवन में रची बसी है। 'गायन-बायन' आसाम के देवतुल्य श्री शंकर देव की अनुपम रचना है। हालांकि इसका सम्बन्ध वहाँ की रंगमंचीय परम्परा से है लेकिन इसके मूल में संकीर्तन ही है, जिस तरह संस्कृत नाटकों में पूर्वरंग की परम्परा है, आसाम के अंकिया नाट्य की शुरुआत गायन-बायन से होती है। इसमें देवचरित्रों की महिमा का बखान है। इसे धेमाली भी कहा जाता है। परम्परा के वाद्य और धीमी गति से शुरू हुए गीत समापन तक तेज रफ्तार पकड़ते हैं। एक अर्थ में गायन-बायन नाट्य देवता की प्रार्थना का संगीत है, जिसके माध्यम से आत्मप्रकाश जगाने का उपक्रम संभव होता है।

मरुभूमि राजस्थान के लोक जीवन में 'तेरहताली' संकीर्तन की एक अनूठी विधि है। आस्था और श्रद्धा की अनुभूतियाँ यहाँ गायन, वादन तथा देह नर्तन का रंजनकारी ताना-बाना लिए हैं। दुनियाभर में तेरहताली राजस्थान के धार्मिक नृत्य के रूप में लोकप्रिय है, जिसके मूल में बाबा रामदेव की पुकार, उनका गुणगान और उन्हें प्रसन्न करने का प्रयोजन है। बाबा रामदेव की महिमा के गीतों में राजस्थानी लोकजीवन की घटनाओं-प्रसंगों का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण होता है। अपने नाम के अनुरूप इस नृत्य में तेरह मंजीरों की झंकार है जो एक भक्तिन की देह के विभिन्न अंगों से उठती है। मुँह में तलवार और सिर पर कलश धारणकर जब ढोलक, तंबूरा और झांझ की लय-ताल पर नर्तकी थिरकती है तो भक्ति का रोमांच अनुभूति के नए शिखरों पर हमें ले जाता है।

अपने नाम के अनुरूप चैतन्य संकीर्तन कविता, संगीत

और नृत्य मिला-जुला प्रार्थना रूप है, जिसमें श्री चैतन्य महाप्रभु का लीलागान है। उत्तरप्रदेश की जनपदीय आस्थाओं से जुड़ा यह भक्ति संगीत आज सरहद पार के देशों में आध्यात्मिक क्रांति का मंत्र बन गया है। एक ऐसी विधा जिसमें शब्द और भावों की संजीवनी शक्ति स्वर और देह को साथ लेकर अद्भुत नाद सम्मोहन का संचार करती है। चारों युगों में चैतन्य प्रभु की भक्ति अलग-अलग रूपों में रही है। सतयुग में प्रभु को प्राप्त करने का मार्ग तपस्या था। त्रेता युग में प्रभु की प्राप्ति दान से होती थी। द्वापर युग में पूजा-अर्चना और कलयुग में पतित जीव को उद्धार करने के लिए प्रभु का नाम और उनकी महिमा का गान ही उनकी भक्ति का माध्यम बन गया।

उत्तरप्रदेश के ब्रजभूमि की पवित्र भक्ति धारा के साथ रसिकप्रिया राधा और लीलापुरुष कृष्ण का सुमिरन कलाजयी है। मृदंग, ढोलक, झांझ, मंजीरा, खँजरी के आरोह-अवरोह और उनके साथ भक्त गायकों की सुरीली संगत में श्रीराधे-कृष्ण का उद्घोष पूरे माहौल को रूप, रस, गंध की प्रेमपगी अनुभूतियों से सराबोर कर देता है।

बंगाल की साधना पद्धति में काव्य रचना तथा अन्य धार्मिक सामाजिक मान्यताओं से भिन्न एक ऐसी सम्प्रदाय-परम्परा है, जिसमें रूढ़ियों को कोई स्थान नहीं, फिर भी वह इस समाज का अभिन्न अंग है। बंगाल में इसे 'बाउल' के नाम से जाना जाता है। तमाम मान्यताओं से अलग मस्तमौला, जिसे किसी की परवाह नहीं। परवाह है भी तो बस अपनी धुन की, अपने द्वारा खोजे और स्वीकृत सत्य की- केवल उन्हें चिंता है। एक मन, एक तारा, एक गीत, एक राग एक ही मन का मानुष-मनेर मानुष। बाउल का सहज अर्थ बाँवरेपन से जोड़ा जा सकता है यानी वह उच्चतम आध्यात्मिक भाव जहाँ सच्चे भक्ति रस की उत्पत्ति होती है। विशुद्ध ईश्वर प्रेम और स्वाधीन चित्त जो तमाम बंधनों से ऊपर उठकर चरम आनंद की अनुभूति से जोड़ देता है।

बंगाल के एक संत कवि दुघुशाह ने कहा है- 'ये खोजे मानुषे, खोदा सेई तो बाउल' यानी, जो मनुष्य में ईश्वर को खोजता है, वही बाउल है।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर अपनी जमींदारी के दौरान वर्तमान बंगलादेश के सियालदह आवास-काल में लालन फकीर के बाउल

गानों के संपर्क में आए और उन्होंने इन गानों की भाव-भाषा से प्रभावित होकर स्वयं इस गीत-संगीत का संग्रह किया-प्रकाशन भी किया।

पश्चिमी सरहद से जुड़ा महाराष्ट्र भी अपनी लोक स्मृतियों और परम्परा की पूंजी से समृद्ध रहा है। भक्ति परम्परा की विधियों में लोक संवेदनाएँ वहाँ नृत्य-संगीत से जुड़े अनुष्ठानों को अपना आश्रय बना लेती हैं। 'गोंधल' में यही आनंद उद्घाटित होता है। गोंधल में कथा और नृत्य की जुगलबंदी है। केवल माँ भवानी की कथा ही गायी जाती है। इसे पेश करने वाले कलाकारों को गोंधली कहा जाता है। इसमें माता के जसगीत होते हैं। दरअसल यह धार्मिक विधि की तरह स्वीकार रहा है। संबल, मंजीरा और तुनतुना की स्वरलहरी के बीच कथा-प्रवाह बनाने वाला गोंधल भी एक आदर का पात्र बन जाता है।

हिन्दुस्तानी मौसिकी के मुखलिक रंगों में 'नात कव्वाली' की रौशनी भी गुजश्ता दौर से आज तक पूरी पाकीज़गी के साथ अवाम की रूहों में महफूज़ है। इबादत का एक ऐसा जरिया जिसमें प्यार का इजहार है तो प्रार्थना के पवित्र सुरों का दरिया भी उमड़ता है। हिन्दुस्तानी मजहब में नात कव्वाली के गायन का रिवाज़ उर्स मेलों और मज़ारों पर अल्लाह के नाम सुरीला पैगाम भेजने और बिरादरी को परवर दिगार की दुआओं के लिए रूहानी दस्तक देने का जरिया है। ये वो सूफी गायन है जो अकेले राहें तय नहीं करता, सुर में सुर मिलता, भक्ति रंग में सबको शामिल करता परवान चढ़ता है। नात कव्वाली बेहद रियाज़, समर्पण और ऊर्जा की दरकार रखती है। इसमें शास्त्र में बंधा राग-रागिनियों का संगीत है, सुगम संगीत की मधुरता है तो लोक संगीत की स्वच्छन्द उड़ानें भी हैं।

उड़ीसा का 'ताल मृदंगम' देह की यौगिक क्रियाओं और ताल के नाद का विस्मयकारी संगम है। सोलहवीं सदी के भक्ति आन्दोलन के दौरान उड़ीसा में सामाजिक समरसता, सांस्कृतिक सौहार्द और भावात्मक परस्परता जगाने के लिए संगीत-नृत्य का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। ये वे कलात्मक माध्यम थे, जिनके जरिए आत्मशुद्धि, समर्पण और सामाजिक सम्वाद आसान था। 'ताल मृदंगम' अपने पारम्परिक स्वरूप में भक्ति के आध्यात्मिक आनंद की हिलोर पैदा करने वाला लोक लुभावन नृत्य है। उड़ीसा में

कृष्ण के प्रति अपने अनन्य निवेदन हेतु इस नृत्य की परम्परा है। ताल मृदंगम नाद ब्रह्म की खोज है। उस ऊँकार में विलीन होने की इच्छा है, जिससे यह सृष्टि का आरंभ हुआ। यहाँ लोक और शास्त्र हमें आध्यात्मिक और दार्शनिक धरातल पर जुगलबंदी करते दिखाई देते हैं।

सदियों से लोक मानस अपने व्यक्तिगत और सामाजिक

जीवन के संशयों, प्रश्नों और चुनौतियों का समाधान संकीर्तन की इसी संचेतना में खोजता आया है। जीवन के अंधेरों से निकलती इसी प्रकाशमणि ने मनुष्य को सहारा दिया। दुर्भाग्य से हमारे आधुनिक जीवन की संवेदनाओं और पूर्वाग्रहों ने भक्ति की इस शक्ति और व्याप्ति को अपने स्तर पर नकारने की कोशिश भी की, लेकिन इस शाश्वत, सनातन भावधारा के आवेग को रोकना संभव नहीं।

